



हिंदी निर्गुण काव्य एवं रीतिकालीन काव्य

Edited By
Dr. Hardeep Kaur

Printed by
LAXMI PUBLICATIONS (P) LTD.
113, Golden House, Daryaganj,
New Delhi-110002
for
Lovely Professional University
Phagwara

पाठ्यक्रम
(SYLLABUS)

हिंदी निर्गण काव्य एवं रीतिकालीन काव्य

उद्देश्य

- छात्रों में काव्य के प्रति रुचि पैदा करना।
- छात्रों को प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य की प्रवृत्तियों से अवगत कराना।
- छात्रों को विभिन्न प्राचीन एवं मध्यकालीन कवियों की काव्य-शैली से परिचित कराना।

Sr. No.	Content
1	कबीर काव्य की साखी भाग की सप्रसंग व्याख्या, कबीर की भक्ति-भावना
2	कबीर की साखी की तात्विक समीक्षा, काव्यगत विशेषताएँ और भाषा-शैली
3	जायसी की लेखन कुशलता, पद्मावत का सारांश, सिंहलगढ़ वर्णन खंड की व्याख्या
4	जायसी के नागमति वियोग खंड और बादल युद्ध खंड की व्याख्या विश्लेषण
5	घनानंद की लेखन कुशलता और काव्यात्मक योगदान, घनानन्द कवित्त के प्रथम 50 पदों की व्याख्या भक्ति-भावना, भाव, भाषा और कला पक्ष

विषय-सूची

इकाई (Units)

(CONTENTS)

पृष्ठ संख्या (Page No.)

1. कबीरदास की काव्यगत विशेषताएँ <i>Vinod Kumar, Lovely Professional University</i>	1
2. कबीर की भक्ति-भावना <i>Hardeep Kaur, Lovely Professional University</i>	27
3. कबीर की भाषा-शैली <i>Reeta Singh, Lovely Professional University</i>	32
4. कबीरवाणी की तात्त्विक समीक्षा <i>Vinod Kumar, Lovely Professional University</i>	38
5. जायसी की लेखन कुशलता <i>Vinod Kumar, Lovely Professional University</i>	42
6. पद्मावत : कथासार अथवा सारांश <i>Reeta Singh, Lovely Professional University</i>	48
7. सिंहलद्वीप-वर्णन खण्ड : व्याख्या भाग <i>Hardeep Kaur, Lovely Professional University</i>	57
8. पद्मावत-नागमती वियोग खंड : व्याख्या भाग <i>Vinod Kumar, Lovely Professional University</i>	79
9. पद्मावत-गोरा-बादल युद्ध खंड : व्याख्या भाग <i>Reeta Singh, Lovely Professional University</i>	98
10. घनानंद की लेखन कुशलता <i>Hardeep Kaur, Lovely Professional University</i>	121
11. घनानंद कवित्त-व्याख्या भाग (प्रथम 50 पदों की व्याख्या) <i>Vinod Kumar, Lovely Professional University</i>	140
12. घनानंद की भक्ति-भावना <i>Reeta Singh, Lovely Professional University</i>	170
13. घनानंद कवित्त की भाषा-शैली <i>Hardeep Kaur, Lovely Professional University</i>	176

इकाई 1

नोट

कबीरदास की काव्यगत विशेषताएँ**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

1.1 कबीर की काव्यगत विशेषताएँ

1.1.1 वर्ण्य-विषय

1.1.2 रस-योजना

1.1.3 भावानुभूति

1.1.4 व्यंग्यपरकता

1.1.5 भाषा

1.1.6 छन्द-अलंकार

1.1.7 काव्य-रूप

1.2 कबीर वाणी: साखी

1.2.1 व्याख्या

1.3 सारांश (Summary)

1.4 शब्दकोश (Keywords)

1.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- कबीरदास की काव्यगत विशेषताओं को समझने में।
- कबीर की भाषा को समझने में।
- साखी में वर्णित कबीर के विचारों को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

कबीरदास का जन्म सन् 1398 में काशी में हुआ था। ऐसा माना जाता है कि कबीर को एक ब्राह्मणी ने जन्म दिया था। किन्तु लोकलाज से बचने के लिए लहरतारा नामक तालाब के किनारे रख दिया। नीरू और नीमा नामक मुस्लिम दम्पति ने उनका पालन-पोषण किया। उन्होंने रामानंद नाम के गुरु से निर्गुण भक्ति की दीक्षा प्राप्त की थी। उनका विश्वास था कि सच्चे प्रेम और ज्ञान से ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। कबीर की सभी रचनाएँ कबीर-ग्रंथावली में संकलित हैं। बीजक, रमैनी और सबद नाम से उनके तीन काव्य-संग्रह हैं। सिख धर्म के गुरुग्रंथसाहब में भी उनकी वाणी को स्थान मिला है।

1.1 कबीर की काव्यगत विशेषताएँ

‘मसि कागद छुओ नहिं, कलम गह्यो नहिं हाथ’ की स्वीकारोक्ति को कहने वाले कबीर ने न तो काव्यशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया था और न वह इसके समर्थक थे। उन्होंने तो भाव-विभोर होकर जो कुछ कह दिया, वही

‘काव्य’ बन गया। यही कारण है कि उनके काव्य में सायास विशेषताएँ नहीं हैं, किन्तु फिर भी काव्य-कला विषयक कुछ ऐसे तत्व अवश्य हैं जिन्होंने उसको ‘विशिष्ट’ की श्रेणी में ला बिठाया है। यहाँ कबीर की काव्यगत विशेषताओं का वर्णन किया जा रहा है।

1.1.1 वर्ण्य-विषय

कबीर संत थे, पर्यटक थे और उससे भी अधिक आत्मानुभवी थे। जीवन के विविध क्षेत्रों को उन्होंने आँख खोलकर देखा, भोगा और परखा था। यही कारण है कि उनके यहाँ सब-कुछ देखा-परखा और भोगा हुआ है। ‘तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता हूँ आँखिन देखी’ का दावा करने वाले कबीर के काव्य की समस्त वर्ण्य सामग्री इसी बात की साक्षी है। कबीर-काव्य के वर्ण्य-विषय को तीन वर्गों में रख सकते हैं—(अ) सामाजिक-धार्मिक स्थितियों और उनके विविध पक्षों का चित्रण जिसमें साम्प्रदायिकता, लोकाचार, वर्ण भेद, कुरीतियाँ, बाह्याचार आदि विरोधी उक्तियाँ आ जाती हैं; (ब) रहस्यपरक अनुभूतियाँ जिसमें ब्रह्म, माया, भक्ति, दर्शन, जीव आदि से सम्बन्धित काव्यांश आते हैं; तथा (स) फुटकर उपदेशपरक यथा गुरु-महिमा, आचरण, आत्मनिग्रह, पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, जीवन की क्षणभंगुरता तथा चेतावनी आदि। इन सबकी सबसे बड़ी विशेषता है—सहज-स्वाभाविक सत्यता। परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर साहित्य की परख की। प्रस्तावना में ठीक ही कहा है, ‘कबीर-साहित्य उन रंगबिरंगे पुष्पों में नहीं जो सजे-सजाये उद्यानों की क्यारियों में किसी क्रमविशेष के अनुसार उगाए जाते हैं और जिनकी छटा तथा सौन्दर्य का अधिकांश मालियों के कला-नैपुण्य पर भी आश्रित रहा करता है। यह तो एक वन्य कुसुम है जो अपने स्थल पर अपने आप उगा है और जिसका विकास केवल प्राकृतिक नियमों पर ही निर्भर रहा।’

1.1.2 रस-योजना

काव्य की आत्मा रस है। कबीर का सर्वाधिक प्रिय रस है—शांत (निर्वेद)। भक्तिपरक सभी पद और साखियाँ मूलतः इसी से युक्त हैं। इसके लिए कवि ने विविध युक्तियों को अपनाया है तथा जीवन की क्षणभंगुरता का सच्चा चित्रण, कुरूप यथार्थ के प्रति मानव-मन को सजग करना तथा अकारण भय को उद्भूत करना। उदाहरणस्वरूप निम्न काव्यांश देखिये—

- (i) झूठे सुख को सुख कहैं, मानत हैं मन-मोद ।
खलक चबैना काल का, कुछ मुंह में कुछ गोद ॥
- (ii) नर नारी सब नरक हैं, जब लग देह सकाम ।
कहै कबीर ते राम के, जे सुमिरै निहिकाम ॥
- (iii) माली आवत देखि कै, कलियाँ करैं पुकार ।
फूलि फूलि चुन लई, काल्हि हमारी बार ॥

शांत के अतिरिक्त कबीर-काव्य के प्रमुख रस हैं—शृंगार और अद्भुत। शृंगार के अन्तर्गत दाम्पत्य रूपकों के माध्यम से कबीर ने आत्मा-परमात्मा का रसमय चित्रण किया है। इसमें भी संयोग-वियोग और इनकी विविध स्थितियों को ग्रहण किया गया है। संयोग के दर्शन ‘निहकर्म पतिव्रता को अंग’, ‘पीव पीहाणन को अंग’ और ‘हेत प्रीती सनेह को अंग’ में तथा वियोग के दर्शन ‘विरह को अंग’ तथा ‘सती को अंग’ में किये जा सकते हैं। उलटबाँसियाँ (विपर्यय) अद्भुत रस की साक्षी हैं। विविध स्थानों पर आई व्यंग्योक्तियों में हास्य रस भी पूर्ण भाव-सबलता के साथ छलकता मिलता है। निम्न उदाहरण भी हमारे इसी मत की पुष्टि करते हैं—

शृंगार रसः

- (i) संयोग— दुलहनिं गावहु मंगलाचार ।
हम घरि आये हो राजा राम भरतार ॥

नोट

तन रत करि मैं मन रति करि पंचतत्त बराती ।
रामदेव मोरे पाहुन आये, मैं जोबन मदमाती ॥

(ii) वियोग— यह तन जालों मसि करूँ लिखौँ राम का नाउं ।
लेखणि करूँ करंक, लिखि लिखि राम पठाउं ॥

अद्भुत रस—

एक अचंभा देखा रे भाई,
ठाड़ा सिंह चरावै गाई
पहले पूत पीछे भई माई,
चेला के गुरु लागै पाइ ॥
जल की मछली तरवर व्याई,
पकड़ि बिलाई मुर्गा खाई ॥
बैलहि डारि गूनि घर आई
कूत्ता कूँ लै गई बिलाई ॥

हास्य रस—

वेद पुरान पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसे भारा ।
राम नाम तत समझत नाहीं, अंति पड़े सुख छारा ॥

कहीं-कहीं, विशेषतः उपदेश और सिद्धान्त प्रतिपादन वाले स्थलों पर कबीर का काव्य नीरस भी हो गया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'कबीर' के उपसंहार में लिखा है—“कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलकते हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है। फलतः काव्यत्व-रसत्व उनके पदों में फोकट का माल है, बाई प्रोडक्ट है, वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते-बनाते अपने आप बन गया है।”

1.1.3 भावानुभूति

कबीर का समस्त काव्य सहज-स्वाभाविक है। उन्होंने जिस चीज को जैसा अनुभव किया, उसको वैसे ही अभिव्यक्त कर दिया है। यहाँ तक कि डॉ. सतनाम सिंह शर्मा (कबीर एक विवेचन) के शब्दानुसार, “गहन सत्यों को, जिस रूप में भी सम्भव हुआ, उन्होंने प्रकट कर दिया। अभिव्यक्ति के लिये उन्हें न तो अलंकार शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता हुई और न किसी काव्य-रीति के पालन की। जो सहज में बन सका, उसी को उन्होंने अपनाया।” उनकी यह सहज-स्वाभाविकता सबसे अधिक उनके “भक्ति-पदों” में मुखर हुई है। अनुभूति की यह सघटा इनके पदों को पूर्णतया काव्यत्व से ओत-प्रोत कर देती है। निम्न उदाहरण हमारे इसी मत की पुष्टि करता है—

राम भगति अनियाले तीर ।

जेहि लागै सौ जानै पीर ।

तथा

हम घरि आये हो राजा राम भरतार ।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—

1. 'तू कहता है लेखि, मैं कहता हूँ आँखिन देखी।' की पंक्तियाँ हैं।
2. कबीर का सर्वाधिक प्रिय रस है।
3. 'कबीर वाणी के डिक्टेटर थे'—कथन का है।

1.1.4 व्यंग्यपरकता

शास्त्रीय दृष्टि से, “व्यंग्य वह है जहाँ कहने वाला अधरोष्ठों में हँस रहा हो और सुनने वाला तिलमिला उठा हो और फिर भी कहने वाले को जवाब देना अपने को और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो।” कबीर ऐसे व्यंग्यकार हैं। धर्म और समाज तथा इन दोनों के नेता ठेकेदार ही अधिकांशतः कबीर की व्यंग्योक्तियों के शिकार बने हैं। इस प्रकार जाति-पाँति, पूजा-पाठ, तीर्थाटन, जप-तप, मन्दिर-मस्जिद, पण्डित-शेख और मुल्ला तथा शाक्त आदि नाना विषयों को कबीर ने व्यंग्यपूर्ण, प्रायः कटु व्यंग्यपूर्ण, बना दिया है। उनके वैयक्तिक जीवन के कष्टों, अद्भुत फक्कड़ व्यक्तित्व और समकालीन धार्मिक सामाजिक परिस्थितियों आदि ने भी इस व्यंग्य-भाव को सान पर चढ़ाया है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी (कबीर) ने ठीक ही कहा है—“सच पूछा जाये तो आज तक हिन्दी में ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य-लेखक पैदा ही नहीं हुआ। उनकी साफ चोट करने वाली भाषा, बिना कहे भी सब कुछ कह देने वाली शैली और अत्यन्त सादी किन्तु अत्यन्त तेज प्रकाशन-भंगी अनन्य-साधारण है, ...पढ़ते साफ मालूम होता है कि कहने वाला अपनी ओर से एकदम निश्चिन्त है। अगर वह अपनी ओर से इतना निश्चिन्त न होता तो इस तरह का करारा व्यंग्य नहीं कर सकता।” कुछ उदाहरणों से यह बात और भी अधिक पुष्ट हो जाती है—

- (i) **मूँड मूँडाये हरि मिलैं तो सब कोई मूँडाय ।**
बार-बार के मूँडते, भेड़ न बैकुंठ जाय ॥
- (ii) **साधु भया तो क्या भया, माला फेरि चारि ।**
बाहरी ढोला हींगला, भीतरि भरी अंगारि ॥
- (iii) **सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाई ।**
जाकी दिल साबत नहीं, ताको कहा खुदाई ॥



टास्क

कबीर की व्यंग्यपरकता पर अपना मत प्रकट कीजिए।

1.1.5 भाषा

कबीर-काव्य की भाषा पर विद्वानों के विविध और परस्पर विरोधी मत हैं। स्वयं कवि ने उसको ‘पूर्वी’ कहा है जिसमें बनारस, मिर्जापुर और गोरखपुर आदि में प्रचलित शब्दावली प्रधान है। इनके अतिरिक्त उसमें ब्रज, अवधी, बुन्देलखण्डी, पंजाबी, राजस्थानी, अपभ्रंश, यहाँ तक कि अरबी-फारसी के शब्द भी बहुतायत से हैं। व्याकरण-दोष तो उसमें भरपूर मात्रा में हैं। इसी से, इनकी भाषा को ‘सधुक्कड़ी’, ‘पंचमेल खिचड़ी’, ‘मिश्रित’, और ‘गँवारू’ तक कहा गया है। ध्यान से देखें तो यह भाषा ‘लोकभाषा’ है। तत्कालीन लोकभाषाएँ परस्पर संगुफित थीं। दूसरे कबीर का विस्तृत पर्यटन, विस्तृत दृष्टिकोण एवं शास्त्रीय नियमों की अवहेलना तथा कबीर शिष्यों का विविधभाषी होना आदि कई कारणों ने भी इसको “विचित्र” बना दिया है। श्री यज्ञदत्त शर्मा (कबीर साहित्य और सिद्धांत) के शब्दों में—“कबीर जैसे स्वतंत्र प्रकृति के कवि के लिए प्रधानता भावना की थी।” इस दृष्टि से डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी (‘कबीर’) के अनुसार, “भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा कहलवा दिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कबीर के सामने कुछ लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को ना कर सके और अकथनीय कहानी का रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा में है, वैसी बहुत कम लेखकों में पायी जाती है।”

कबीर की यह भाषा अनगढ़, अपरिष्कृत और सादी है। सरलता इसका विशिष्ट गुण है। भावाभिव्यक्ति में यह पूर्णतया सक्षम है। वह जीवन्त और झकझोर देने वाली होने के साथ पूर्णतया भावानुकूल भी है। डॉ. पारसनाथ तिवारी

(‘कबीर-वाणी’) का यह कथन अक्षरशः सत्य है—“कबीर की भाषा को देखकर उस ग्रामीण नायिका (उसे वचनविदग्धा, रूपगर्विता, प्रगल्भा, क्या-क्या कहा जाए?) का स्मरण हो जाता है जो निहायत सादगी और आत्मविश्वास के साथ कहती है...“गांव में पैदा हुई, गाँव में ही रहती हूँ। जानती भी नहीं कि नगर कहाँ होता है। इतना अवश्य है कि नागरिकाओं के पति आकर यहां की خاک छान जाया करते हैं। वैसे कहने को जो भी हूँ, सो हूँ।”

नोट



नोट्स

कबीर की भाषा के शब्द ही नहीं, शब्द-शक्ति भी शक्तिशाली है। इनमें भी व्यंजना पक्ष तो अत्यधिक सबल और उत्कृष्ट है।

डॉ. पारसनाथ तिवारी ने ठीक ही कहा है, “तीनों शब्द-शक्तियों का एक ऐसा संश्लिष्ट रूप मिलता है जिसमें नीचे की स्थिति अविभाज्य-सी रहती है। भावाभिव्यक्ति की प्रौढ़ता की यह सबसे बड़ी परख है और कबीर का काव्य इस कसौटी पर कसने से बारह आना सोना सिद्ध होता है।” सारांश में डॉ. रामरतन भटनागर के शब्दों में कह सकते हैं, “इसी बहते नीर लोकभाषा को कबीर ने अपना आदर्श माना है। इसी से इसमें पिंगल की शुद्धता नहीं, संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग नहीं, विदेशी शब्दों को तद्भव रूप में ही स्वीकार किया गया है। यहाँ तक कि भाषा के सर्वनामों और क्रियापदों की शुद्धता की ओर भी आग्रह नहीं है। ये बातें तो गौण हैं, प्रधान बात है कि भाषा उस ऊँचे धरातल पर उठ सके जिस पर कवि को अपना संदेश देना है। कबीर की भाषा की विशेषता है—उसकी समास-शक्ति और समाहार-शक्ति। वह बलवान् की भाषा है। कबीर की फक्कड़ भाषा, ऊबड़-खाबड़ और गँवारू भाषा उनकी अपनी चीज है। इसका अनसँवारापन ही इसका सहज आकर्षण है।”

1.1.6 छन्द-अलंकार

कबीर ने प्रायः सधुक्कड़ी छन्दों का प्रयोग किया है जिनमें प्रमुख हैं—सबद, साखी, दोहा, रमैनी। साथ ही पदों में कहरवा, हिंडोला, बसन्त, चौतीसी, विप्रमतीसी, बेलि और चाँचर आदि छन्द भी यहाँ उपलब्ध हैं। विशेषता यह है कि सभी छन्द-स्वच्छन्द और पिंगलशास्त्र के नियमों से स्वतन्त्र हैं। मात्राओं के बंधन को कवि ने सही स्वीकारा किन्तु लय और संगीत का ध्यान रखा है। श्री यज्ञदत्त शर्मा ने ठीक ही कहा है, “छन्द की बंदिशें उनके भावों के प्रसार और विचारों के प्रकाशन में प्रतिबन्ध बन जायें, यह वह सहन नहीं कर सकते थे।”



क्या आप जानते हैं

कबीर के प्रिय अलंकार हैं—रूपक, उपमा और प्रतीप, जिनमें से अधिकांश मौलिक हैं। स्थान-स्थान पर उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति, विभावना, लोकोक्ति, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त और काव्यलिंग आदि अलंकार भी मिलते हैं।

1.1.7 काव्य-रूप

कबीर का समस्त काव्य मुक्तक-रूप में है। प्रधान है—दोहा, साखी, पद अथवा गीत तथा रमैनी-चौपाई। कबीर अपने दोहों को “साखी” और पदों को “सबद” कहते हैं। रमैनी के कई भेद इनके यहाँ पर हैं—सतपदी अष्टपदी, द्विपदी और बारहपदी आदि। प्रतीक, उलटबाँसी, अन्योक्ति और समासोक्ति आदि न जाने कितनी अन्य शैलियाँ भी इन्होंने सफलतापूर्वक प्रयुक्त की हैं। एक मुसलमान विद्वान् श्री एम.ए. गनी तो कबीर की “हमन हैं इश्क मस्ताना हमन को होशियारी क्या” के आधार पर उनको गजलकार और इस रचना को उर्दू की पहली गजल मानते हैं (हिस्ट्री आफ़ द परशियन लैंग्वेज एट मुगल कोर्ट)।

निष्कर्ष

इस प्रकार, हम निश्चित हैं कि अशिक्षित होते हुए भी कबीर कवि थे, बेशक उनका काव्यत्व “बाई प्रोडक्ट” हो अथवा “अपने आप बन गया हो”। उनकी काव्य-कला के दोनों पक्ष पूर्णतया सबल हैं। श्री यज्ञदत्त शर्मा के शब्दों में, “.....एक ताजगी है, बासीपन नहीं, यह इसकी महान् विशेषता है। उसमें जो कुछ भी कहा गया है उसमें नयापन है, पुरानी बातों का रगड़ना उसने नहीं सीखा।” सारांश में कह सकते हैं कि इस महाकवि ने अपनी काव्य-कला को महान् बनाया तो इसकी महान् काव्य-कला ने इसको ही महाकवि बना दिया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न—

4. निम्न में कबीर की भाषा को क्या नहीं कहा जाता?

(अ) पंचमेल खिचड़ी	(ब) सधुक्कड़ी	(स) गँवारू	(द) अलंकारनिष्ठ
-------------------	---------------	------------	-----------------
5. कबीर के दोहों को ‘साखी,’ कहा जाता है, जबकि पदों को जाता है।

(अ) रस	(ब) सबद	(स) छन्द	(द) इनमें से कोई नहीं
--------	---------	----------	-----------------------
6. किस मुसलमान विद्वान ने कबीर की रचना—‘हम हैं इश्क मस्ताना हमन को होशियारी क्या’ को उर्दू की पहली गजल माना है?

(अ) फैज़ अहमद	(ब) मियां मकसूद
(स) एम.ए. गनी	(द) उपरोक्त में से कोई नहीं

1.2 कबीर वाणी: साखी

राम नाम कै पटंरै, देबे कौं कछु नाहिं ।
 क्या लै गुर संतोखिए, हौंस रही मन माहिं ॥1॥
 सतगुर सवां न कोइ सगा, सोधी सई न दाति ।
 हरि जी सवां न कोइ हितू, हरिजन सई न जाति ॥2॥
 चौंसठि दीवा जोई करि, चौदह चंदा माहि ।
 तिहिं धरि किसकौ चांदिनीं, जिहिं धरि सतगुर नाहि ॥3॥
 सतगुर की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार ।
 लोचन अनंत उधारिया, अनंत दिखावनहार ॥4॥
 सतगुर कै सदकै किया, दिल अपनीं का सांच ।
 कलिजुग हमसौं लड़ि पड़ा, मुहकम मेरा बांच ॥5॥
 सतगुर हमसौं रीझि करि, कहा एक परसंग ।
 बरसा बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग ॥6॥
 चकई बिछुरी रैनि की, आई मिलै परभाति ।
 जे नर बिछुरे राम सौं, ते दिन मिले न राति ॥7॥
 बिरहा बिरहा मति कहौ, बिरहा है सुलतान ।
 जिहिं घट बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान ॥8॥
 सब रग ताति रबाब तन, बिरह बजावै नित्त ।
 और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त ॥9॥

नोट

परबति परबति मैं फिरा, नैन गंवाया रोई
 सो बूटी पाऊं नहीं, जातैं जीवन होई ॥10॥
 अंखड़ियां झांई परी, पंथ निहारि निहारि ।
 जीभड़ियां छाला परा, राम पुकारि पुकारि ॥11॥
 नैनां नीझर लाइया, रहट बहैं निस घाम ।
 पपिहा ज्यौं पिउ पिउ करौं, कब रे मिलहुगे राम ॥12॥
 सोई आंसू साजना, सोई लोग बिड़ाहं ।
 जौ लोइन लोही चुवै, तो जानौं हेतु हियाहं ॥13॥
 कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि ।
 एक दिन सोवन होइगा, लांबे गोड़ पसारि ॥14॥
 तूं तूं करता तूं भया, मुझमैं रही न हूं ।
 वारी तेरे नाउं परि, जित देखौं तित तूं ॥15॥
 कबीर चंदन कै बिड़ै, बेधे ढाक पलास ।
 आपु सरीखे करि लिए, जे होते उन पास ॥16॥
 मेरे संगी दोइ जनां, एक बैस्नौं एक राम ।
 वो है दाता मुकुति का, वो सुमिरावै नाम ॥17॥
 राम बियोगी बिकल तन, इन्ह दुखवौ मति कोइ ।
 छूवत ही मरि जाइंगे, तालाबेली होइ ॥18॥
 भगत हजारी कापड़ा तामैं मल न समाइ ।
 साकत काली कामरी, भावै तहां बिछाइ ॥19॥
 अैसा कोई ना मिलै, जासौं रहिए लागि ।
 सब जग जग जरता देखिया, अपनीं अपनीं आगि ॥20॥
 सारा सूरु बहु मिलैं, घायल मिलै न कोइ ।
 घाइल कौं घायल मिलै, तौ राम भगति दिढ़ होई ॥21॥
 हम घर जाला आपना, लिए मुराड़ा हाथि ।
 अब घर जालौं तास का, जो चलै हमारै साथि ॥22॥
 मेरा मुझमैं कछु नहीं, जो कछु है सो तेरा ।
 तेरा तुझकौं सौंपता, क्या लागै मेरा ॥23॥
 जद का माई जनमिया, कदे न पाया सुख ।
 डारी डारी मैं फिरौं पातैं पातैं दुख ॥24॥
 कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग दूढ़े बन मांहिं ।
 ऐसे घटि घटि राम हैं, दुनिया देखै नांहिं ॥25॥
 ज्यौं नैननि मैं पूतरी, त्यौं खालिक घट मांहि ।
 मूरिख लोग न जानहीं, बाहरि दूढ़न जांहिं ॥26॥
 जाकै मुंह माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप ।
 पुहुप बास तैं पातरा, ऐसा तत्त अनूप ॥27॥
 भारी कहुं तौ बहु डरूं, हरुवा कहुं तौ झूठ ।
 मैं क्या जानूं राम कौं, नैनां कबहुं न दीठ ॥28॥
 दीठा है तौ कस कहुं, कहें न कोई पतिआई ।

हरि जैसा तैसा रहै, तूं हरखि हरखि गुन गाइ ॥29॥
 नां कछु किया न करहिंगे, ना करनैं जोग सरीर ।
 जो कछु किया सु हरि किया, भया कबीर कबीर ॥30॥
 हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ ।
 बूंद समानीं समुंद मैं, सो कत हेरी जाइ ॥31॥
 सांई मैं तुझ बाबिरा, कौड़ी हू न लहाउं ।
 जौं सिर ऊपरि तुम धनीं, तौ लाखीं मोल कराउं ॥32॥
 कबीर जांचन जाइ था, आगैं मिला अजंच ।
 लै चाला घर आपनैं, भारी पाया संच ॥33॥
 सुरति समानीं निरति मैं, अजपा माहैं जाप ।
 लेख समाना अलेख मैं, यौं आपा माहैं आप ॥34॥
 सूर समानां चांद मैं, दुहूं किया घर एक ।
 मन का चेता तब भया, कछु पूरबला लेख ॥35॥
 तन भीतर मानिया, बाहरि कतहुं न जाइ ।
 ज्वाला तैं फिरि जल भयातैं, बुझी बलंती लाइ ॥36॥
 कबीर सबद सरीर मैं, बिनु गुन बाजै तांति ।
 बाहरि भीतरि रमि रहा, तातैं छूटि भरांति ॥37॥
 गंग जमुन के अंतरै, सहज सुनि लौं घाट ।
 तहां कबीरा मठ रचा, मुनिजन जोवैं बाट ॥38॥
 कबीर सीप समंद की, रटै पियास पियास ।
 समंदहिं तिनका बरि गिनैं, एक स्वाति बूंद की आस ॥39॥
 दोजग तौ हम अंगिया, यह डर नाहीं मुज्झ ।
 भिस्त न मेरै चाहिए, बाझ पियारै तुज्झ ॥40॥
 सबै रसाइन मैं किया, हरि रस सम नहिं कोइ ।
 रंचक घट मैं संचरै, तौ सब तन कंचन होइ ॥41॥
 सतगंठी कोपीन दै, साधु न मानैं संक ।
 राम अमलि माता रहै, गिनैं इंद्र कौं रंक ॥42॥
 हरि रस पीया जानिए, जे उतरै नाहिं खुमारि ।
 मैमंता घूमत फिरै, नांही तन की सारि ॥43॥
 अब तौ जैसी होइ परी, मन का भावतु कीन ।
 मरनैं तै क्या डरपनां, जब हाथि सिंधौरा लीन ॥44॥
 कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाहि ।
 सीस उतारै हाथ सौं, तब पैसे धर माहैं ॥45॥
 प्रेम न बारी ऊपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ ।
 राजा परजा जिहिं रुचै, सीस देइ लै जाइ ॥46॥
 जेते तारे रैनि कै, तेते बैरी मुज्झ ।
 धड़ सूली सिर कांगुरै, तऊ न बिसरौं तुज्झ ॥47॥
 काल सिरहानैं है खड़ा जागि पियारे भित्त ।
 राम सनेही बाहिरा, तूं क्यों सोवै निचिंत ॥48॥

नोट

कबीर नौबति आपनीं, दिन दस लेहु बजाइ ।
 यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखहु आइ ॥49॥
 कबीर धूरि सकेलि कै, पुड़िया बंधी एह ।
 दिवस चारि का पेखनां, अंति खेत की खेह ॥50॥
 मानुख जनम दुलंभ है, होइ न बारंबार ।
 पाका फल जो गिरि परा, बहुरि न लागै डार ॥51॥
 जिंहिं जेवरी जग बंधिया, तूं जनि बंधै कबीर ।
 जैहहि जाटा लौंन ज्यौं, सोनां सवां सरीर ॥52॥
 कबीर सभ जग हंढिया, मादलु कंध चढ़ाइ ।
 कोई काहु का नहीं, सब देखी ठोंकि बजाइ ॥53॥
 कबीर गरब न कीजिअै, काल गहे कर केस ।
 ना जानौं कहं मारिहै, कै घरिं कै परदेस ॥54॥
 राखनहारै बाहिरा, चिड़िअैं खाया खेत ।
 आधा परधा ऊबरै, चेति सकै तौ चेति ॥55॥
 कबीर मंदिर लाख का, जड़िया होरै लालि ।
 दिवस चारि का पेखनां, बिनसि जाइगा काल्हि ॥56॥
 कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गये सब तार ।
 जंत्र बिचारा क्या करै, चले बजावनहार ॥57॥
 बारी बारी आपनीं, चले पियारे मीत ।
 तेरी बारी जीयरा, नेरी आवै नीत ॥58॥
 पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जाति ।
 देखत ही छिपि जाइंगे, ज्यौं तारे परिभाति ॥59॥
 रोवनहारे भी मुए, मुए जलावनहार ।
 हा हा करते ते मुए, कासौ करौं पुकार ॥60॥
 जिनि हम जाए ते मुए, हम भी चालनहार ।
 हमरै पाछें पूंगरा, तिन भी बांधा भार ॥61॥
 कबीर यह जग कछु नहीं, खिन खारा खिन मीठ ।
 काल्हि अलहजा मैड़ियां, आजु मसानां दीठ ॥62॥
 मरता मरता जग मुवा, मुवै न जानां कोइ ।
 दास कबीरा यौं मुवा, ज्यौं बहुरि न मरना होई ॥63॥
 जीवन तै मरिबौ भलौ, जौ मरि जानैं कोई
 मरनै पहिलै जो मरै, तौ कलि अजरावर होई ॥64॥
 कबीर हरदी पीयरी, चूनां ऊजल भाइ ।
 राम सनेही यूं मिले, दोनउं बरन गंवाइ ॥65॥
 हिंदू मूआ राम कहि, मुसलमान खुदाइ ।
 कहै कबीर सो जीवता, जो दुहं के निकटि न जाइ ॥66॥
 कबीर हृद के जीव सौं, हित करि मुखां न बोलि ।
 जे राचे बेहद सौं, तिनसौं अंतर खोलि ॥67॥
 खूब खान है खीचरी, जे टुक बाहै लौंन ।

हेरा रोटी कारनैं, गला कटावै कौन ॥68॥
 सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ ।
 जाकी दिल साबित नहीं, ताकौं कहा खुदाइ ॥69॥
 कासी काठें धर करै, पीवै निरमल नीर ।
 मुकुति नहीं हरि नाउं बिनु, यौं कहै दास कबीर ॥70॥
 कबीर तस्टा टोकनीं, लिया फिरै सुभाइ ।
 राम नाम चीन्हैं नहीं, पीतल ही कै चाइ ॥71॥
 आपनपौ न सराहिजै, और न कहिजै रंक ।
 ना जानौं किस बिरिख तलि, कूड़ा होई करंक ॥72॥
 मारी मरौं कुसंग की, केरा काठें बेरि ।
 वा हालै वा चीरिजै, साकत संग निबेरि ॥73॥
 मूरखि संग न कीजिजै, लोहा जल न तिराइ ।
 कदली सीप भुवंग मुख, एक बूंद तिहुं भाइ ॥74॥
 सांई सेती सांच चलि, औरां सौं सुध भाइ ।
 भावै लांबे केस करि, भावै घुरड़ि मुड़ाइ ॥75॥
 साधु भया तौ क्या भया, माला मेली चारि ।
 बाहरि ढोला हींगला, भीतरी भरी भंगारि ॥76॥
 कैसों कहा बिगारिया, जे मूडै सौ बार ।
 मन कौं काहे न मूड़िए, जामैं बिखै बिकार ॥77॥
 कर पकरें अगुरी गिनैं, मन धावै चहु ओर ।
 जाहि फिरायां हरि मिलै, सौ भया काठ की ठौर ॥78॥
 माला फेरें कछु नहीं, काती मन कै साथि ।
 जब लगि हरि प्रगटै नहीं, तब लगि पतड़ा हाथि ॥79॥
 हम भी पाहन पूजते होते रन के रोझ ।
 सतगुरु की किरपा भई, डारा सिर तैं बोझ ॥80॥
 मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जानि ।
 दसवां द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछानि ॥81॥
 राम राम सब कोइ कहै, कहिबे बहुत बिचार ।
 सोई राम सती कहै, कोई कौतिगहार ॥82॥
 पानी केरा पूतरा, राखा पवन संचारि ।
 नाना बांनीं बोलिया, जोति धरी करतारि ॥83॥
 हरि मोतिन की माल है, पौई कांचै धागि ।
 जतन करौ झंटा घनां, टूटैगी कहुं लागि ॥84॥
 पानीं हू तैं पातरा, धूवां हू तैं झीन ।
 पवना बेगि उतावला, सो दोस्त कबीरै कीन ॥85॥
 मेरे मन मैं परि गई, ऐसी एक दरार ।
 फाटा फटिक पखानं ज्यों, मिला न दूजी बार ॥86॥
 मन कै मतै न चालिए, छाड़ि जीव की बांनि ।
 ताकूं केरा तार ज्यों, उलटि अपूठा आनि ॥87॥

नोट

कबीर भली मधूकरी, भांति भांति कौं नाज ।
 दावा किसही का नहीं, बिन बिल्लाईत बड़ राज ॥88॥
 गावन ही मैं रोज है, रोवन ही मैं राग ।
 इक बैरागी ग्रिह करै, एक ग्रिही बैराग ॥89॥
 कबीर पढ़िबा दूरि करि, पुस्तक देहु बहाइ ।
 बावन अक्खिर सोधि कै, रै ममैं चित लाइ ॥90॥
 सहजैं सहजैं सब गए, सुत बित कांमिनि काम ।
 एकमेक होइ मिलि रहा, दास कबीरा राम ॥91॥

1.2.1 व्याख्या

साखी

राम नाम [जिसे गुरु ने दिया] की बराबरी में मेरे पास देने को कुछ नहीं है। क्या लेकर (अर्थात् किस दक्षिणा के बल पर) गुरु को तुष्ट किया जाय, यह साध मन में बनी ही रही अर्थात् पूरी न हुई ॥1॥

पटंतरै—सं. पट्ट + तल > हि. पटंतर = बराबरी में, उपमा में। तुल. क. प्रं. प्रयाग साखी 4-11, 2: तासु पटंतर नां तुलै, हरिजन की पनिहारि तथा तुलसी, बाल. 247-4 जौ पटतरिअ तीय सम सीया। हौंस < अं हवश् = चाह, साध, लालसा, हौसला, अरमान। तुलं दादू, साखी 2-118, 2: हौंस रही यह जीव मैं, पछितावा मन माहिं।

सद्गुरु के समान दूसरा कोई सगा नहीं, ज्ञान या चित्तशुद्धि के समान दूसरा कोई दान नहीं, प्रभु के समान दूसरा कोई हितैषी नहीं और हरिजन के समान दूसरी कोई जाति नहीं ॥2॥

सवां— सं समान > हिं सवां > सवां (जैसे : 'जहान' से 'जहाँ')। अन्य टीकाकारों ने अगले 'न' के साथ मिलाकर इसका अर्थ 'सवान' के रूप में और 'को' का अर्थ कौन के रूप में किया है, किन्तु पूरी साखी की वाक्य-रचना को दृष्टि में रखते हुए इन्हें पृथक् रखना युक्तिसंगत लगता है। आगे इसका स्त्रीलिंग रूप 'सई' मिलने से इस धारणा को और भी अधिक पुष्टि मिल जाती है। को-यहाँ 'कोई' (= कोई) का संक्षिप्त रूप ज्ञात होता है, कौन के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है। सोधी = सुधि अथवा ज्ञान—जैसे 'भूल' से 'भोल' (क. ग्रं. साखी 1-18), 'छूत' से 'छोत' (क. ग्रं. साखी 9-5) 'सूझ' से 'सोझी'—उदाहरणतया गुरुग्रन्थ साहब पृ. 275-4 : तिस दास कउ सभ सोधी परै (गुरु अर्जुनदेव) पृ. 303-7 : बिनु सतगुरु सोधी न पवै (वही)। 'सोधी' को अधिकांश टीकाकारों ने सं. 'शोधी' ले व्युत्पन्न मानकर इसका शोधक या साधु अर्थ किया है, किन्तु यह भ्रमात्मक ज्ञात होता है। वस्तुतः यह 'सुधि' या ज्ञान का बोधक है जो निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट है—स्वामी रामचरण, अणभै वाणी, साखी 3-96 : सुमरण से सोधा भई भास्यौ सार असार। दादू, साखी; 1-118-1 सोधी नहीं सरीर की, औरों को उपदेस; 1-119-1 : सोधी नहीं सरीर की, कहैं अगम की आत; 13-89-1। सूना घट सोधी नहीं, पंडित ब्रह्मा पूत; तथा 12-126-2: सोधी नहीं सरीर की, तासनि का समझाई (सोधी नहीं = समझ या ज्ञान नहीं)। सं. शुद्धि (चित्तशुद्धि) से भी इसकी व्युत्पत्ति मानी जा सकती है, लेकिन 'सुधि' से इसकी व्युत्पत्ति मानना अधिक निरापद ज्ञात होता है। सई 'सवां' का स्त्री. रूप। दाति—सं. 'दत्त' (= दिया हुआ) > दत्ति > दाति = दी जाने वाली वस्तु, दान या देन। दे. पाइअ. दत्ति = एक बार में जितना दान दिया जाय वह, अविच्छिन्न रूप से जितनी भिक्षा दी जाय वह। तुल. गुरुग्रन्थसाहब, पृ. 73-18: दाति करहु मेरे दातारा (अर्जुनदेव); वही, पृ. 150-6 (नीचे से) : लहै भराति होवै जिसु दाति (नानक), वही, पृ. 443-4: नानक दाति दया करि देवै राम नामि निसतारी (रामदास); वही, पृ. 50-4-3 : सरबे जाचिक तूं प्रभु दाता दाति करै अपने वीचार (नानक) तथा जायसी, पदमावत, 386-4 : दत्त सत्त एइ दूनौ भाई (दत्त = दिया हुआ)। सन्त-साहित्य में 'दाति' से ही बना हुआ 'दाती', (= 'दाति' करने वाला या दाता) शब्द मिलता है। उदाहरणतया दे. गुरुग्रन्थसाहब, पृ. 83-14 : दाती साहब संदीआ किया चल्ले तिसु नाल (नानक), जेवड़ साहिबु तेवड़ दाती दे दे करै रजाई (वही)। 'दाति' शब्द का प्रयोग राधास्वामी सत्संग में अब तक इसी अर्थ में होता है।

'सोधी' तथा 'दाति' सन्त-साहित्य के विशिष्ट शब्द हैं जिनके अर्थ से पूर्णतया अवगत न होने के कारण कबीर के लिपिकारों तथा टीकाकारों को प्रायः इनके सम्बन्ध में भ्रम हुआ है। दाति का अर्थ अन्य टीकाकारों ने दाता (= सं. दातृ) किया है।

नोट

चौंसठ दीपक जला कर चौदहों चाँद भी अटा ले (उद्भासित कर ले) किन्तु जिसके घर में सद्गुरु नहीं उसके घर किसका प्रकाश हो? 13।

चौंसठि दीवा—चौंसठ कलाएँ जिनका उल्लेख कामशास्त्र के ग्रन्थों में है, देखें—वात्स्यायनकृत कामसूत्र। जोड़ < सं. ज्योति = ज्योतित करना या जलाना। चौदह चंदा—दूज से लेकर पूर्णिमा तक चाँदनी के चौदह दिन होते हैं। इसी कारण इस्लाम मत में चौदह कलाओं वाले चाँद की कल्पना है तुल. जायसी, पदमावत 338-2 : पदुमावति भै पूनिवँ कला, चौदह चाँद उए सिंघला। कबीर का यह प्रयोग इस्लामी परम्परानुसार है किन्तु आध्यात्मिक पक्ष में चौदह चंदा का तात्पर्य चौदह विद्याओं से है जिनका मनुस्मृति में इस प्रकार उल्लेख है—

अङ्गानि वेदाश्च चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।

धर्मशास्त्रपुराणं च विद्याह्येतांश्चतुर्दशः ॥

अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्यौतिष, ऋक्, साम, यजुः अथर्व, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण—ये चौदह विद्याएँ हैं। माहि < सं. मा धातु = अटाना या पूरित करना। ‘माहि’ यहाँ क्रि. वि. नहीं है, प्रत्युत क्रिया है। घर = घट या अन्तःकरण। चाँदिनौ < सं. चन्द्रिका < चाँदनी, रोशनी। तात्पर्य यह है कि कोई चौंसठ कलाओं तथा चौदह विद्याओं में पारंगत भले ही हो जाय, किन्तु यदि उसे गुरु का ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ तो उसके हृदय का अज्ञानांधकार दूर नहीं हो सकता। गुरु-ज्ञान के अभाव में पुस्तकीय विद्या को व्यर्थ बताया गया है।

सद्गुरु की महिमा अनन्त है, और उन्होंने मेरे प्रति अनन्त उपकार किये। उन्होंने मेरे अनन्त नेत्र खोल दिये अर्थात् मेरे नेत्रों में ज्ञान की अनन्त ज्योति प्रदान की जिससे मैं अनन्त प्रभु के दर्शन कर सकता हूँ। 14।

उपगार < सं. उपकार (अघोष अल्पप्राण का सघोष अल्पप्राण में परिवर्तन)। उघारिया < सं. उद्घाटितः > प्रा. उघ्घाड़िय > हिं. उघारिया तुल. मानस, बाल. 1-5, 7—

श्री गुरु पद नख मनि गन जोती।

सुमिरत दिव्य दृष्टि हियं होती ॥

उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।

मिटहिं दोष दुख भव रजनी के ॥

अपने सच्चे दिल को सद्गुरु के प्रति सदका (निछावर) किया तो कलियुग हमसे लड़ पड़ा कि मेरा (कलि का) ही वचन पक्का है। अर्थात् मेरा सद्गुरु की शरण में जाना कलियुग को अच्छा न लगा, यह सोचकर कि अब उसके माया-जाल का मेरे ऊपर कोई प्रभाव न पड़ेगा 15।

सदकै < अ. सदका = निछावर तुल. गुरु अर्जुनदेव, गुरुग्रन्थ साहब पृ. 81.20 कथनु न जाइ अकथु सुआमी सदिकै जाइ नानकु वारिआ अथवा दादू पद 319-4,4: सदिकै करौ संसार सब जग वारनैं। दिल अपनी का सांच = अपनी साँच दिल का। कबीर ने कहीं-कहीं विशेषण को विशेष्य के पश्चात् रखा है जो उनकी भाषा की एक विशिष्टता है। उन्होंने ‘दिल’ का प्रयोग भी सर्वत्र स्त्रीलिंग में किया है—कदाचित् रूह या आत्मा (दोनों स्त्री.) का समानार्थी होने के कारण। मुहकम (अ.) = हठ, पक्का, मुस्तैद; तुल. क. ग्रं. पद 25-4: जौ गढ़पति मुहकम होई; तो लूटि सकै नहिं कोई। बांच-वचन, बात, कथन।

सद्गुरु ने रीझ कर मुझे एक ऐसा प्रसंग सुनाया कि प्रेम का बादल बरस गया जिससे सारा अंग तरबतर हो गया 16।

रात की बिछुड़ी चकई सबेरे चकवा से आ मिलती है, किन्तु जो राम से विमुख हैं वे न दिन में मिलते हैं, न रात में अर्थात् उनके दुःख का अन्त कभी न होगा 17।

‘बिरहा’ ‘बिरहा’ (तिरस्कार की भावना से) मत कहो, विरह शाहंशाह है! जिस घट में विरह नहीं उत्पन्न होता वह सदैव श्मशान तुल्य है 18।

शरीर रबाब है और सभी नसें रबाब की ताँत के समान हैं, विरह उसे नित्य बजाया करता है। किन्तु उसकी ध्वनि कोई और नहीं सुन सकता—या तो स्वामी सुनता है या विरही का चित्त 19।

रबाब (अ.)—सारंगी की तरह का एक बाजा जो भारी रागों के बजाने में काम आता है। पोपली ने ‘म्युजिक आफ् इण्डिया’ में इसे भारतीय वीणा का विकसित रूप माना है और तानसेन को इसका आविष्कारक बताया है।

नोट

उनकी पहली बात तो ठीक जँचती है, किन्तु दूसरी बात कबीर द्वारा इस बाजे के उल्लेख से ग़लत सिद्ध हो जाती हैं— क्योंकि कबीर तानसेन के पूर्ववर्ती हैं। श्रुत-सागर (16वीं शताब्दी वि.) ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र वृत्ति 24 की टीका में (पृ. 197) लिखा है: “दुर्दुरो जड्यावादित्र विशेषः रबाब इति देश्याम्” अर्थात् ‘दुर्दुर’ जाँघ पर रख कर बजाया जाने वाला एक बाजा है जिसे देशी भाषा में ‘रबाब’ कहते हैं (जे. ओ. आई. 4-4, पृ. 268)। रबाब भारत से ईरान, अरब होते हुए स्पेन गया और यूरोप में ‘रेबेक’ नाम से प्रचलित हुआ और फिर ‘वायलन’ के रूप में परिवर्तित हुआ (देखें डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, पद्मावत 5-7-3 की व्याख्या)।

मैं परबत-परबत घूम आया और रोते-रोते नेत्रों की ज्योति गँवा दी, लेकिन वह संजीवनी बूटी नहीं मिली जिससे जीवनी प्राप्त होती है। (बूटी यहाँ परमात्मा या प्रिय का प्रतीक है) 110।

रास्ता देखते-देखते तो आँखों में झाँई पड़ गई (नेत्रों की ज्योति मंद पड़ गई) और राम-राम पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गए 111।

नेत्रों से अश्रु निर्झर बह चला है और रात-दिन रहट जैसा चल रहा है। पपीहे के समान पी-पी रट रही हूँ— हे मेरे राम, तुम कब मिलोगे? 112।

रहट—कुएँ से पानी निकालने का एक यंत्र जिसमें अनेक बाल्टियों की माला पड़ी रहती है और बेल या ऊँट द्वारा चर्खी घुमाने पर बाल्टियों से निरन्तर पानी गिरता जाता है—गिरने का सिलसिला टूटता नहीं।

वही आँसू सज्जनों के, वही दुर्जनों के। नेत्रों से जब लोहू चुए, तब समझो कि हृदय में सच्चा प्रेम है 113।

बिड़ाहि—सं. विट (= विदूषक, लम्पट) = प्रा. विड = हिं. ‘बिड़’ का बहु. व.। जे लोइन लोही चुवै—ग्रामीण बोली में ‘रक्त के आँसू रोना’ मुहावरा है।

कबीर कहता है, सो-सो कर क्या करेगा? जाग कर मुरारि को क्यों नहीं जपता? एक दिन मृत्यु के समय तो लम्बे पैर पसार कर सोना ही होगा। तात्पर्य कि जागरूक होकर नाम-स्मरण में लगा रहना चाहिए 114। गोड़ (देशज) < प्रा. गोड्ड = पैर।

तू तू करते तू ही तू हो गया—मुझमें मेरापन कुछ भी नहीं रह गया।

मैंने अपने आपको तेरे नाम पर निछावर कर दिया, अब तो जहाँ देखती हूँ वहाँ तू ही तू है 115।

प्रेम-योग अथवा भक्ति-योग की यह चरमावस्था है जो योगी को समाधि में मिलती है। सूरदास की गोपी में भी जब ‘पूरन नेह’ प्रकट होता है तो वह दही सिर पर लिए ‘ले दही’ की जगह ‘ले गोपाल’ की टेर लगाती है। जायसी का रतनसेन जब विरह की चरमावस्था में पहुँचता है तो संसार की प्रत्येक वस्तु में पद्मावती को ही देखता है। तुलसी के राम भी सीता से वियुक्त होने पर मृगियों के नेत्रों में सीता के ही नेत्र देखते हैं, हंसिनी में सीता की ही गति पाते हैं। संदेसा भी भेजते हैं तो यह कि—

तत्त्व प्रीति कर मम अरु तोरा।

जानत प्रिया एक मन मोरा ॥

सो मन बसत सदा तुम पाहीं।

जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं ॥

कबीर कहता है कि चंदन के बिरवे के पास ढाक-पलाश भी उसकी सुगंध से बेध उठे। उसने उन सब को आप सरीखा कर लिया जो उसके पास थे 116।

अन्योक्ति के आधार पर साधु जनों का प्रभाव दुष्ट जनों पर दिखलाया गया है, तुल. मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण कंकोल निम्ब कुटजा अपि चन्दना स्युः।

बिड़ै—सं. विटप > प्रा. विडव, विडअ > हि. बिड़ा, जिसका अधिकरण रूप ‘बिड़ै’ = वृक्ष पर या वृक्ष के निकट। बेधे > सं. विधू = विद्ध हुए, सुगंधि से आपूरित हुए या बास उठे। सभा की क. ग्रं. में ‘वैठ्या’ अशुद्ध पाठ होने के कारण कई टीकाकारों को इसके अर्थ के सम्बन्ध में भ्रम हो गया है।

ढाक-पलाश—अन्योक्ति के आधार पर निकृष्ट लोग। ‘ढाक’ और ‘पलाश’ यद्यपि समानार्थी हैं, किन्तु उसका प्रयोग यहाँ युग्म के रूप में है, जैसे ‘पेड़-रूख’। सरीखे—सं. सदृश > हिं. सरिस, सरिखा या सरीखा = समान।

नोट

मेरे साथी दो जन हैं—एक तो वैष्णव और दूसरा स्वयं राम। वह (राम) तो मुक्ति देने वाला है और वह (वैष्णव) नाम का स्मरण कराता है। (जिससे मुक्ति प्राप्त होती है)। 117।

वैष्णव साधु को कबीर ने राम का प्रतिरूप माना है, तुल. क. ग्रं. साखी 4-39—

साकत बांम्हन मति मिलै, बैस्नों मिलै चंडाल।

अंकमाल दे भेटिए, मानौं मिले गोपाल ॥

राम नाम जिन्होंने जान लिया उनका शरीर क्षीण होता है, नेत्रों में नींद नहीं आती और शरीर पर मांस नहीं चढ़ता अर्थात् राम के भक्त नाशवान शरीर के पालन-पोषण की चिंता नहीं करते। 118।

जामैं > सं. जन्म = उत्पन्न होता है।

राम के वियोगी वेदना से विकल तन होते हैं, उन्हें कोई दुखाओ (छेड़ो) मत, नहीं तो छूते ही बिचारे तड़फड़ा कर मर जाएंगे। 119।

विकल तन = जिनके शरीर में व्याकुलता भरी हो। तालाबेली > प्रा. तल्लोविल्लि (देशज) = तड़फड़ाहट, घबड़ाहट; तुल. सोमप्रभसूरि (13वीं शताब्दी वि. के एक जैन कवि) कृत 'कुमारपाल-प्रतिबोध': थोड़ा जल जिमि मच्छलिय तल्लोविल्लि करंत तथा दादू-वाणी सा. 3-48 : तालाबेली प्यास बिन, क्यों रस पीया जाइ।

लालों की कोठरी नहीं होती अर्थात् लाल कोठरी भर नहीं होते; हंसों की पाँत नहीं होती; सिंहों के झुण्ड नहीं होते, साधु भी जत्था बाँध कर नहीं चलते। 120।

तात्पर्य यह है कि हंस और शेर विरल होते हैं, इसी प्रकार साधु भी विरल ही होते हैं—जमात बाँध कर चलने वाले साधु सच्चे साधु नहीं होते, वे केवल उदम्भरि होते हैं। तुलनीय—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।

साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने।

ओबरी > सं. अपवरिका > प्रा. उव्वरिय = भीतरी कक्ष या कोठरी; तुल. पद्मावत 336-5 : ओबरी जूड़ि तहाँ सोवनारा। यद्यपि कबीर के प्रयोग से यह परिलक्षित नहीं होता, किन्तु आजकल जनपदीय बोली में 'ओबरी' प्रायः उस एकांत कोठरी को कहते हैं जहाँ पति-पत्नी मिलते हैं—इसीलिए व्यंग्य में कहा जाता है, 'कहाँ 'ओबरी' में छिपे हुए हो?' लेंहड़ा (देश.) पशुओं का झुंड। जमाति < अ. जमाअत = समूह, जत्था।

भक्त (वैष्णव) हजारिया कपड़ा है, उसमें मैल नहीं समाती (क्योंकि उसे यत्नपूर्वक धारण किया जाता है, मैल में नहीं बिछाया जाता)। इसके विपरीत शाक्त काली काम्बली है—जहाँ चाहो, बिछा लो। 121।

हजारी (फा.)—उत्कृष्ट कोटि के सूत या उससे बने वस्त्र के लिए 'हजारी' या 'हजारिया' विशेषण प्रयुक्त होता था। तुल. बखनावानी, पद 76-1: काति बहुरिया सूत हजारी; तकुला को बल काढ़्यौ गुरु सतधारी। सूत की बारीकी परख कर उसे नंबर के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में रखा जाता था। जो सूत जितना ही पतला होता था, उसका नम्बर उतना ही अधिक होता था। इस प्रकार हजारिया सूत अत्यधिक महीन होता था (जैसे ढाके की मलमल का) और उसे बड़ी हिफाजत से रखा जाता था। इसी प्रकार कबीर के अनुसार वैष्णव भक्त भी विशुद्ध आचरण का होता है, शाक्त के समान वासना से पंकिल नहीं होता।

ऐसा कोई नहीं मिलता जिसका आश्रय ग्रहण किया जाए, क्योंकि मैंने सारे संसार को (संसार के प्रत्येक व्यक्ति को) अपनी-अपनी आग में जलते देखा अर्थात् अपनी-अपनी विपत्ति भोगते देखा। 122।

सारक और सूरमा तो बहुत मिलते हैं, घायल कोई नहीं मिलता। घायल को अगर घायल मिल जाय तो राम भक्ति दृढ़ हो जाए। तात्पर्य यह है कि डींग मारने वाले उपदेशक तो बहुत मिलते हैं, किन्तु सच्ची अनुभूति वाला भुक्तभोगी साधक बहुत मुश्किल से मिलता है। 123।

सारा < सं. सारक = प्रहार करने वाला, तुल. क. गं. साखी 14-4-1 : सारा बहुत पुकारिया, पीर पुकारै और।

सूरा < सं. शूर = वीर, बहादुर। 'सारा सूरा' युग्म के रूप में प्रचलित है—जैसे 'शूर वीर'।

मशाल हाथ में लेकर मैंने अपना घर जला दिया, अब उसका घर जलाऊँगा जो मेरे साथ चलेगा। अर्थात् आदर्श भक्त को परिग्रह (दौलत जोड़ने) की भावना का परित्याग करना पड़ता है। 124।

नोट

मुराड़ा (देशज?) = मशाल, लुकाटा।

मुझमें मेरा (अपना) कुछ नहीं है, जो कुछ है सो तेरा ही है; तेरा तुझको सौंपने में मेरा क्या लगेगा? पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना ही इस साखी का मूल स्वर है। 125।

जब से माता ने जन्म दिया, कभी सुख न पाया। मैं डाल-डाल फिरता हूँ तो दुःख पात-पात फिरता है। 126।

जद < सं. यदा = जब। जनमिया < सं. जन्म = जनमाया, पैदा किया। कदे < सं. कदा = कभी। डारी डारी में फिरौं...आदि—‘तू डाल-डाल तो मैं पात-पात’ यह लोकोक्ति है, इसी का प्रयोग कबीर ने किंचित् अंतर से किया है। तात्पर्य यह है कि जहाँ आदमी बाद में पहुँचता है, दुःख पहले से मौजूद रहता है, इस प्रकार जीवन में दुःख अधिक व्यापक है; तुल. तिरती है समीर सागर पर अस्थिर सुख पर दुःख की छाया (निराला, बादल राग)।

मृग के नाभि-कुंडल में कस्तूरी रहती है, किन्तु वह उसे वन में ढूँढ़ता है। इसी प्रकार घट-घट में राम है, लेकिन दुनिया मृग के समान अज्ञानवश उसे नहीं देख पाती। 127।

कस्तूरी (सं.)—सुगंधित द्रव्य जो ठंडे पहाड़ों पर रहने वाले विशेष प्रकार के हिरन की नाभि से निकलता है। आईने-अकबरी के अनुसार मेद नामक जंतु के सूखे नाभों को कूट कर पानी में औटाया जाता था। जो तेल ऊपर आ जाता था। वही ‘मेद’ या ‘मीद’ कहलाता था (आईन 30, पृ. 8 ब्लाशमैनकृत अनुवाद)। मेद और कस्तूरी अभिन्न है। कुंडलि < सं. कुंडल (= आवर्त, चक्र) = नाभि-कुंडल में; नाभी के गोल आवर्त में, तुल. पद-मावत 1171: नाभी कुंडर मलै समीरु; समुद भँवर जस भँवै गँभीरु।

जैसे नेत्रों में पुतली (तिल) होती है वैसे ही सृष्टिकर्ता राम भी सभी जीवों में समाया है। मूर्ख लोग इस बात को समझते नहीं जिससे उसको बाहर तीर्थों या मूर्तियों में ढूँढ़ने जाते हैं। 128।

पूतरी—सं. पुत्तलिका > प्रा. पुत्तलिया = आँख के बीच का काला भाग जो दृष्टि शक्ति का केन्द्र होता है, (तुल. मानस, अयोध्या. तोहि करउँ चख पूतरि आली)। राम भी इसी प्रकार केन्द्रीय प्राणशक्ति बनकर घट-घट में समाया हुआ है। खालिक (अ.) = सृष्टि का रचयिता, ईश्वर।

जिसके मुख और मस्तक नहीं है, जो रूपवान अथवा कुरूप कुछ भी नहीं है, जो पुष्प की गंध से भी पतला (सूक्ष्म) है—ऐसा अनुपम तत्त्व वह है। 129।

माथा = मस्तक। पुहुप = सं. पुष्प।

उसे भारी कहता हूँ तो बहुत डरता हूँ (आतंकित हो जाता हूँ), हलका कहता हूँ तो झूठा कथन है (क्योंकि हलका कहने में लघुत्व की व्यंजना होती है)। मैं क्या जानूँ राम को—कभी नेत्रों से तो उसे देखा नहीं (क्योंकि उसका कोई स्थूल रूप नहीं है)। 130।

हरुवा = हलका। दीठ < सं. दृष्ट = देखा।

अगर देखा है तो उसे कहूँ कैसे (उसका वर्णन कैसे करूँ), कहने पर कोई प्रतीति नहीं करेगा। हरि जैसा है वैसा रहे, तू मस्त होकर केवल उसका गुणगान कर। 131।

पतिआइ < सं. प्रत्यय = विश्वास करना।

न मैंने कुछ किया, न करूँगा, न कुछ करने योग्य मेरा शरीर ही है। जो कुछ किया, परमात्मा ने किया जिससे कबीर (जो क्षुद्र जुलाहा था) कबीर (महान्) हो गया। अथवा जो कुछ किया परमात्मा ने किया, लोग नाहक कहने लगे—‘कबीर ने किया’, ‘कबीर ने किया’। 132।

कबीर (अ.) = महान्। भया कबीर-कबीर—इसके दो अर्थ हो सकते हैं: (1) कबीर महान् हो गया, (2) ‘कबीर कबीर’ शोर हो गया अर्थात् लोग ‘कबीर-कबीर’ या ‘कबीर ने किया’, ‘कबीर ने किया’ ऐसा कहने लगे।

हे सखी, ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कबीर खुद खो गया। बूँद (जीवात्मा) समुद्र (परमात्मा) में समा गयी है—उसे कैसे ढूँढ़ा जा सकता है?। 133।

कबीर जीवात्मा तथा परमात्मा में अंशांशी भाव मानते अवश्य हैं किन्तु भक्ति की चरमावस्था में वे आत्मा का परमात्मा में पूर्ण तादात्म्य मानते हैं। फिर उसका ‘अहं’ इद्म में विलीन हो जाता है और दोनों की विभाजक रेखा समाप्त हो जाती है जैसे बूँद समुद्र में मिल जाए तो ढूँढ़ने से कुछ पता नहीं लगता कि इसमें बूँद कहाँ है? रामानुजाचार्य और तुलसी की ‘भेद-भक्ति’ से यह स्पष्ट ही भिन्न विचारधारा है।

नोट

ऐ स्वामी, मैं तेरे बिना कौड़ी भी नहीं पा सकता; लेकिन यदि सिर पर तुम्हारे जैसा धनी हो तो मैं अपना लाखों मोल कराऊँ। 34।

बाहिरा < सं. बाह्य = बाहर, बिना।

कबीर याचना करने या मांगने जा रहा था कि सामने अयाच्य कर देने वाला मिल गया। वह उसे अपने घर ले चला जहाँ उसने भारी निधि पा ली अथवा जहाँ भारी तत्त्व का परिचय प्राप्त हुआ। 35।

अचंज < अजच्च < सं. अयाच्य = अयाची बना देने वाला, पूर्ण-काम। ग्रामीण बोली में अब भी 'अजाच्च कर देना' कहते हैं—अर्थात् इतना अधिक दे देना कि फिर किसी से माँगने की आवश्यकता न रहे। ('अजच्च' का अजंच' रूप मध्यकालीन देखन-प्रणाली में द्वित्व के लिए अनुस्वार देने की परम्परा के परिणामस्वरूप है)। संच < सं. संचय = संचित धनराशि, निधि, खजाना। 'पाइअसहमहणवो' में अपभ्रंश के 'संच' शब्द को सं. 'संचय' से ही व्युत्पन्न मानकर उसका 'परिचय' अर्थ दिया है (दे. पृ. 835)। इसके अतिरिक्त 'संच' को 'सच्च' = सुख) मानकर भी अर्थ किया जा सकता है, जैसा कि अधिकांश टीकाकारों ने यहाँ किया है। किन्तु यहाँ याचना का प्रसंग है, अतः पहला, अर्थ ही सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

चित्तवृत्ति तल्लीनता में समा गई, जाप अजपा में समा गया, लेख्य अथवा साकार अलेख्य अथवा निराकार में समा गया, इसी प्रकार आत्मा या मन अपने में ही समा गया। 36।

सुरति < सं. श्रुति = श्रवण वृत्ति, चित्तवृत्ति। निरति = निरत अथवा तल्लीन होने का भाव। 'सुरति जब इतनी पूर्ण हो जाती है कि...परमात्मा के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध...तदात्म रूप से हो जाता है, वह अवस्था निरति कहलाती है, (डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थवाल, योग-प्रवाह, पृ. 32)। अजपा = सं. अ + जप = माला, सुमिरनी अथवा जिह्वा आदि की सहायता से किए हुए स्थूल जप का उल्टा अर्थात् सूक्ष्म जप। नाथ योगियों तथा संतों ने प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ 'सोऽह' 'सोऽह' का सूक्ष्म जाप सहज रूप में होता हुआ माना है जिसको 'अजपा गायत्री' या 'अजपा जाप' कहते हैं। एक स्वस्थ व्यक्ति औसतन 21,600 साँसों चौबीस घंटे में लेता है, अतः प्रत्येक साँस के साथ यदि सुमिरण में मन लगाया जाय तो उतनी ही अजपा गायत्री का जाप होता है। तात्पर्य यह है कि संतों ने काठ या धातु के मनकों को माला जपने की अपेक्षा ऐसी सूक्ष्म माला जपने पर अधिक बल दिया है जो साँस की हो और साँस टूटने के साथ ही टूटे—इस प्रकार की तल्लीनता नामस्मरण में हो। जाप > सं. जप-स्थूल जप जो माना या जीभ हिलाकर किया जाता है। लेख < सं. लेख्य (= लिखने योग्य या देखने योग्य) = साकार, स्थूल। अलेख = उपर्युक्त 'लेख' का विलोमार्थी—सूक्ष्म, निराकार।

स्थूल से सूक्ष्म साधना की ओर अग्रसर होते हुए अंततोगत्वा सहज स्थिति की प्राप्ति का निर्देश इस साखी में भी है।

सूर्य (पिंगला) चन्द्र (इड़ा) में समा गया और दोनों को एक घर में (सुषुम्णा में) मिलाया, तब मन का अभीष्ट पूरा हो गया—ऐसा कुछ पूर्व जन्म का भाग्य जुड़ा। 37।

सूर, चांद—क्रमशः पिंगला तथा इड़ा नाड़ी के बोधक हैं। इड़ा-पिंगला दोनों को सुषुम्णा से मिलाने का तात्पर्य संतों की पारिभाषिक शब्दावली में मन की द्वन्द्वातीत अवस्था प्राप्त करना है—यही सन्तों की मनःसाधना का चरम लक्ष्य है; इसीलिए कबीर कहते हैं मन का चेता या सोचा हुआ पूरा हो गया। पूरबला लेख = पूर्व जन्म का भाग्य देख; संचित कर्मों का फल।

शरीर के भीतर की अनुभूतियों से ही मन मान गया (मन सन्तुष्ट हो गया), अब बाहर कहीं नहीं जाता, जलती हुई अग्नि बुझ गई और ज्वाला शीतल जल में परिवर्तित हो गई। 38।

मन के आत्माभिमुखी होने पर समरसता आ गई जिससे जीवन की सारी विषमताएँ दूर हो गई—जो वस्तुएँ दाहक थीं, वे शीतल सुखद हो गई। तुल. पद 18-3 : 'तन महिं होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि' को व्याख्या। बलंती < सं. ज्वलन्ती = जलती हुई। लाई < सं. अलात = अग्नि।

कबीर कहता है कि शरीर में बिना रस्सी (ताँत) के ही तन्त्री का शब्द (अनाहत नाद) बज रहा है। बाहर भीतर वही शब्द व्याप्त हो रहा है, इससे सारी भ्रांति दूर हो गयी। 39।

गुन < सं. गुण = रस्सी, तार। तांति < सं. तन्त्री, वीणा। भ्रांति = सं. भांति।

नोट

गंगा-यमुना (इड़ा-पिंगला) के बीच में (सुषुम्णा पर) सहज शून्य का घाट है, वहाँ कबीर ने मठ रचा है जिसमें प्रवेश पाने के लिए मुनिजन टक-टकी लगाए रास्ता देखा करते हैं अर्थात् यह स्थिति मुनियों को भी दुर्लभ है।¹⁴⁰। सहज दशा का वर्णन इस साखी में भी है।

कबीर कहता है, समुद्र की सीप 'प्यास-प्यास' रटती है किन्तु स्वाति की एक बूँद की आशा में विस्तीर्ण समुद्र को तिनका बराबर समझती है। (एकांत निष्ठा पर बल दिया गया है)।¹⁴¹।

बरि < फा. अव्यय 'बर' (= ऊपर, सामने; मुकाबले या बराबरी में तुल. बर आना मुकाबले में सामने ठहराना) = बराबर

जायसी ने 'बर' शब्द का इसी अर्थ में अनेक बार प्रयोग किया है, दे. पदमावत—

142-5 : तेई यह समुद्र बुंद बर देखा।

157-1 : कोई चमकि बौजु बर जाहीं।

इसी प्रकार तुल. 168-4 (जुग बर), 251-8 तथा 356-2 (तिनु-बर) तथा दादू-वाणी सा. 13-144 (कौड़ी बर)।

दोजख (नर्क) तो मैंने अंगीकार कर लिया, उसका डर मुझे बिलकुल नहीं है, क्योंकि ऐ प्यारे! तेरे बिना मुझे बिहिश्त (स्वर्ग) भी नहीं चाहिए।¹⁴²।

दोजग < फा. दोजख = नरक (मुसलमानी धर्म के अनुसार)। अंगिया = अंगीकार किया। भिस्ति < फा. बिहिश्त = स्वर्ग (मुसल.) बाझ—सं. वर्ज > प्रा. बज्ज > हि. बाज, बाझ = बिना (दे. पद 40-5)। मध्यकालीन हिन्दी कवियों ने (सगुणियों तथा निर्गुणियों ने समान रूप से) प्रेम भक्ति के सम्मुख मुक्ति को भी ठुकराया है, तुल. तुलसी : अरथ न धरण न काम रुचि गति न चाहैं निरबान।

मैंने सभी रसायन (कीमियागिरी) करके देख लिया, हरि रस के समान कोई रसायन नहीं, जो यदि रंचमात्र भी शरीर में प्रविष्ट हो जाए तो सर्वाङ्ग सोने का हो जाय।¹⁴³।

प्राचीन काल में विशिष्ट रासायनिक द्रव्यों से निकृष्ट धातुओं को सोना बनाने की जनश्रुतियाँ प्रचलित थीं—विशेषतया बौद्ध तथा नाथ सिद्धों के सम्बन्ध में कीमियागिरी की अनेक दन्त कथाएँ प्रचलित थीं। कबीर का तात्पर्य है कि सबसे बड़ी रसायन विद्या या कीमियागिरी हरिभक्ति है।

सात गाँठों वाली जीर्ण कौपीन (लँगीती) लगा कर भी अथवा कौपीन में सात-सात गाँठें लगाकर भी साधु किसी से भय नहीं मानता। यह राम नाम के नशे में उन्मत्त रहता है और अपने सामने इंद्र को भी रंक समझता है।¹⁴⁴।

कौपीन < सं. कौपीन—साधु-संन्यासियों के पहनने की लँगोटी या चीर। संक < शंका = डर, भय। अमलि < अ. अमल = नशे में। माता < सं. मत्त = मस्त, उन्मत्त।

हरि रस या भक्ति मदिरा को पान किया हुआ तब समझना चाहिए जब कि उसकी खुमार कभी न उतरे। पीने वाला मैमंत होकर घूमता फिरे और उसे शरीर की भी सार-सँभाल या सुध-बुध न रह जाए—ऐसा उस नशे में धुत्त रहे।¹⁴⁵।

खुमारि < अ. खुमार = नशा अथवा नशा उतरने के समय की थकावट या शिथिलता। मैमंत < सं. मदमत्त = नशे में धुत्त (ग्रामीण बोली में 'मैमंत' शब्द खूब प्रचलित है)। सारि < सं. सारय् = देख-रेख, सँभल। तुलसी ने 'सार सँभाल' का युग्म रूप में प्रयोग किया है, तुल. मानस, अयोध्या. 79-6 सब के सार सँभार गोसाईं। करबि जनक जननी की नाई।

अब तो ऐसी आ पड़ी कि जो मनोवांछित था, कर लिया। जब हाथ में सिंदूरपात्र ले लिया (सती होने को उद्यत हुई) तो मरने से क्या डरना?।¹⁴⁶।

भावतु = अभीष्ट। हाथि = हाथ में। सिंघौरा = सिन्दूर का डिब्बा जिसे सती सहगमन करते समय हाथ में ले लेती थी, क्योंकि वह उसके सुहाग का चिन्ह होता था। कबीर ने तत्कालीन समाज से दो आदर्श-सती और सूरमा के—भक्तों के लिए चुने हैं। यहाँ उनका तात्पर्य है कि जब भक्ति मार्ग अपना लिया तब उसमें निष्ठा रखते हुए जो कठिनाइयाँ आवें उनका सामना करना चाहिए।

कबीर कहता है कि यह घर प्रेम का है, खाला का घर नहीं जिसमें जब जी चाहा, चले आए। अपने हाथ से अपना सिर उतार ले तभी कोई इस घर में प्रवेश करे।

नोट

खाला < अं. खालः = चकला चलाने वाली मौसी।

प्रेम न बाग में पैदा होता है और न हाट में बिकता है। राजा या प्रजा किसको रुचे अपना सिर दे और इसे ले जाए। 148।

रात्रि के (में) जितने सितारे होते हैं उतने मेरे बैरी हो जाएं, धड़ सूली पर और सिर कंगूरे पर टाँग दिया जाए तब भी मैं तुझे भुला नहीं सकता। 149।

सूली < सं. शूल = लोहे आदि का नुकीला उपकरण जिस पर बिठा कर या लटकाकर प्राचीनकाल में अपराधियों को प्राणदण्ड दिया जाता था। कंगुरे < फा. कुंगरा किले का कौसीस या बुर्ज। बिसरौं < सं. विस्मृ = विस्मरण करूँ, भूलूँ।

काल सिरहाने खड़ा है। प्यारे मिल, अब तू जाग! राम के स्नेह बिना तू क्यों निश्चिन्त सो रहा है? 150।

बाहिरा < सं. बाह्य = बिना। तुल. साखी 34; साईं मैं तुझ बाहिरा साखी 57 : राखनहारै बाहिरा चिड़िअँ खाया खेत।

कबीर कहता है, दस दिन अपनी नौबत बजा लो। यह पुर-पट्टन और यह गली फिर आकर नहीं देखोगे। 155।

सांसारिक विभूतियों की भंगुरता का जीवंत चित्रण है। नौबत (फा.) = वैभव अथवा मंगल सूचक वाद्य; तुल. पद 100-1 चारि दिन अपनी नौबत चले बजाइ। पुर पट्टन = शहर-नगर, तुल. पद वही पंक्ति 5: वहि सुत वहि बित वहि पुर पट्टन बहुरि न देखै आइ।

कबीर कहता है कि धूल समेट कर यह शरीर रूपी पुड़िया बाँधी गई है। चार दिन का खिलवाड़ है—अन्त में मिट्टी की मिट्टी (अर्थात् जैसे मिट्टी थी वैसे ही फिर मिट्टी हो जायगी) 152।

पुड़िया < सं. पुटिका = कागज का संपुट। पेखनां < सं. प्रेक्षण = दृश्य, तमाशा, तुल. मानस, अयोध्या. जग पेखन तुम देखन हारे।

मनुष्य जन्म दुर्लभ है, बारम्बार नहीं होता—पका फल जो गिर पड़ता है तो फिर डाल में नहीं लगता है (अतः जो वस्तु इतनी क्षणिक और दुर्लभ है उसका सदुपयोग करना चाहिए—यह मुख्य मंतव्य है) 153।

दुर्लभ < सं. दुर्लभ।

जिस रस्सी में संसार बँधा है उसमें, ऐ कबीर, तुम मत बँधो, अन्यथा तुम्हारा सोने जैसा शरीर आटे में नमक नमक की तरह बिला जाएगा। 180।

जेवरी < सं. जीवा + डी = रस्सी (जनपदीय बोली में अत्यधिक प्रयुक्त)।

जैहहि = जाएगा, विनष्ट हो जाएगा, बिला जाएगा। सवां = समान।

कबीर ने मृदंग काँधे पर चढ़ाकर (डुग्गी पीटकर) सारी दुनिया में घूम कर ढूँढ़ लिया और ठोंक बजाकर देख लिया कि कोई किसी का नहीं है। 155।

हँढ़िया < सं. हिण्डू = भ्रमण कर लिया; ढूँढ़ लिया (प्रमाणिक कोश, पृ. 1393), तुल. सरहपाद: एकली सबरी ए बन हिण्डइ कर्ण कुंडल बज्रधारी (राहुल सांकृत्यायन, दोहाकोश, भूमिका, पृ. 25 पर उद्धृत जो कदाचित् शबरपाद का है)। मादलु < सं. मर्दल = मृदंग (दे. पद 6-2 में 'मंदरिया' की टिप्पणी)। मादलु कंध चढ़ाई—तात्पर्य यह है कि डुग्गी पीट-पीट कर पूछ लिया कि 'है कोई किसी का?' डुग्गी पीटने में ढोल या मृदंग काँधे पर या गले में बाँध लिया जाता है। ठोंक बजाइ (मुहा.—भलीभाँति निरख परख कर)।

कबीर कहता है कि गर्व नहीं करना चाहिए क्योंकि काल तुम्हारे केश पकड़े हुए है—वह तुम्हारे घर में या परदेश में न जाने कहाँ मार दे। 156।

रखवाले के बिना (साधना अथवा भक्ति बिना) चिड़ियों ने खेत खा लिया (विषय विकारों से शरीर जर्जर हो गया); अब भी चेत सके तो चेत जिससे आधा-चौथाई तो बच जाय। विषयासक्त सांसारिक व्यक्तियों के लिए यह चेतावनी है। 157।

बाहिरा < सं. बाह्य = बिना, विहीन। चिड़िअँ = चिड़ियों ने (अवधी कर्ता कारक का रूप, यथा 'राजें कहा' = राजा ने कहा)। आधा परधा = सं. अर्द्ध प्राद्ध = आधा-चौथाई।

नोट

कबीर कहता है: लाख (लाक्षा) का भवन जो हीरों और लालों से जड़ा हुआ है, चार दिनों का खेल है—वह कल को ही अर्थात् थोड़े ही समय में विनष्ट हो जाएगा (क्योंकि लाक्षा तनिक भी आँच से पिघल जाएगी। इसी प्रकार मानव शरीर, जिसका अनेक प्रकाश से सजाव शृंगार किया जाता है, थोड़े ही समय में विनष्ट हो जाएगा)। 58।

हीरें लालि = हीरों और लालों से। पेखनां < सं. प्रेक्षण = तमाशा, खेल; तुल. मानस: जगु पेखन तुम्ह देखनहारे। काल्हि < सं. कल्य = कल ('दिवस चारि' अथवा 'काल्हि' इनका यहाँ केवल लाक्षणिक अर्थ है, अभिधात्मक अर्थ लेने पर तो पहले वार और फिर केवल एक दिन के उल्लेख की संगति नहीं बैठेगी)।

जैसे जुलाहा कपड़े का थान बुनता है तो उसका दूसरा छोर निकट आता जाता है, वही हिसाब मृत्यु का भी है—अगर तू बचाव के लिए भाग सके तो भाग। 56।

कपड़ा बुनते समय जितने सूत बाने के भरे जाते हैं उतना ही उसका अन्तिम छोर नजदीक आता जाता है, उसी प्रकार जितनी साँसें भरी जाती हैं, जीवन की उतनी ही घड़ियाँ कम होती हैं और अन्तिम समय निकट आता जाता है। इसलिए कबीर की चेतावनी यह है कि प्राणी को कुछ ऐसे कार्य करने चाहिए जिससे मृत्यु का भय दूर हो और अमरता की भावना आये।

कोरी = हिन्दू जुलाहा। डॉ. ब्रिग्स ने 'दी चमार्स' नामक अपनी पुस्तक में जटिया, (जटुवा), जैसवार, चामर, दोहर, कुरील, पुरबिया, अहरवार, दुसिया, चमकटिया आदि के साथ कोरी चमारों की उपजाति का विवरण दिया है। उनके अनुसार गोरखपुर और लखनऊ डिवीजन में विशेष रूप से कोरी चमारों की आबादी है। तत्कालीन जनगणना के अनुसार उन्होंने अकेले बस्ती जिले में कोरियों की संख्या 50,000 दी है। उनके मुख्य व्यवसायों में जूता बनाने, खेती करने और कपड़ा बुनने का उल्लेख उन्होंने किया है। पंजाब में कोरी को चमार जुलाहा भी कहते हैं और मिर्जापुर में उसे 'मार कोरी' कहा जाता है—दे. पृ. 15। रेजा (फा.) = कपड़े का थान। नेरा < प्रां निअड़ < सं. निकट = नजदीक। मीच < प्रा. मिच्छु < सं. मृत्यु = मौत।

मृत्यु के उपरान्त शरीर की दशा का चित्रण रूपक के आधार पर करते हुए कबीर कहते हैं कि अब बाजा नहीं बजता, क्योंकि इसके सब तार टूट गये हैं (अर्थात् शरीर निष्प्राण होने के कारण गतिहीन हो जाता है)। बाजा बिचारा क्या करे जब बजाने वाले ही चले गये (अर्थात् जब प्राण ही चला गया जो गति प्रदान करता था तो शरीर बिचारा क्या करे?)। 60।

जंत्र < सं. यन्त्र = बाजा।

चलती हुई चक्की देखकर कबीर यह सोचकर रो पड़ा कि दो पाटों के बीच में आकर कोई समूचा नहीं निकला। व्यंजना यह कि जिस प्रकार चक्की के दो जाँतों में पड़ कर अन्न पिस जाता है या विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार धरती और आसमान के बीच आकर, जो चक्की के दो विशाल पाटों के समान हैं, सब पिस जाते हैं या विनष्ट हो जाते हैं। 61।

पाटन (सं.) = पत्थर, धातु या लकड़ी का सपाट टुकड़ा; चक्की का पाटा। सालिम < अ. सालम = समूचा; दृढ़।

अपनी-अपनी बारी पर सभी प्यारे मित्र चले गये (स्वर्ग सिंधार गये)। प्राण, अब तेरी बारी भी नित्य प्रति निकट आती जा रही है। तात्पर्य यह कि सभी मृत्यु की छाया में हैं—यह सोचकर सत्कार्य में लग जाना चाहिए। 62।

नेरी = निकट। नीत = नित्य।

पानी का बुलबुला जैसा क्षणिक होता है वैसी ही मनुष्य की भी नश्वर जाति है। देखते-देखते वे विलीन हो जायेंगे—जैसे प्रभात के समय सारे छिप पाते हैं। 63।

परभाति = प्रभात वेला में।

(किसी की मृत्यु के अनन्तर) रौने वाले भी मर गये, जिन्होंने दूसरों के शव को जलाया वे भी मर गये, जो हाय-हाय करके दूसरों का प्रबोधन करते या सहानुभूति प्रकट करते थे वे भी मर गये, तो अब किससे पुकार लगाऊँ (ऐसा कौन बचा?)।

व्यंजना यह है कि किसी के मरने पर जो रोते हैं या उसे जलाते हैं या ढाँढ़स बँधाते हैं उनके बारे में थोड़ी देर के लिए सोचा जा सकता है कि वे अपेक्षाकृत अधिक स्थायी हैं, किन्तु बारी-बारी उनके साथ भी वही सब घटित होता है। इस प्रकार ऐसा कोई नहीं बचता जिससे सहायता के लिए गुहार लगाई जा सके। 64।

नोट

जिन्होंने हमें पैदा किया, वे मर गये, हम भी चलने को उद्यत हैं। हमारे पीछे जो बच्चे हैं उन्होंने भी भार बाँध लिया (अर्थात् जाने की तैयारी कर ली है)। 65।

जिनि = जिनने (कर्ता) या जिनके द्वारा (कारण)। जाए < सं. जा = पैदा किया (कर्तृवाच्य)। चालनहार = चलने वाले, चलने की तैयारी किये हुए। पूंगरा < सं. पौगंड (= पाँच से दस वर्ष की अवस्था का बालक) बालक, बच्चा। बाँधा भार-भार बाँधना (मुहा.) सामान समेट कर यात्रा के लिए तैयार हो जाना। यह यात्रा अन्तिम है, यह तो प्रसंग से सुस्पष्ट ही है।

रहट की माला टूट गयी और केवड़ा (केतक) सूखने लगे। जो पानी की मशीन जानता था वह सींचने वाला अब चला गया। अर्थात् प्राण का धागा टूट जाने पर शरीर के सब अंग जड़ हो जाते हैं, क्योंकि शक्ति का संचार करने वाली आत्मा ही जब उनका साथ छोड़ देती है तो उनमें जीवन कहाँ से आवे? 66।

कबीर ने यहाँ केवल अप्रस्तुत विधान द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना की है अतः अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है। साथ ही सारे प्रतीक कृषक जीवन के बहुपरिचित उपकरणों से लिये गये हैं, यह उसकी अतिरिक्त विशेषता है।

केवड़ा—सं. केत < प्रा. केव + 'ड़' प्रत्यय = केतक जिसके पुष्प अपनी सुगन्धि के लिए प्रसिद्ध हैं। अरहट—सं. अरघट्ट < प्रा. अरहट्ट = सिंचाई का एक यंत्र जिसमें बाल्टियों की माला होती है। माल (सं.) = माला, शृंखला, यहाँ बाल्टियों की माला से तात्पर्य है; आध्यात्मिक पक्ष में साँस या प्राण का धागा। कल = यंत्र (शरीर का प्रतीक)। सींचनहार = सींचने वाला अर्थात् आत्मा।

माली (काल) को आते हुए देखकर कलियाँ (जीवात्माएँ) पुकार लगाने लगीं कि फूली-फूली तो चुन ली गई (यौवन प्राप्त लोग तो चल बसे), कल हमारी भी बारी आने वाली है (बस खिलने भर की देर है!)। संसार की नश्वरता का इसमें हृदयस्पर्शी चित्रण होने के कारण कबीर की अत्यधिक प्रसिद्ध साखियों में से यह एक है। 67।

कबीर कहता है, यह संसार कुछ नहीं है अर्थात् इसका कुछ निश्चयात्मक रूप नहीं—क्षण में ही खारा लगता है, क्षण में ही मीठा। कल महलों में जो आलीजाह (महामन्य) था वही आज श्मशान में दीख पड़ा। 68।

खिन < सं. क्षण। खिन खारा खिन मीठ (मुहा.) = कभी बुरा, कभी अच्छा। अलहजा < अ. आलीजाह = बहुत बड़े रुखे वाला, महामन्य। मैड़ियां = महलों में। मसानां = श्मशान में। दीठ < सं. इष्ट = दीख पड़ा।

कबीर कहता है, जब ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया तब मन शीतल हो गया और जिस अग्नि (त्रिताप) में संसार जलता है वह मेरे लिए जल के समान शीतल हो गई। 69।

गिआन < सं. ज्ञान। बैसंदर < सं. वैश्वानर = अग्नि। तुल. पदमा-वत 364-7 : छप्पन कोटि बसंदर बरा। उदिक < सं. उदक = जल।

राम रूपी बहुमूल्य मणि पा कर ऐ कबीर! गाँठ मत खोलो अर्थात् गाँठ में बाँध कर ही रखो, क्योंकि न वह नगर है जिसके नागरिक इसे खरीदें, न इसके सच्चे पारखी हैं न इसके सच्चे ग्राहक हैं, न इसका मूल्य ही उनके पास है। 70।

पदारथु < सं. पदार्थ = बहुमूल्य मणि, तुल. पदमावत 36-4: रतन पदारथ मानक मोती, 213-4: पदिक पदारथ कर हुँति खोवा। इसकी बहुमूल्यता तथा अलभ्यता के ही कारण जायसी ने पद्मावती को 'पदारथ' कहा है, तुल. 633-9 : रतन जात है आगे लिए पदारथ हाथ। पट्टन (सं.) = नगर (तुलनीय सं. पत्तन = नगर)। पारिखू = पारखी < सं. परीक्षिन् (?)।

मरते-मरते संसार मर गया, फिर भी सचमुच का मरना किसी ने न जाना। कबीरदास ऐसा मरा जिससे कि बार-बार न मरना पड़े।

यहाँ कबीर ने आध्यात्मिक तथा सांसारिक मृत्यु का अंतर बताया है। आध्यात्मिक मरण का तात्पर्य है जीवन्मृत होना या मन को सहजावस्था या उन्मनावस्था में पहुँचाना। ऐसी मौत मरना जो सीख ले वह जरामरण के भाव से मुक्त हो जाता है। 71।

नोट

कबीर कहता है, जब मन निर्मल हो गया जैसा कि गंगाजल होता है, तब भगवान 'कबीर' 'कबीर' कहते हुए मेरे पीछे घूमने लगा। अर्थात् हृदय शुद्ध होने पर केवल परमात्मा की प्राप्ति ही नहीं होती प्रत्युत भक्त की सारी चिंता परमात्मा अपने ऊपर ओढ़ लेता है—उसी अद्वैतावस्था का वर्णन यहाँ कबीर ने अपने विशिष्ट फक्कड़ाना लहजे में किया है। 172।

जीवन से मरना अच्छा है, अगर कोई मरना जान ले। भौतिक मृत्यु के पूर्व ही जो आध्यात्मिक मृत्यु मर जाए अर्थात् जीवन्मृत हो जाय तो वह कलियुग में अजर-अमर हो जाता है।

अजरावर < सं. अजरामर = जरामरण से मुक्त।

कबीर कहता है कि हल्दी पीली होती है और चूना उज्ज्वल भाव (उज्ज्वल रंग का) होता है, किन्तु राम के स्नेह के लाल रंग में ऐसे मिल गये कि दोनों रंग विलीन हो गये। 174।

हल्दी और चूना दो विरोधी मतों के प्रतीक हैं, किन्तु दोनों को मिला देने पर लाल रंग पैदा होता है जिसमें दोनों वर्तमान रहते हुए भी एक ही रंग के दिखलाई पड़ते हैं। साहित्य में लाल रंग प्रेम का माना गया है, अतः इस साखी का 'सनेही' शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। व्यंजना यह है कि राम भक्त न इस पक्ष का होता है और न उस पक्ष का, बल्कि मध्यमार्गी होता है जिसमें दोनों पक्ष अपनी विभाजक रेखाएँ मिटा कर समाविष्ट रहते हैं। अन्य व्यंजना यह है कि जिस प्रकार लाल रंग ही पीले और सफेद को समाहित रखता है, उसी प्रकार प्रेम ही दो विरोधी मतों को मिला सकता है।

भाइ < सं. भाव = स्वभाव, रंग।

हिन्दू राम-राम कहकर मर गया (विनष्ट हो गया) और मुसलमान 'खुदा' 'खुदा' कहकर। कबीर कहता है, जिंदादिल वह है जो दोनों के पास न फटके। कबीर का तात्पर्य यहाँ दुराग्रही हिन्दुओं तथा मुसलमानों से है—ऐसे हिन्दुओं से जो केवल राम को परमात्मा मानकर खुदा का विरोध करते हैं या ऐसे मुसलमानों से जो केवल खुदा को मानकर राम का विरोध करते हैं। 175।

कबीर कहता है, हृद वाले लोगों से (सङ्कीर्ण या सीमित विचार के लोगों से) तनिक भी स्नेहपूर्ण बात मुख से मत बोलो, किन्तु जो निस्सीम में अनुरक्त हों उनके सम्मुख निष्कपट रूप से अपना हृदय खोल कर रख दो। 176।

हृद के जीव = सीमित सा सङ्कीर्ण विचारों के लोग। मुख्यतया मूर्ति पूजकों अथवा बाह्याचारप्रधान विचारधारा के लोगों से तात्पर्य है। हित = स्नेह। मुखां = मुख से। न बोलि = मत बोलो। राचे < सं. रंजय् = अनुरक्त होना, रङ्ग में रँगना, लीन होना। बेहद = निस्सीमता, निराकार ब्रह्म, व्यापक विचार। अन्तर = हृदय।

खिचड़ी बढ़िया खाना है—अगर उसमें थोड़ा सा नमक डाल दें! गोश्त और रोटी के लिए कौन दूसरे का गला कटावे? 177।

खान = खाना, भोजन। खीचड़ी < सं. कृसर = दाल-चावल मिला कर पकाया हुआ भोजन जो साधारण कोटि का व्यंजन माना जाता है। टुक = थोड़ा। बाहै = डाले, मिलावे। हेरा = हिं. अहेरा < प्रा. आहेड < सं. आखेट = शिकार, गोश्त, मांस। तात्पर्य यह है कि सादे से सादे भोजन से क्षुधा शांत करनी चाहिए, क्योंकि स्वाद तथा वासना की तुष्टि में हिंसा तथा अनधिकार चेष्टा अपरिहार्य हो जाती है।

शेख सन्तोष के बिना हज करने काबे क्यों जाता है? जिसका दिल दुरुस्त नहीं, उसको खुदा कहाँ मिलेगा? 178।

सेख < अ. शेख = मुसलमानों के चार वर्गों में से सर्वश्रेष्ठ वर्ग (शेष तीनों सैयद, मुगल, पठान हैं)। जिस प्रकार हिन्दू वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, मुसलमानों में धर्माचार्य को भी शेख कहा जाता है। यहाँ उसे कर्ता तथा सम्बोधन दोनों रूपों में मानकर अर्थ किया जा सकता है। सबूरी < अ. सब्र = संतोष, धैर्य। बाहिरा < सं. बाह्य = बिना; तुल. साखी 34 : साईं मैं तुझ बाहिरा = तथा सा. 57 : राखनहारै बाहिरा, चिड़िअँ खाया खेत। हज (अ) = मक्के की तीर्थयात्रा। काबे < अ. काबा = काबे को; काबा मक्के का पवित्र स्थान है जिसकी परिक्रमा के लिए मुसलमान लोग हज करने जाते हैं। दिल—कबीर ने 'दिल का प्रयोग सर्वत्र स्त्रीलिंग रूप में किया है, तुल. साखी 5: दिल अपनी का सांच। साबित (अ.) = पूरा, अखण्डित, दृढ़, दुरुस्त।

नोट

काशी के निकट ही घर बनावे और गंगा का निर्मल जल पिया करे, लेकिन हरि के नामस्मरण बिना मुक्ति नहीं मिलेगी—ऐसा कबीरदास कहता है। तात्पर्य यह है कि केवल काशी-वास से मुक्ति नहीं मिलती, जैसा लोगों का विश्वास है। मुक्ति मिलती है परमात्मा के नाम में श्रद्धा रखने से। 179।

काठे सं. कण्ठ = निकट, पास में; तुल. साखी 82: केरा काठें बेरि।

कबीर कहता है कि ब्राह्मण सहज भाव से तप्टा और टोकनी लिए फिरा करता है—इस प्रकार पीतल ही के चाव में व राम नाम का महत्त्व जान नहीं पाता। 80।

तस्टा < फा. तश्त (लघुवाचक 'तश्तरी' = ताँवे या पीतल की छोटी तश्तरी जिसमें ठाकुर जी की मूर्ति को स्नान कराते हैं)। टोकनी—देशज 'टोककण' (= दारु नापने का बर्तन—दे. पाइअ. पृ. 396) = पीतल या ताँवे का एक गोल छोटा पात्र जिसमें ठाकुर जी की मूर्ति रखते हैं। टोकनी से मूर्ति निकाल कर तप्टा में उसे स्नान कराते हैं। लीयां फिरै सुभाइ—'सुभाइ' (= स्वभावतः) लिए फिरता है अर्थात् वह अपनी आदत से लाचार है जिससे तप्टा-टोकनी उसके अभिन्न अंग बन गये हैं—उनके बिना उसे चैन नहीं मिलता! पीतल < सं. पित्तल = ताँवे और जस्ते के मिश्रण से बनी धातु: यहाँ तात्पर्य है पीतल की तप्टा-टोकनी से। चाइ = चाव, अभिलाषा, उमंग (तप्टा-टोकनी को ही माँजने-धोने में ब्राह्मण की रुचि अधिक रहती है)।

अपनी सराहना नहीं करनी चाहिए और दूसरों को दरिद्र या हीन नहीं कहना चाहिए—क्या पता कि तुम्हारा अस्थिपंजर किस पेड़ के नीचे कूड़ा बने। 81।

रंक (सं.) = दरिद्र। करंक (सं.) = हड्डी, अस्थिपंजर। मरने के बाद कुछ लोग दफना दिये जाते हैं। हिन्दुओं में भी बहुतों का दाहकर्म नहीं हो पाता और मध्ययुग में तो लोगों का जीवन और भी अनिश्चित रहता था। कोई युद्धस्थल में मरता तो कोई सार्थ के साथ यात्रा करते समय जंगलों में। हड्डी जल कर राख भी हो जाती है तो क्या पता कि कहाँ बहकर लगे। अतः यहाँ 'कूड़ा होइ करंक' का लाक्षणिक अर्थ ही लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि भौतिक अथवा शारीरिक सुखोपभोग की डींग नहीं मारनी चाहिए और किसी को गरीब समझकर उसका उपहास नहीं करना चाहिए।

मैं कुसंग की मारी मर रही हूँ—जैसे केले के पास बेर हो जाय। वह हवा के झोंके में आनन्द से हिलता है और वह चीरती है। अतः बेर जैसे कँटीले शाक्त के संग से बचो या शाक्त का संग बचाओ। 82।

केरा < सं. कदली = केला। काठें < सं. कण्ठ = निकट, पास, तुल. साखी 89: कासी काठें घर करै। हालै = हीलता है। साकत < सं. शाक्त। निवेरि < सं. निवारयू = बचाओ; निवारण करो।

मूर्ख का साथ नहीं करना चाहिए, क्योंकि लोहा कभी जल पर तैर नहीं सकता (वह डूब जाता है—इसी प्रकार मूर्ख भी ले डूबता है)। केला, सीपी और सर्प के मुख में पड़कर एक ही स्वाति नक्षत्र की बूँद तीन प्रकार की हो जाती है (संगति के ही प्रभाव से)। 83।

तिराइ < सं. तृ = तैरता है। भुवंग < सं. भुजंग = सर्प।

भाइ < सं. भाव = स्थिति, रंग, प्रकार, तुल. पद 1-4 : एक भाइ दीसैं सब नारी, तथा साखी 74: चूना ऊजल भाइ। एक बूँद तिहूँ भाइ—प्रसिद्धि है कि स्वाति नक्षत्र की वर्षा की बूँद केले में पड़कर कपूर, सीपी में पड़कर मोती और सर्प के मुख में पड़कर विष हो जाती है। इसी प्रकार एक ही व्यक्ति पृथक्-पृथक् संगति के प्रभाव से पृथक्-पृथक् रूप में ढल सकता है। स्वाति बूँद के सम्बन्ध में और भी अनेक प्रसिद्धियाँ हैं—जैसे बाँस में पड़कर बंसलोचन बन जाना आदि।

स्वामी (परमात्मा) के साथ सच्चाई का आचरण करो और दूसरों से शुद्ध भाव या सिधाई का—फिर चाहे बाल लम्बे कर लो (जटा बढ़ा लो) चाहे उसे सफाचट मुड़ा लो अथवा चाहे उसे मुड़ा कर विचारण करो। तात्पर्य यह है कि बाहरी वेशभूषा चाहे जैसी हो, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, यदि मन शुद्ध हो। 84।

सेती = से। सुधभाइ—शुद्ध + भाव = सिधाई या सूधापन।

भावै = चाहे। घुराड़ि < सं. घूर्ण = घूमो, चक्कर लगाओ।

इस अर्थ के अनुसार 'मुड़ाइ' को पूर्वकालिक क्रिया का रूप मानना पड़ेगा। (मुड़ाइ = मुड़ाकर)। 'धुराड़ि' पूर्वकालिक का अर्थ 'घरकर या घिसकर' (अर्थात् सफाचट) भी किया जा सकता है, किन्तु यह अर्थ लेने पर 'मुड़ाइ' को आज्ञासूचक क्रिया रूप मानना पड़ेगा (मुड़ाइ = मुड़ाओ, मुंडन कराओ)।

नोट

साधु हो गया और चार मालाएँ गले में डाल लीं तो उससे क्या हुआ? बाहर-बाहर तो ईगुर रँग कर लाल चमकदार कर दिया और अंदर भंगार भरा है अर्थात् बाहरी वेशभूषा तो आकर्षक बना ली, किन्तु अन्दर मन में वासनाओं का कचड़ा भरा है। 185।

मेली = डाल ली, पहन ली। चारि = चार पर्त या चार अदद (माला)। ढोला = हिं. डौरना (डौल देना, रूप देना, रंगना) = रंगा या पोता हुआ। हिंगला < सं. हिंगुल = ईगुर, सिंगरफ (सिंदूर की तरह का लाल चूर्ण)। भंगार < सं. भ्रष्ट + अंगार < जले हुए कोयले की राख, कचड़ा। 'आइने अकबरी' में सुनारी के विशिष्ट शब्द के रूप में इसकी व्याख्या दी हुई है जिसके अनुसार चार सेर ताँबा और डेढ़ सेर सीसा मिलाकर गला देने से 'रुई' बनती थी जिसे यहाँ के लोग (भारतीय) अपनी भाषा में 'भंगार' कहते थे। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह विशिष्ट अर्थ उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। बोलचाल में भी यह शब्द इस अर्थ में कहीं प्रचलित नहीं है। सामान्यतया यह राख या कूड़ा-करकट का ही समानार्थी है।

केशों ने क्या बिगाड़ा है जो उन्हें सौ बार मूड़ता है? मन को ही क्यों नहीं मूड़ते या शुद्ध करते, जिसमें विषय-विकार भरे हैं? 186।

माला हाथ में पकड़कर उँगली से उसकी गुरिया गिना करता है, किन्तु मन चारों ओर दौड़ता रहता है। जिसको फेरने से हरि मिलता है वह मन काठ की स्थिति में (काष्ठवत् जड़) हो गया। 187।

माला फेरने से कुछ नहीं होता—अगर मन के साथ (मन में) कतरनी है। जब तक हरि का साक्षात्कार नहीं होता तभी तक हाथ में यह सब लता पत्तर रहता है। 188।

काती < प्रा. कत्तिआ < सं. कर्त्रिका = कतरनी, कैची। पतड़ा—सं. पत्र < प्रा. पत्त + 'डा' प्रत्यय = खर-पतवार, व्यर्थ का जंजाल, लता पत्तर।

हम भी मूर्ति पूजते और जंगल की नीलगाय होते (नाना तीर्थों में भटकते फिरते), लेकिन गनीमत हुई कि सद्गुरु की कृपा हुई और हमने सिर का बोझा दूर फेंक दिया। 189।

पाहन < सं. पाषाण = पत्थर अर्थात् मूर्ति। रन < सं.

अरण्य = जंगल, तुल. पद्मावत 104-8 : बरुनि बान अस ओपहिं, बेघे रन बन ढंख, तथा अवधी मुहावरा : रन न बिहार (= न अरण्य न बिहार या बस्ती)। रोझ < सं. ऋष्य = नीलगाय।

जंगली नीलगाय बहुत तेज दौड़ती है। अनेक तीर्थों में भ्रमण करने वालों को 'रन के रोझ' कहकर कबीर ने यहाँ उन पर व्यंग्योक्ति का प्रहार किया है।

मन को मथुरा, दिल को द्वारका और काया को काशी समझो। दसवाँ द्वार 'ब्रह्मरंघ्र' देवालय है, उसमें प्रकाशमान ज्योति (ब्रह्म-ज्योति) को पहचानो। 190।

देहुरा—सं. देवकुल < प्रा. देउल, देहुड़ > हिं. देहुरा = देवालय, मंदिर। सिद्धों, नाथयोगियों तथा संतों की यह समान रूप से मान्यता है कि जो ब्रह्मांड में है, वही पिंड में भी है (यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे; अथवा: ब्रह्मंडे सो पिंडे जानि, मांन सरोबरि करि असनांन—कबीर)। इसलिए शरीर को देवालय के समान माना गया है।

राम-राम सब कोई कहता है, लेकिन कहने में बहुत विचार-वैभिन्न है (कोई किसी भाव से कहता है, कोई किसी अन्य भाव से)। वही राम साधु कहता है, वही कौतुक करने वाला या देखने वाला भी— किन्तु दोनों के कहने में भाव का अन्तर है। 191। सती = सत्याचरण वाला; साधु।

मानव शरीर पानी का पुतला है जिसमें पवन (प्राण) का संचार कर दिया गया, किन्तु इस क्षणिक पानी के बुलबुले में भी रचयिता ने ऐसी ज्योति स्थापित कर दी है जिससे यह नाना वाणियों का वक्ता हो गया है। 192।

हरि मोतियों की माला के समान है जो कच्चे धागे में पिरोई गयी हो, इसलिए यत्न करो (यत्नपूर्वक इसकी रक्षा करो), अन्यथा अनेक झाड़ हैं—कहीं किसी में लग कर वह टूट जाएगी। 193।

तात्पर्य यह है कि परमात्मा का रहस्य प्रयत्नपूर्वक गोपनीय है—

गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः।

पोई < प्रा. पोइअ < सं. प्रोत = पिरोई हुई।

नोट

पानी से भी पतला, धुएँ से भी झीना, वेग में पवन से भी अधिक उतावला या त्वरापूर्ण—ऐसे मन को कबीर ने दोस्त बनाया है। 94।

मेरे मन में विरक्ति की ऐसी एक दरार पड़ गई कि फूटे हुए स्फटिक पत्थर की भाँति वह फिर न जुड़ सका अथवा वह स्फटिक पत्थर की भाँति ऐसा फटा कि फिर न जुड़ सका। 95।

संसार से मन ऐसा फटा कि फिर उसमें न मिल सका—इस भार को बड़ी ही सादी किन्तु प्रभावपूर्ण भाषा में कबीर ने इस साखी में प्रस्तुत किया है।

फटिक पखानं < सं. स्फटिक पाषाण = शीशे की तरह का पारदर्शी एक सफेद पत्थर। फाटा फटिक पखानं ज्यों—‘फाटा’ यहाँ विशेषण तथा क्रिया दोनों रूपों में ग्रहण किया जा सकता है; इसलिए व्याख्या में दोनों अर्थ दिये गये हैं जो समान रूप से ग्राह्य प्रतीत होते हैं।

मन की रुचि पर नहीं चलना चाहिए—अपने जी की यह आदत छोड़ दें। तकुवे के तार (सूत) की तरह उसे वापस पलट कर ला। तात्पर्य यह है कि मन की वृत्तियों को, जो स्वभाव से बहिर्गामिनी होती है, बाहर भागने से रोककर अन्दर ही केन्द्रित करना चाहिए अर्थात् आत्मचिन्तन में लगाना चाहिए। 96।

मतै = मत पर, मन की लहर पर। चालिए = चलना चाहिए, आचरण करना चाहिए। जीव = जी, चित्त। बांनि = आदत, स्वभाव। ताकू = सं. तर्कु + चर्खे में लोहे का वह डंडा जिस पर सूत कातकर लपेटा जाता है, तकुवा। केरा = का (अथवा का सम्बन्ध कारक का परसर्ग) तार (सं.) = तंतु, तागा (सूत के लिए जुलाहों में ‘तार’ शब्द ही अधिक प्रचलित है)। अपूठा = उलटा, वापस; तुल. दादू-वाणी, साखी 7-20 : सुरति अपूठी फेरि करि, आतम माहें आणि। आनि = आनो, लाओ।

कबीर कहता है, भली है मधुकरी जिसमें भाँति-भाँति के अन्न खाने को मिलते हैं। इसमें किसी का दावा नहीं, यह बिना विलायत का बड़ा राज है। 97।

मधूकरी < सं. मधुरी = सीझे (पके) हुए भोजन की भिक्षा। दावा (अ.) = स्वत्व, हक; यह कथन कि अमुक पर मेरा भी अधिकार है। बिल्लाइट < अ. विलायत = विदेश, उपनिवेश, दूर का सूबा। कोई राज्य बड़ा तब होता है जब उसमें उपनिवेश (विलायत) हों। भिक्षाटन ऐसे राज्य के समान है जिसमें विदेश-उपनिवेश जाने का कोई टंटा-बखेड़ा नहीं। किसी एक घर से माँग लेने पर पूरा भोजन मिल गया, फिर तो वही सुख जो विदेशों पर प्रभुत्व रखने वाले राजा को मिलता है। तुल. गोरखबानी, सबदी 102: जोगी सो जो मन जोगवै, बिन बिल्लाइट राज भोगवै। इससे ज्ञात होता है कि मध्ययुग में ‘बिन बिल्लाइट राज’ ऐसी लोकोक्ति ही प्रचलित हो गई थी।

गाने ही में रोना छिपा है और रोने ही में गाना; इसी प्रकार कोई वैरागी घर बना लेता है (गृहस्थी जोड़ता है), कोई गृहस्थ वैराग रमा लेता है। 98।

गावन < सं. गायन = गान। रोज < प्रा. रुज्ज < सं. रुद् = रोना; तुल. पद्मावत 247-2: बरजा पितैं हँसी और रोजू। विशेष—गृहस्थ और वैरागी में जो सूक्ष्म अन्तर है उसको स्पष्ट करने के लिए कबीर ने बड़ा ही सूक्ष्म दृष्टांत चुना है। गेरुआ वस्त्र पहन लेने से और जंगल में बसने से ही कोई वैरागी नहीं हो जाता, यदि वासनाएँ उसका साथ नहीं छोड़तीं। दूसरी ओर एक गृही भी वीतराग हो सकता है जैसे जनक थे। अर्थात् गृही और वैरागी की सच्ची परिभाषा उनके मन के विश्लेषण पर आधारित है—ठीक वैसे ही जैसे गाने में रोना छिपा रह सकता है और रोने में गाना।

कबीर कहता है, पढ़ना दूर करो और पुस्तक फेंक दो। वर्णमाला के बावन अक्षरों को शोध कर रकार और मकार में चित लगाओ (जिनसे ‘राम’ बनता है—शेष सारी पढ़ाई व्यर्थ है!)। 99।

रै ममैं—रंकार तथा ममंकार, ‘र’ और ‘म’। तुल. मानस, बाल. दो. 20—

एक छत्रु एक मुकुट मनि, सब बरननि पर जोउ।

तुलसी रघुबर नाम के, बरन बिराजत दोउ ॥

शनैः शनैः सब चले गये—सुत गया, वित्त गया, कामिनी गई और काम गया; अर्थात् सभी वासनाएँ समाप्त हो गई—अब तो कबीरदास राम में ‘एकमेक’ होकर मिल रहा है।

तात्पर्य यह है कि जैसी तीव्र आसक्ति सांसारिक एषणाओं में थी, शनैः शनैः उनसे विमुख होने पर वैसी ही तीव्र आसक्ति राम में हुई जिससे चिंत्य और चिंतक में एकरूपता हो गयी।¹⁰⁰

विष्णु पुराण में कहा गया है—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥
युवतीनां यथा यूनि यूनाञ्च युवतीष्वपि ।
मनोऽभिरमन्ते तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि ॥

अर्थात् जिस प्रकार अविवेकी जनों की प्रीति विषयों में होती है उसी प्रकार की आसक्तिपूर्ण किन्तु अनपायिनी भक्ति तुम्हारा स्मरण करते हुए मेरे हृदय में हो। जैसे युवतियों की प्रीति युवकों में और युवकों की युवतियों में होती है वैसे ही तुझमें रमण करते हुए मेरा मन अनुरक्त हो। तुल. राम-चरित्र मानस का अन्तिम दोहा—

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहिं राम ॥

कबीर और तुलसी दोनों ने सहज आसक्ति पर जो बल दिया है वह विशेष रूप से चिन्तन करने योग्य है। भक्ति का वस्तुतः यही रहस्य है। मानस का यह अन्तिम दोहा है, जिससे इस सिद्धान्त के प्रति तुलसी की निष्ठा स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। कबीर का भी भक्तिमार्ग ऐसा ही है जिसमें सारी सांसारिक वासनाएँ धीरे-धीरे राम के लिए स्थान छोड़-छोड़ कर विलीन होती जाती हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य बताएं—

- चौंसठ कलाएं जिनका उल्लेख कामशास्त्र में है, की रचना कबीरदास ने की है।
- सद्गुरु के समान दूसरा कोई सगा नहीं एवं ज्ञान या चित्त शुद्धि के समान दूसरा कोई दान नहीं, ऐसा कबीर मानते थे।
- कबीर कहते हैं यह संसार कुछ नहीं अर्थात् इसका कुछ निश्चयात्मक रूप नहीं—क्षण में ही खारा लगता है, क्षण में ही मीठा।

1.3 सारांश (Summary)

कबीरदास का जन्म सन् 1398 में काशी में हुआ था। ऐसा माना जाता है कबीर को एक ब्राह्मणी ने जन्म दिया था किन्तु लोकलाज से बचने के लिए लहरतारा नामक तालाब के किनारे रख दिया।

कबीर-काव्य के वर्ण्य-विषय को तीन वर्गों में रख सकते हैं

कबीर का समस्त काव्य सहज-स्वाभाविक है। उन्होंने जिस चीज को जैसा अनुभव किया, उसको वैसे ही अभिव्यक्त कर दिया है।

कबीर-काव्य की भाषा पर विद्वानों के विविध और परस्पर विरोधी मत हैं। स्वयं कवि ने उसको “पूर्वी” कहा है जिसमें बनारस, मिर्जापुर और गोरखपुर आदि में प्रचलित शब्दावली प्रधान है।

कबीर ने प्रायः सधुक्कड़ी छन्दों का प्रयोग किया है जिनमें प्रमुख हैं—सबद, साखी, दोहा, रमैनी।

1.4 शब्दकोश (Keywords)

- रबाब:** सारंगी की तरह का एक बाजा, जो भारी रागों को बजाने के काम आता है।
- कस्तूरी:** सुगन्धित द्रव्य जो ठंडे पहाड़ों पर रहने वाले विशेष प्रकार के हिरन की नाभि से निकलता है।

1.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. कबीरदास की काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. मेरा मुझ में कछु नहीं, जो कछु है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे मेरा।
उपरोक्त पंक्तियों का काव्य-सौंदर्य लिखिए।

उत्तर-स्वमूल्यांकन (Answer-Self Assessment)

- | | | | |
|---------------|---------|--------------------------|---------|
| 1. कागद, कबीर | 2. शांत | 3. हजारी प्रसाद द्विवेदी | 4. (द) |
| 5. (ब) | 6. (स) | 7. असत्य | 8. सत्य |
| 9. सत्य | | | |

1.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



- पुस्तकें
1. कबीरवाणी—तिवारी पारसनाथ, अनीता प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली।
 2. कबीर (जीवन और दर्शन)—चंडक राम निवास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
 3. कबीर-एक अनुशीलन—वर्मा रामकुमार, साहित्य भवन, इलाहाबाद।
 4. कबीरवाणी-ज्ञानामृत—आचार्य रामानुज सरस्वती, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली।

इकाई 2

नोट

कबीर की भक्ति-भावना**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

2.1 कबीर की भक्ति-भावना

2.1.1 कबीर की भक्ति का स्वरूप

2.2 सारांश (Summary)

2.3 शब्दकोश (Keywords)

2.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

2.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- कबीर की भक्ति-भावना का मर्म समझने में।
- कबीर की भक्ति के स्वरूप को जानने में।
- कबीर के नाम स्मरण के महत्त्व को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

सन्त कबीर को यदि प्रेम था तो केवल परमात्मा से। सांसारिकता को तो उन्होंने केवल अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए बोझ की तरह ढोया। यद्यपि वे इस सांसारिकता को त्यागकर शुद्ध वैराग्यवादी जीवन व्यतीत कर सकते थे, किन्तु तब शायद उन पर जीवन से पलायन कर जाने की मुहर लग जाती और शायद तब लोग उनकी बातों को उतनी गम्भीरता से न लेते। उन्होंने जो कहा, वैसा अपने जीवन में स्वयं करके दिखाया। उनकी भक्ति भावना ही उनके प्रेम का आधार थी। कबीर निर्गुण भक्ति में आस्था रखते थे।

2.1 कबीर की भक्ति-भावना

कबीर का जन्म भले ही लहरतारा के कमल-पुष्प पर न हुआ हो, किन्तु उन्होंने अपनी जीवन शैली और विचारधारा से यह सिद्ध करके दिखा दिया कि जैसे कमल-पत्र जल में रहते हुए भी जल से अलग रहता है, यानि उस पर जल ठहर नहीं पाता है, वैसे ही सांसारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए सांसारिकता से अलग रहा जा सकता है और उन्होंने वैसा कर दिखाया। संसार में व्यक्ति को सबसे अधिक प्रेम अपनी सन्तान से होता है और उसमें भी पुत्र से, किन्तु कबीर में वह पुत्र-प्रेम कहीं दृष्टिगत नहीं होता। उन्होंने स्वयं इस सन्दर्भ में लिखा है—बूड़ा वंश कबीर का उपज्यो पूत कमाल।

2.1.1 कबीर की भक्ति का स्वरूप

कबीर की भक्ति ही उनके प्रेम का आधार था। जहाँ कहीं भी उन्होंने सांसारिक प्रेम की बात कही है, वहाँ भी उनकी रहस्यवादी प्रवृत्ति अलौकिक प्रेम अर्थात् भक्ति का ही द्योतन कराती है। भारतीय भक्तिधारा में वैष्णव भक्ति के दो रूप मिलते हैं—सगुण और निर्गुण। कबीर निर्गुण भक्तिधारा के अनुयायी थे। उनकी भक्ति का स्वरूप निम्नलिखित है—



टास्क

कबीर और तुलसी की भक्ति में अंतर स्पष्ट कीजिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—

1. कबीर को से प्रेम था।
2. कमल-पत्र जल में रहते हुए भी से अलग रहता है।
3. भारतीय भक्ति में वैष्णव भक्ति के रूप मिलते हैं।

(1) निराकार ब्रह्म की उपासना—कबीर ईश्वर के निर्गुण एवं निराकार रूप के प्रति भक्ति-भाव रखते थे। उनकी भक्ति-भावना उस ईश्वर के प्रति थी, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्राणतत्व होकर भी निर्गुण, निराकार एवं सर्वव्यापी है। यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी से उत्पन्न होती है और उसी में समाहित हो जाती है—

पाणीरी ही तैं हिम भया, हिम है गया बिलाइ।

जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाइ ॥

(2) एक ही परमात्मा—कबीर की भक्ति उस परमात्मा के प्रति है, जो समस्त सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। वह प्राणिमात्र का परमात्मा है; किसी जाति, धर्म या समुदाय में अपना भिन्न अस्तित्व रखनेवाला परमात्मा नहीं। उन्होंने हिन्दुओं के बहुदेववाद का विरोध किया है तो इस्लाम धर्म के उस एकेश्वरवाद का भी विरोध किया है, जो खुदा को सातवें आसमान पर बन्दे से अलग बैठा बताता है—

मुसलमान का एक खुदाई।

कबीर का स्वामी रह्या रमाई ॥

कबीर का परमात्मा इस दृष्टि से वैदिक 'पुरुषसूक्त' (ऋग्वेद का एक सर्ग) के परमात्मा से समानता रखता है। उसकी समानता उपनिषदों के परब्रह्म, ऋग्वेद के परम-पुरुष के परमात्मा एवं आचार्य शंकर के अद्वैत ब्रह्म से की जा सकती है।

(3) कबीर-भक्ति में प्रेम का माधुर्य—कबीरदास ने अपनी साखियों एवं पदों में यत्र-तत्र प्रेम का महत्त्व बताते हुए उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है, किन्तु यहाँ स्मरणीय है कि कबीर के प्रेम का यह भाव किसी मनुष्य के प्रति नहीं है, वरन् उस परम-तत्त्व के प्रति है, जिससे जीव अपनी अज्ञानता के कारण दूर है। ज्ञान प्राप्त करने के बाद कबीर की आत्मा उसी परमात्मारूपी प्रियतम से मिलने के लिए किसी विरहातुर नारी की तरह व्याकुल है—

बहुत दिनन की जोबती, बाट तुम्हारी राम।

जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मन नाहीं विश्राम॥

कबीर की भक्ति में प्रेम के माधुर्य का पुट है। इस माधुर्य भाव में प्रेमाकुल विरह की अभिव्यक्ति हुई है। यद्यपि उनकी भक्ति पर सूफी विचारधारा का प्रभाव है, तथापि इसकी मधुरता में शृंगार रस की प्रधानता है। इस विरहातुर प्रेम-भाव की अधिकता किसी प्रेमिका की भाँति प्रियतम पर स्वयं के अस्तित्व को मिटा देने की सीमा तक है—

यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धूवाँ जाइ सरगि।

मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अगि ॥

कबीर के प्रेम का यह स्वरूप ईश्वर के प्रति उत्कृष्ट प्रेम-भक्ति की भावना से ओत-प्रोत है। वे परमात्मा की प्राप्ति हेतु प्रेमाकुल हैं और उसकी प्राप्ति के मार्ग की विकटता को समझते हुए भी प्रेम की वेदी पर स्वयं को बलिदान कर देना चाहते हैं। वे कहते हैं कि प्रेम का मार्ग अति विकट है। इसमें मनुष्य को अपने अहंकार अथवा अपने अस्तित्व के प्रति अभिमान को त्यागना होता है, तभी वह अपने प्रियतम के हृदयरूपी घर में प्रवेश पा सकता है—

नोट

कबिरा यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।

सीस उतारै हाथि करि, सो पैठे घर माहिं ॥

(4) **नाम-स्मरण का महत्त्व**—कबीर की भक्ति में नाम-स्मरण का अत्यधिक महत्त्व माना गया है। वे नाम के स्मरण को ही परमात्मा की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन मानते हैं, किन्तु नाम-स्मरण हेतु वे किसी भी प्रकार के बाहरी आडम्बरों के प्रबल विरोधी हैं। कबीर मुँह से ईश्वर के नाम को जपने या माला फेरने की आलोचना करते हैं। उनके अनुसार नाम का स्मरण मन से होना चाहिए—

माला तो कर मैं फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।

मनुवा तो दस दिसि फिरै, सो तो सुमिरन नाहिं ॥

प्रभु-नाम के स्मरण का महत्त्व बताते हुए कबीर कहते हैं—

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ में रही न हूँ।

बारी फेरि बलि गई, जित देखौं तित तूँ।

(5) **गुरु की महत्ता**—कबीर की भक्ति में गुरु का महत्त्व ईश्वर से भी श्रेष्ठ है। उनकी भक्ति गुरु की ही देन है। इसीलिए वे भक्ति-मार्ग का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु की सेवा करना आवश्यक मानते हैं—

“गुरु सेवा ते भक्ति कमाई।”

(6) **मध्यम मार्ग**—कबीर सांसारिकता को त्यागकर जंगल में निवास करने या शरीर को कष्ट देकर ईश्वर की भक्ति करने के समर्थक नहीं थे। वे मध्यममार्गी भक्ति को महत्त्व देते थे, जिसे प्रत्येक मनुष्य सद्गुरु से ज्ञान प्राप्त कर, मन से प्रभु-नाम का स्मरण करके और बिना किसी आडम्बर के, सरल भक्ति भाव से अपना सकता है।

(7) **जीव और ब्रह्म की एकता**—कबीर जीव को ब्रह्म का ही रूप मानते थे, अर्थात् उनकी दृष्टि में जीव उस परमात्मा का ही अंग है अथवा प्रत्येक जीव के रूप में परमात्मा ही विद्यमान है, तभी तो वे कहते हैं—

घट-घट है अविनासी, सुनहुँ तकी तुम शेख।



नोट्स

कबीर का निर्गुण परमात्मा अद्वैतवादी दर्शन (जीव और ब्रह्म अद्वैत अर्थात् दो नहीं हैं) का ही परमात्मा है।

(8) **जीव का आत्म-समर्पण भाव**—सगुण एवं निर्गुण दोनों प्रकार की भक्ति में परमात्मा की प्राप्ति के लिए स्वयं के अहंकार का त्याग एवं आत्मसमर्पण को आवश्यक माना गया है। कबीर भी उस परमात्मा की प्राप्ति के लिए अपना सारा अहंकार त्यागकर उस परमात्मा में ही एकाकार हो जाने पर बल देते हैं—

लाली मेरे लाल की, जित देखहुँ तित लाल।

लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ॥



क्या आप जानते हैं

कबीर उस परमात्मा की प्राप्ति के लिए अपना सारा अहंकार त्यागकर उस परमात्मा में ही एकाकार हो जाने पर बल देते हैं।

(9) **निर्मल भाव**—कबीर भक्ति के लिए हृदय की निर्मलता को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं, बाह्याडम्बरों को नहीं। वे इसके लिए किसी जाति-पाँति या ऊँच-नीच को महत्त्व नहीं देते। वे स्पष्ट कहते हैं कि भगवद्भक्ति के लिए किसी जाति-विशेष की आवश्यकता नहीं है—

जाति पाँति पूछे नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।

यदि हृदय निर्मल नहीं, तो परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती—

माला तो कर मैं फिर, जीभ फिर मुख माहिं ।

मनुवाँ तो दस दिसि फिर, सो तो सुभिरन नाहिं ॥

(10) माया का प्रपंच—भक्ति के मार्ग में माया ही सबसे बड़ी बाधा है। कबीर ने माया के जिस स्वरूप की व्याख्या की है, वह विशिष्टाद्वैत है। यह माया परब्रह्म की एक ऐसी रहस्यमयी शक्ति है, जो विश्वमोहिनी के रूप में प्रकट होकर सम्पूर्ण जीवों को फँसाए रहती है। वह ऐसी ठगिनी है, जो सदैव त्रिगुणी फाँस हाथ में लिए रहती है। इससे बचने की कोई लाख चेष्टा करे, यह उसका पीछा नहीं छोड़ती—

मीठी-मीठी माया तजि न जाई ।

अग्यानी पुरुष को भोलि-भोलि खाई ॥

(11) प्रणय-भाव—कबीर की भक्ति की एक महती विशेषता यह है कि वह अधिकांश स्थानों पर प्रेमी-प्रेमिका के भाव में व्यक्त होती है। सूफियों के प्रभाव से प्रभावित उनकी इस भक्ति-भावना का एक चित्र यहाँ द्रष्टव्य है—

भीजै चुनरिया प्रेम-रस बूँदन ।

आरती साज के चली है सुहागिन, प्रिय अपने को बूँदन ॥

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त कबीर की भक्ति में अपने इष्टदेव के अनुकूल गुणों के ग्रहण करने का संकल्प, प्रतिकूल गुणों का त्याग, ईश्वर द्वारा रक्षा का विश्वास एवं परमात्मा के प्रति दीनता का भाव आदि विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। यहाँ यह स्मरण रखना समीचीन होगा कि कबीर के राम निराकार परमात्मा ही हैं। राम के प्रति कबीर की भक्ति को देखकर उसे सगुण परमात्मा की भक्ति नहीं समझना चाहिए। राम का अर्थ कुछ विद्वान् उनके गुरु रामानन्द से लेते हैं, कुछ दशरथ पुत्र राम से, किन्तु यह दोनों ही अर्थ उचित नहीं हैं। वस्तुतः राम के नाम से कबीर ने निर्गुण निराकार ब्रह्म को ही सम्बोधित किया है। इस विषय में डॉ. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना के विचारों को भी यहाँ उद्धृत करना युक्तियुक्त होगा। वे लिखते हैं—“कबीर एक ऐसी भक्तिधारा को प्रवाहित करना चाहते थे, जिसे सभी वर्ण या सभी धर्म के व्यक्ति बिना किसी हिचकिचाहट के अपना सकें। उस समय हिन्दू एवं मुसलमानों में पारस्परिक वैमनस्य एवं ईर्ष्या-द्वेष अत्यधिक बढ़ रहे थे। अतः कबीर ने अपनी निर्गुण भक्ति का आश्रय लेकर दोनों जातियों की कटुता एवं वैमनस्यता की भावना को दूर करके एक ऐसी भक्ति का प्रचार किया, जिसमें राम और रहीम, कृष्ण और करीम, महादेव और मुहम्मद की एकरूपता स्थापित करके एक ईश्वर की उपासना पर जोर दिया गया था।” वास्तव में कबीरदास अपनी निर्गुण भक्ति-भावना के द्वारा हिन्दू-मुसलमानों के वैमनस्य को दूर करने में काफी हद तक सफल हुए। यही कारण है कि बहुत बड़ी संख्या में दोनों धर्मों के लोग उनके अनुयायी हो गए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न—

- कबीर की भक्ति किस परमात्मा के प्रति है?
 - (अ) जो समस्त सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है
 - (ब) जो समस्त सृष्टि के कण-कण में व्याप्त नहीं है।
 - (स) न (अ) और न (ब)
 - (द) उपरोक्त में कोई नहीं
- कबीर किसके समर्थक नहीं थे?
 - (अ) जो शरीर को कष्ट देकर ईश्वर की भक्ति करते हैं
 - (ब) जो भोजन कर भक्ति करते हैं।
 - (स) न (अ) और न (ब)
 - (द) उपरोक्त में से कोई नहीं
- भक्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है?
 - (अ) प्रेम
 - (ब) घृणा
 - (स) माया
 - (द) इनमें से कोई नहीं

2.2 सारांश (Summary)

नोट

सन्त कबीर को यदि प्रेम था तो केवल परमात्मा से। सांसारिकता को तो उन्होंने केवल अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए बोझ की तरह छोड़ा।

जहाँ कहीं भी उन्होंने सांसारिक प्रेम की बात कही है, वहाँ भी उनकी रहस्यवादी प्रवृत्ति अलौकिक प्रेम अर्थात् भक्ति का ही द्योतन कराती है।

कबीर-भक्ति में प्रेम का माधुर्य—कबीरदास ने अपनी साखियों एवं पदों में यत्र-तत्र प्रेम का महत्त्व बताते हुए उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

कबीर सांसारिकता को त्यागकर जंगल में निवास करने या शरीर को कष्ट देकर ईश्वर की भक्ति करने के समर्थक नहीं थे।

राम का अर्थ कुछ विद्वान् उनके गुरु रामानन्द से लेते हैं, कुछ दशरथ पुत्र राम से, किन्तु यह दोनों ही अर्थ उचित नहीं हैं। वस्तुतः राम के नाम से कबीर ने निर्गुण निराकार ब्रह्म को ही संबोधित किया है।

2.3 शब्दकोश (Keywords)

1. सुबरन: सोना
2. जीम: भोजन करना
3. प्रतिकूल: विपरीत, उल्टा

2.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. कबीर की भक्ति के विभिन्न स्वरूपों को समझाइए।
2. 'कबीर ने अपनी भक्ति में बाह्य आडम्बरों का विरोध किया है' क्या आप इस बात से सहमत हैं? स्पष्ट कीजिए।
3. 'कबीर हिन्दू और मुसलमानों को एक साथ लेकर चलते हैं। वे प्रेम पर बल देते हैं'—उपरोक्त कथन पर अपने मत प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर-स्वमूल्यांकन (Answer-Self Assessment)

- | | | | |
|-------------|--------|-------|--------|
| 1. परमात्मा | 2. जल | 3. दो | 4. (अ) |
| 5. (अ) | 6. (स) | | |

2.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. कबीरवाणी—तिवारी पारसनाथ, अनीता प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली।
2. कबीर (जीवन और दर्शन)—चंडक राम निवास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
3. कबीर-एक अनुशीलन—वर्मा रामकुमार, साहित्य भवन, इलाहाबाद।
4. कबीरवाणी-ज्ञानामृत—आचार्य रामानुज सरस्वती, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली।

इकाई 3

नोट

कबीर की भाषा-शैली**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

3.1 कबीर की भाषा-शैली

3.1.1 कबीर की भाषा और उसका वैविध्य

3.1.2 कबीर की शैली और उसका वैविध्य

3.2 सारांश (Summary)

3.3 शब्दकोश (Keywords)

3.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

3.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- कबीर की भाषा-शैली को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

कबीरदास ने अपनी रचनाओं में पंजाबी, राजस्थानी, बघेली, ब्रजभाषा, खड़ीबोली, भोजपुरी, अरबी, फारसी, सिन्धी, गुजराती, बाँग्ला तथा मैथिली आदि अनेकानेक बोलियों तथा भाषाओं का प्रयोग किया है। इतनी भाषाओं के एक-समान प्रयोग करने के कारण कबीर की भाषा का अध्ययन करने में एक सबसे बड़ी समस्या समीक्षकों के सामने यह आ खड़ी होती है कि उनकी भाषा का अध्ययन किस विशेष बोली अथवा भाषा को आधार मानकर किया जाए और उनकी बोली को क्या नाम दिया जाए? इस समस्या को स्वयं ही सुलझाते हुए समीक्षकों ने उनकी भाषा को एक विशिष्ट नाम दिया—‘सधुक्कड़ी अन्नकूट’। विद्वानों ने सधुक्कड़ी अन्नकूट को साधुओं की भाषा कहा है, जिसमें लिंग, वचन और कारक आदि का कोई बन्धन नहीं होता। इसमें विभिन्न बोलियों के शब्द, पद-विन्यास आदि ज्यों-के-त्यों अनगढ़ रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं। इसका एक मुख्य कारण यह होता है कि ये साधुगण कहीं एक स्थान पर स्थायी रूप से नहीं रहते, वरन् विभिन्न भाषा-भाषी क्षेत्रों का भ्रमण करते रहते हैं, जिस कारण उन भाषाओं के शब्द और पद-विन्यास स्वाभाविक रूप से उनकी भाषा में आ जाते हैं।

3.1 कबीर की भाषा-शैली

कबीर की बहुआयामी भाषा को सधुक्कड़ी के अतिरिक्त कोई अन्य नाम दे पाना वास्तव में दुष्कर है। कविता करना क्योंकि कबीर का उद्देश्य न था; अतः उन्होंने उसकी भाषा पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। जो मुँह में आया, वही उनकी भाषा और कविता बन गया। वे अपनी आत्मा की प्रेरणा के अनुसार कार्य करते थे। उनकी वाणी को सुगठित भाषा की आवश्यकता न होकर भावों की आवश्यकता थी। कबीर के पदों में लगभग आधा दर्जन भाषाओं के शब्द उपलब्ध होते हैं।

3.1.1 कबीर की भाषा और उसका वैविध्य

कबीर की भाषा में विभिन्न भाषाओं का सम्मिश्रण है। परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर के काव्य से विभिन्न भाषाओं के निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—

अवधी— “जब तू तस तोहि कोई न जान ।”

“तैसें नाचत मैं दुख पावा ।”

भोजपुरी— नाँ हम जीवत मुख न ले माँही

× × ×

दाँत गैल मोर पान खात, केस गैल मोर गंग नहात ।

ब्रजभाषा— अपनापौ आपुन ही बिसरतौ

× × ×

लोद्यों भौमि बहुत पछितानौं, लालचि लोगौ करत कर्नीं ।

खड़ीबोली— करण किया करम का नाम

यह मन चंचल चोर है, यह मन सुद्ध ठगार ।

पंजाबी— लूण बिलग्गा पाँणियां पाँणि लूँण बिलग्ग ।

राजस्थानी— क्या जाणों उस पीव कूँ, कैसे रहसी रंग

× × ×

बीछड़िया मिलियौं नहीं, ज्यों काँचली भुवंग ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की भाषा में विभिन्न भाषाओं का सम्मिश्रण है कबीर ने भाषा की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया। भाषा में जो कुछ सौन्दर्य है, उनकी तीव्र अनुभूति के कारण है। विभिन्न आलोचकों ने कबीर की भाषा का मूल्यांकन विभिन्न प्रकार से किया है। किसी ने उसकी भाषा को ब्रज, किसी ने अवधी और किसी ने पंजाबी बताया है। उदाहरणार्थ कुछ आलोचकों के मत यहाँ प्रस्तुत हैं—

डॉ. श्यामसुन्दरदास—“कबीर ग्रन्थावली की भाषा पंचमेल खिचड़ी है।”

डॉ. बाबूराम सक्सेना—“कबीर अवधी के प्रथम संत कवि हैं।”

डॉ. सिद्धनाथ तिवारी—“हम जब उनकी आँखन देखी बातों से आगे बढ़ते हैं तो ऐसा लगता है कि कबीर भाषा का सरल पथ छोड़कर रूखड़े मार्ग पर यात्रा कर रहे हैं।”

डॉ. रामकुमार वर्मा—“कबीर ग्रन्थावली की भाषा में पंजाबीपन अधिक है।”

रेवेरेन्ड अहमदशाह—“कबीर बीजक की भाषा बनारस, मिर्जापुर तथा गोरखपुर के आस-पास की बोली है।”

डॉ. उदयनारायण तिवारी—“कबीर की मूल वाणी का बहुत कुछ अंश उनकी मातृ-भाषा बनारसी बोली में ही लिखा गया था, किन्तु उनके पदों का पछाँह की साहित्यिक भाषाओं में रूपान्तर कर दिया गया है।”

डॉ. त्रिगुणायत ने कबीर की भाषा में विभिन्न भाषाओं के सम्मिश्रण के सम्बन्ध में लिखा है, “कबीर ने किसी एक भाषा का प्रयोग नहीं किया है। उनकी बोलियों में हिन्दी, उर्दू, फारसी आदि कई भाषाओं का सम्मिश्रण तो मिलता ही है, साथ-ही-साथ खड़ीबोली, अवधी, भोजपुरी, पंजाबी, मारवाड़ी आदि उप-भाषाओं का भी प्रचुर प्रयोग किया है।”

पूर्वी भाषा—कतिपय विद्वानों ने कबीर की भाषा को पूर्वी भाषा बताया है। कबीर की भाषा को पूर्वी भाषा मानने वालों का आधार सम्भवतः कबीर बीजक की निम्नलिखित साखी है—

बोली हमरी पूरब की, हमें लखै नहीं कोय ।

हमको तो सोई लखै, धुर पूरब का होय ॥

परन्तु वास्तव में कबीर की भाषा पूर्वी नहीं है। कबीर की भाषा में ब्रज, पंजाबी और राजस्थानी के बहुत अधिक शब्द मिलते हैं। परशुराम चतुर्वेदी ने उपर्युक्त साखी का आध्यात्मिक अर्थ लगाया है। ‘कबीर साहित्य की

नोट

परख' में उन्होंने इस साखी का अर्थ दिया है—“हमारा कथन मौलिक दशा से सम्बन्ध रखता है, जिस कारण हमें कोई समझ नहीं पाता। हमारी बात वही समझेगा, जिसे उसका अनुभव हो चुका है।”

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की भाषा को ‘सधुक्कड़ी’ भाषा कहा है। वास्तव में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह मत अन्य मतों की अपेक्षा कहीं अधिक संगत प्रतीत होता है।

भाषा की विविधरूपता के कारण—कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, वे तन्मय होकर जो कुछ गाते थे, उनके शिष्य उनको लिपिबद्ध कर लिया करते थे। उन शिष्यों को भाषा से मोह न रहकर केवल भाव से मोह रहा होगा। शिष्यों ने अपने प्रदेश की भाषा के अनुसार उसको लिपिबद्ध कर लिया होगा। इस प्रकार अपने-अपने प्रदेश की भाषानुसार उन पदों में परिवर्तन कर लिया होगा। विभिन्न प्रदेशों के शिष्य उनके पास आया करते थे। अतः इस प्रकार भाषा में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। कबीर के पूर्ववर्ती सन्तों ने भी अपने काव्य में अनेक भाषाओं का प्रयोग किया था।

भाषा में विभिन्न भाषाओं के शब्दों के प्रयोग का एक कारण यह भी है कि सन्त कबीर देशाटन किया करते थे। जिस प्रदेश में वह जाते थे, उसी प्रदेश की भाषा के शब्द उनके काव्य में स्थान पा जाते थे; क्योंकि श्रोताओं को समझाने के लिए वे उस प्रदेश-विशेष की भाषा के प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग करते थे। इस प्रकार कबीर के काव्य में भाषाई विविधता है।

कबीर की भाषा की प्रमुख विशेषताएँ—(1) कबीर की भाषा सीधी-सादी और सरल है। कबीर की उलटबाँसियाँ और पारिभाषिक शब्दों वाले पद अवश्य क्लिष्ट हैं। उन पदों को छोड़कर कबीर का समस्त साहित्य साधारण पढ़े-लिखे व्यक्ति की समझ में सरलता से आ जाता है। इस कारण कबीर की साखियों का इतना अधिक प्रचार है।

(2) उनका अधिकांश काव्य गेय है।

(3) कबीर की भाषा विषयानुकूल बदलती रहती है। जब वे मुसलमान सूफियों के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं, तो उसमें अरबी और फारसी के शब्दों का अत्यधिक प्रयोग करते हैं; यथा—

मियाँ तुम्हसौ बोल्यां वाणी नहीं आवै ।

हम मसकीन खुदाई बन्दे, तुम्हारा जसमन भावै ॥

अल्लाह अबील दीन का साहिब, जारे नहीं फुरमाया ।

मुरसिद पीर तुम्हारे है को, कहा थै आया ॥

इसी प्रकार जब वे हिन्दुओं के साधु-सन्तों के सम्बन्ध में कुछ टिप्पणी करते हैं तो वे हिन्दी के तद्भव शब्दों का प्रयोग करते हैं; यथा—

निरवैरी निहकामता, साँई सेती नेह ।

विषिया सँ न्यारा रहै, सन्तनि का अंग एह ॥

(4) कबीर ने व्याकरण के नियमों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है **डॉ. सिद्धनाथ तिवारी** ने लिखा है—“जब हम उनकी आँखिन देखी बातों से आगे बढ़ते हैं तो ऐसा लगता है कि कबीर भाषा का सरल पथ छोड़कर रूखड़े मार्ग पर यात्रा कर रहे हैं।”

(5) कबीर की भाषा की प्रशंसा करते हुए कबीर साहित्य के मर्मज्ञ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

“भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा, उसे उसी रूप में भाषा में कहलवा दिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कबीर के सामने कुछ लचर-सी नजर आती है। उसमें मानो हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को न कर सके, और अकथ कहनी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा में है, वैसी बहुत कम लेखकों की भाषा में पाई जाती है।”



टास्क कबीर की भाषा ‘सधुक्कड़ी’ है। इसके कारणों पर प्रकाश डालिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—

1. 'कबीर अवधी के प्रथम संत कवि थे'—यह कथन का है।
2. कबीर नहीं थे।
3. 'कबीर ग्रंथावली की भाषा है' कथन डा. श्याम सुन्दर दास का है।

3.1.2 कबीर की शैली और उसका वैविध्य

कबीर की शैली भी भाषा की भाँति अनिश्चित-सी है। शैली में विविधरूपता है। कबीर का समस्त काव्य मुक्तक शैली में रचा गया है। कबीर के काव्य में गेय पदों की प्रधानता है। कबीर भक्त पहले हैं और कवि बाद में। अतः वे मस्त होकर तन्मयता के साथ गाते हैं तो उनको किसी बात का ध्यान ही नहीं रहता है। उनकी रचनाओं में हमें निम्नलिखित प्रमुख शैलियों के दर्शन होते हैं—

(क) खण्डनात्मक शैली—कबीर की शैली के ऊपर उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। जब कबीर पण्डित, मुल्ला, वामपन्थी और अवधूतों को फटकारते हैं तो उनकी शैली बड़ी सबल और सशक्त हो जाती है। कबीर ने प्राचीन रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का कड़ा विरोध किया। इस प्रकार के वर्णन में शैली का तीखापन द्रष्टव्य है। इस प्रकार की शैली मर्म पर सीधी चोट करती है। उस शैली को खण्डनात्मक शैली कहते हैं।

(ख) उपदेशात्मक शैली—हिन्दू-मुसलमानों को उपदेश देते समय वे अपने विचारों को अत्यन्त सरल और सीधे-सादे ढंग से व्यक्त करते थे, ताकि श्रोतागण उसको सरलता से समझ सकें। वे हिन्दुओं को उपदेश देते समय शुद्ध हिन्दी के और मुसलमानों को उपदेश देते समय फारसी शब्दों का प्रयोग करते थे। कबीर की यह उपदेशात्मक शैली सीधी-सीधी तथा सरल है।

(ग) अनुभूति-व्यंजक शैली—कबीर की तीसरे प्रकार की शैली अनुभूति-व्यंजक है। यह कबीर की साहित्यिक शैली है। यह शैली गीतिकाव्य के समस्त लक्षणों से परिपूर्ण है। इसमें अनुभूति की अतुल गहराई है। इस शैली में माधुर्य गुण सर्वथा दृष्टिगोचर होता है।

इस शैली के सम्बन्ध में 'कबीर काव्य कौस्तुभ' में एक स्थान पर लिखा है, "इस शैली में सन्त की कोमलता, व्यंजना की प्रौढ़ता, साधन की कातरता, स्वानुभूति का सफल अंकन तथा अलंकारों एवं प्रतीकों का मार्मिक प्रयोग है, जो उनके काव्य को अलौकिक बना देता है।"



नोट्स कबीर ने प्राचीन रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का कड़ा विरोध किया।

भाषा की शब्द-शक्ति—कबीर ने अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना तीनों प्रकार की शब्द-शक्तियों का प्रयोग अपने काव्य में किया है। कबीर के लाक्षणिक प्रयोग देखते ही बनते हैं—

काजल केरी कोठरी, मसि के कर्म कपाट।

पाहनि बोई पृथमी, पंडित पाड़ी वाट ॥

उलटबाँसियों और प्रतीकों के प्रयोग में शैली अस्पष्ट होते हुए भी चमत्कारपूर्ण है।

अलंकार—कबीरदास अलंकारों के पण्डित नहीं थे। उन्होंने अपनी वाणी को कभी-भी सजाने, सँवारने का प्रयत्न नहीं किया। उनकी काव्य-प्रतिभा के कारण स्वभावतः ही उसमें रमणीयता आ गई है। कबीर की विशेषता अपने रूपकों के लिए प्रसिद्ध है। कबीर के रूपक मौलिकता लिए हुए हैं—

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।

पलकों की चिक डारिकै, पिय को लिया रिझाय ॥



क्या आप जानते हैं?

उपमा अलंकार का प्रयोग भी सन्त कबीर ने पर्याप्त मात्रा में किया है। उपमाओं के उपमान भी परम्परागत न होकर मौलिक हैं।

नोट

कबीर के रूपकों के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' में लिखा है—“उन्होंने हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद के कुछ सांकेतिक शब्दों (चन्द, सूर, नाद, बिन्दु, अमृत, पौधा, चुवा आदि) को लेकर अद्भुत रूपक बाँधे हैं, जो सामान्य जनता की बुद्धि पर पूरा आतंक जमाते हैं।”

सन्त कबीर ने उलटबाँसियों में मुख्यतया विरोधालंकार-विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति असंगति आदि अलंकारों का प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त कबीर के काव्य में उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, दृष्टान्त आदि अलंकारों की भी कमी नहीं है। कबीर ने अन्योक्तियों का प्रयोग भी बड़े सुन्दर ढंग से किया है; यथा—

“काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी।

तेरे ही नाल सरोवर पानी ॥”

इस प्रकार कबीर के काव्य में अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

छन्द-विधान—कबीर का समस्त काव्य मुक्तक रचना है। कबीर के काव्य में गेय पदों की प्रधानता है। कबीर ने अनेक छन्दों का प्रयोग किया है, परन्तु उनमें साखी, सबद और रमैनी प्रमुख हैं। कबीर ने साखियों का सर्वाधिक प्रयोग किया है। साखी दोहों से मिलती-जुलती है। साखी का अर्थ है—साक्ष्य का साक्षात् अनुभव। साखी का प्रयोग कबीर से पहले भी होता आ रहा था। कबीर ने स्वयं कहा है ‘पद गाए मन हरसिया, साखी कहा आनन्द।’ साखी और दोहे के अन्तर को स्पष्ट करते हुए पं. परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है—“साखियों की रचना प्रायः दोहा नामक छन्द से ही की गई पाई जाती है, किन्तु कबीर साहब की सभी साखियाँ केवल इसी रूप में नहीं दिखतीं। इसमें न केवल सोरठे मिलते हैं, अपितु इनमें दोहा, चौपाई, हरिपद तथा छप्पय जैसे छन्दों के भी उदाहरण मिल जाते हैं।” इसके अतिरिक्त कबीर ने चैती, कहरवा, चाँचर, हिंडोला, बसन्त होली आदि छन्दों का भी प्रयोग किया है।

कबीर का महत्त्व—साहित्यकार अपने युग का प्रतिनिधि होता है। कबीर एक असाधारण व्यक्तित्व लेकर जनता के समक्ष आए। कबीर युगद्रष्टा और क्रान्तिद्रष्टा महात्मा थे। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में लिखा है—“हिन्दी-साहित्य के हजारों वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई कवि उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है—तुलसीदास।” कबीर स्वतन्त्र प्रवृत्ति के कलाकार थे। वे सन्त पहले थे और कवि बाद में। सन्त कबीर अपनी आत्मा के अनुचर थे। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को जनभाषा में ही लोगों तक पहुँचाया। कबीर के समय तक भाषा कोई स्थायी रूप ग्रहण नहीं कर सकी थी। उसमें निखार आ रहा था। निर्गुण धारा के साहित्य में काव्य सिद्धान्तों का पालन करने वाली प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। कबीर ने सर्वप्रथम भाषा को साहित्यकला का जामा पहनाया। बाद में वही भाषा परिष्कृत और परिमार्जित होकर साहित्य का माध्यम बन गई। कबीर धार्मिक आडम्बर और मिथ्या अन्धविश्वासों का कड़ा विरोध करके अपने सन्त मत के सिद्धान्तों को जन-भाषा में ही जनता के सामने लाए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न—

4. कबीर का समस्त काव्य किस शैली में रचा गया है?

(अ) मुक्तक (ब) बंध (स) न (अ) और न (ब) (द) इनमें से कोई नहीं

5. कबीर ने कितनी शब्द-शक्तियों का प्रयोग किया है?

(अ) एक (ब) दो (स) तीन (द) इनमें से कोई नहीं

नोट

6. 'साखी' का क्या अर्थ?

- (अ) साक्ष्य का साक्षात् अनुभव
- (स) मित्र का साथ

- (ब) असत्य का साक्षात् अनुभव
- (द) इनमें से कोई नहीं

3.2 सारांश (Summary)

कबीर ने अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना तीनों प्रकार की शब्द-शक्तियों का प्रयोग अपने काव्य में किया है। कबीर का समस्त काव्य मुक्तक रचना है। कबीर के काव्य में गेय पदों की प्रधानता है। कबीर ने अनेक छन्दों का प्रयोग किया है, परन्तु उनमें साखी, सबद और रमैनी प्रमुख हैं। कबीर एक असाधारण व्यक्तित्व लेकर जनता के समक्ष आए। कबीर युगद्रष्टा और क्रान्तिद्रष्टा महात्मा थे।

3.3 शब्दकोश (Keywords)

- 1. प्रेक्षण: दृश्य, तमाशा
- 2. दोजख: नरक

3.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

- 1. 'कबीर का अपनी भाषा पर अधिकार था' क्या आप इस बात से सहमत हैं।
- 2. कबीर की भाषा में शब्द-शक्तियों का प्रयोग कहां तक उचित है, स्पष्ट कीजिए।
- 3. कबीर की भाषा-शैली पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए।

उत्तर-स्वमूल्यांकन (Answer-Self Assessment)

- 1. डा. बाबूराम सक्सेना 2. पट्टे-लिखे 3. पंचमेल 4. (अ)
- 5. (स) 6. (अ)

3.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



- पुस्तकें
- 1. कबीरवाणी—तिवारी पारसनाथ, अनीता प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली।
 - 2. कबीर (जीवन और दर्शन)—चंडक राम निवास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
 - 3. कबीर-एक अनुशीलन—वर्मा रामकुमार, साहित्य भवन, इलाहाबाद।
 - 4. कबीरवाणी-ज्ञानामृत—आचार्य रामानुज सरस्वती, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 4

कबीरवाणी की तात्विक समीक्षा**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

4.1 कबीरवाणी की तात्विक समीक्षा

4.2 सारांश (Summary)

4.3 शब्दकोश (Keywords)

4.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

4.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे—

- कबीरवाणी के तत्त्वों को जानने में।
- कबीरवाणी की पाठ-समस्या को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

मध्यकाल के हिन्दी कवियों की रचनाओं के प्रामाणिक पाठ की समस्या बहुत उलझी हुई है और कबीर जैसे फक्कड़ संत के सम्बन्ध में, जो 'पुस्तक देहु बहाइ' का उपदेश देते रहे, यह समस्या और भी उग्र रूप धारण कर लेती है। कबीर पर शोधकार्य करते समय विभिन्न हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों में कुल मिलाकर लगभग सोलह सौ पद, साढ़े चार हजार साखियाँ और एक सौ चौतीस रमैनियाँ मिली हैं। पदों, साखियों तथा रमैनियों के अतिरिक्त भी सौ रचनाएँ, भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के रूप में, ऐसी और प्राप्त होती हैं जिन्हें कबीरकृत कहा जाता है। अगर और खोज की जाए तो इनकी संख्या में वृद्धि ही होती जाएगी। कबीरपंथियों का तो विश्वास है कि सद्गुरु कबीर की वाणी अनंत है, उसकी संख्या का अनुमान वनस्पति-समुदाय के पत्तों और गंगा के बालुका-कणों से लगाया जा सकता है—

जेते पत्र बनस्पती, औ गंगा की रैन।

पंडित बिचारा क्या कहै, कबीर कही मुख बैन ॥

—बीजक, साखी 261।

4.1 कबीरवाणी की तात्विक समीक्षा

ऐसा अंश जो समस्त प्रतियों में समान रूप से मिलता हो, सुगमता से प्रामाणिक माना जा सकता है, किन्तु कबीर के सम्बन्ध में यह स्थिति कुछ विलक्षण है। एक भी पद ऐसा नहीं है जो सभी प्रतियों में समान रूप से मिलता हो, साखी केवल एक है जो सभी प्रतियों में मिलती है और रमैनी भी ऐसी कोई नहीं जो सभी प्रतियों में मिलती हो। प्रति भी ऐसी कोई नहीं मिलती जो कबीर के जीवन-काल की हो अथवा जिसकी परंपरा ही इतनी प्राचीन हो कि उसे निरापद रूप से कबीर के जीवन-काल का माना जा सके। पाठ-विकृतियाँ भी सभी प्रतियों में मिलती हैं। इस स्थिति में दावे के साथ यह कहना कठिन है कि कबीर की रचना कितनी और किस रूप में प्रामाणिक है। उनके कंठ से जो कुछ निकला वह वायु में विलीन हो गया; उसे न तो किसी यंत्र में बाँधा गया और न ही तुरन्त लिपिबद्ध किया गया।

नोट

यदि कोई ऐसा वैज्ञानिक आविष्कार हो जाए जिसके द्वारा शताब्दियों पूर्व किसी व्यक्ति के मुख से निकले हुए शब्द पुनः यथावत् उपस्थित किए जा सकें तभी पूर्ण निश्चय के साथ कबीर की वाणी का प्रमाणिकतम रूप स्थिर किया जा सकता है। उसके अभाव में दूसरा निरापद मार्ग है पाठ-सम्पादन के मान्य सिद्धान्तों के आधार पर समस्त उपलब्ध सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन कर उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर करना और तब उसकी सहायता से ऐसा पाठ निर्धारित करना जिसे यत्किंचित् मतवैभिन्न्य होते हुए भी सभी पूर्ववर्ती पाठों से प्राचीनतर अथवा दूसरे शब्दों में प्राचीनतम तथा प्रमाणिकतम माना जा सके। काल के स्थूल आवरण को भेदकर आलोच्य रचना के शताब्दियों पूर्व रूप तक पहुँचने का यही एक निरापद मार्ग है। संयोगवश यह प्रक्रिया मन की उस उल्टी साधना से मिलती है जिसका उपदेश सन्तों ने दिया और जिसे उन्होंने अपनी करनी में भी उतारा। कबीर का कथन है—

मन कै मतै न चालिए, छाड़ि जीव की बाँनि ।

ताकू केरा तार ज्यौं, उलटि अपूठा आनि ॥

—क. ग्रं., साखी 29-23 ।

यही सिद्धान्त पाठ-निर्धारण में भी सहायक होता है। उपलब्ध प्रतियों के वर्तमान साक्ष्यों को आँख मूँदकर मान लेने की 'बाँनि' अच्छी नहीं होती, बल्कि 'अपूठा' (उल्टा) चलकर उनके पूर्व रूप की खोज करने में ही उनकी सहायता लेनी चाहिए।

कबीर-वाणी की विषम पाठ-समस्या को सुलझाने के लिए जो प्रक्रिया अपनायी गयी है उसे पाठ-सम्पादन की पारिभाषिक शब्दावली में कहा जा सकता है कि पहले विभिन्न प्रतियों का परीक्षण और फिर उनका पारस्परिक पाठ-मिलान कर अत्यन्त सतर्कतापूर्वक निर्धारित समस्त 'निश्चेष्ट' तथा 'सचेष्ट' पाठ-विकृतियों की सहायता से उनका पाठ-सम्बन्ध निर्धारित किया गया है और तदनंतर केवल उन्हीं रचनाओं को कबीरकृत स्वीकृत किया गया है जो किन्हीं भी दो या अधिक ऐसी प्रतियों में मिलती हैं जिनमें किसी प्रकार का संकीर्ण-सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् जिनमें पाठ सम्बन्धी ऐसी विकृतियाँ (जानबूझकर अथवा अनजान में की हुई) समान रूप से नहीं पाई जातीं जिनका आविर्भाव कवि के मूल पाठ का परवर्ती सिद्ध होता हो और इसी आधार पर उन रचनाओं का पाठ भी निर्धारित किया गया है।



क्या आप जानते हैं

कबीर की प्रमाणिक रचना के रूप में दो सौ पद या शब्द, बीस रमैनियाँ, एक चौंतीसी रमैनी तथा साढ़े सात सौ के लगभग साखियाँ प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार उपलब्ध सामग्री में से कबीर की प्रमाणिक रचना के रूप में दो सौ पद या शब्द, बीस रमैनियाँ, एक चौंतीसी रमैनी तथा साढ़े सात सौ के लगभग साखियाँ प्राप्त होती हैं।

यहां प्रस्तुत कबीरवाणी का पाठ इतःपूर्व सभी संस्करणों से अधिक विश्वसनीय है—यह बात दो-चार स्थूल उदाहरणों से अधिक स्पष्ट हो सकेगी। कबीर का एक पद 'कबीर-ग्रंथावली' में इस प्रकार है—

मेरी मेरी करता जनम गयौ ।

जनम गयौ परि हरि न कह्यौ ॥ टेक ॥

बारह बरस बालपन खोयौ बीस बरस कछु तप न कियौ ।

तीस बरस तैं राम न सुभिरयौ फिरि पछिताना विरिध भयौ ॥

सूखे सरवरि पालि बंधावै लुनें खेति हठि बारि करै ।

अयौ चोर तुरंगहिं लै गयौ मोहड़ी राहत मुग्ध फिरै ॥२॥

सीस चरन कर कंपन लागे नैन नीरु असराल बहै ।

जिभ्या बचन सूध नहिं निकसै तब सुक्रित की बात कहै ॥३॥

इत्यादि ।

नोट

निरंजनी सम्प्रदाय की पोथी में उपर्युक्त पद की पाँचवीं पंक्ति के 'सरवारि' (= सरोवर में) के स्थान पर 'तरवारि' (= पेड़ पर) पाठ मिलता है और 'गुरुग्रंथसाहब' में जो कबीर-वाणी का अत्यधिक श्रेष्ठ पाठ प्रदान करता है और अब तक की प्राप्त प्रतियों में कालक्रम की दृष्टि से सर्वाधिक प्राचीन है, 'हठि बारि करै' के स्थान पर 'हथवारि करै' पाठ मिलता है। पालि (सं.) तालाब के चारों ओर के ऊँचे कगार को कहते हैं, तुल. जायसी, पदमावत 60-6: 'पालि जाइ सब ठाढ़ी भई।' इस प्रसंग में निरंजनी सम्प्रदाय के 'तरवारि' पाठ की भ्रांति स्पष्ट है। गुरुग्रंथसाहब के 'हथवारि' पाठ का भी यहाँ कोई प्रसंग-सम्मत अर्थ नहीं निकलता। इसके विपरीत 'हठि बारि करै' जो अन्य प्रतियों का पाठ है, का अर्थ है— हठात् रोक लगाता है; और यही इस प्रसंग में उपयुक्त प्रतीत होता है। इसी प्रकार छठवीं तथा सातवीं पंक्तियों में तुरंगहिं, मोहड़ी, नैन, तथा असराल के स्थान पर गुरुग्रंथ-साहब में क्रमशः तुरंतह, मेरी, नैनी और असार पाठ मिलते हैं जो भ्रमात्मक हैं। 'तुरंतह' पाठ ग्रहण करने से वाक्य में कर्म का लोप हो जाता है, 'मेरी' पाठ ग्रहण करने से 'मेरी राखत' निरर्थक हो जाता है; 'नैनी' स्पष्ट ही पंजाबी प्रभाव के कारण है और 'असराल' (= निरंतर) के स्थान पर असार' लिपिभ्रम के कारण हो गया है जिससे अर्थ का अपकर्ष होता है।



नोट्स पालि (सं.) तालाब के चारों ओर के ऊँचे कगार को कहते हैं।

उपर्युक्त पाठ-विकृतियों के कारणों की खोज करने से उनका इतिहास भी स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगता है। इनमें से अधिकांश विकृतियाँ ऐसी हैं जो यह संकेत करती हैं कि जिस प्रति पर इन पाठों को प्रस्तुत करने वाली प्रतियाँ आधारित हैं वह कदाचित् फारसी लिपि में थी। इस सम्भावना का सबसे सटीक उदाहरण उपर्युक्त पाठांतरों में गुरुग्रंथसाहब का 'हथवारि' पाठ है। पहले उर्दू में 'ते' के ऊपर एक पड़ी लकीर खींचकर 'टे' बनाते थे। यदि यह लकीर जल्दी में भूल से छूट जाए तो 'ठ' का सरलता से 'थ' हो जाता है। 'हठि बारि' से 'हथवारि' बन जाने का और कोई दूसरा समाधान हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार अन्य पाठांतरों की विकृतियों के कारण भी संतोषजनक रूप से ढूँढ़े जा सकते हैं।

इस प्रकार अनेक शाखाओं की प्रतियों के आधार पर कार्य करने वाले सम्पादक के सम्मुख पर्याप्त सामग्री तथा साधन उपलब्ध होने के कारण अनेक पाठ-पाठांतर अपना-अपना इतिहास स्वयं बताते हुए उपस्थित हो जाते हैं और किंचित् विवेक से कार्य करने पर उनमें से उपयुक्त पाठ पुनर्निर्मित कर लेना बहुत कठिन कार्य नहीं होता, जबकि किसी एक शाखा या प्रति के पाठ पर आधारित रहने से उद्भट विद्वान् सम्पादक की दृष्टि भी सीमित रह जाने के लिए विवश हो जाती है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीन कृतियों के सम्पादक के सम्मुख सम्पादनशास्त्र की सूक्ष्म तथा जटिल प्रक्रिया की समस्याएँ रहती ही हैं, साथ ही पाठों का निर्णय करने में भी इतने प्रकार के विकल्प आते हैं कि उनके सम्बन्ध में तनिक भी असावधानी से कार्य करने पर मार्गच्युत हो जाने का भय लगा रहता है। इसीलिए कुछ भ्रांतियों का रह जाना असंभव नहीं है।



टास्क कबीरवाणी की तात्त्विक विशेषता पर अपने मत प्रस्तुत कीजिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—

1. सभी प्रतियों में मिलती है।
2. बारह बरस खोया बीस बरस कछु तप न कियो।
3. बिचारा क्या कहै, कबीर कही मुख बैन।

4.2 सारांश (Summary)

यदि कोई ऐसा वैज्ञानिक आविष्कार हो जाए जिसके द्वारा शताब्दियों पूर्व किसी व्यक्ति के मुख से निकले हुए शब्द पुनः यथावत् उपस्थित किए जा सकें तभी पूर्ण निश्चय के साथ कबीर की वाणी का प्रमाणिकतम रूप स्थिर किया जा सकता है।

कबीरवाणी की विषम पाठ-समस्या को सुलझाने के लिए जो प्रक्रिया अपनायी गयी है उसे पाठ-सम्पादन की पारिभाषिक शब्दावली में कहा जा सकता है कि पहले विभिन्न प्रतियों का परीक्षण और फिर उनका पारस्परिक पाठ-मिलान कर अत्यन्त सतर्कतापूर्वक निर्धारित समस्त 'निश्चेष्ट' तथा 'सचेष्ट' पाठ-विकृतियों की सहायता से उनका पाठ-सम्बन्ध निर्धारित किया गया है

4.3 शब्दकोश (Keywords)

1. सुगमता— आसानी से
2. कंठ— गला

4.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. कबीरवाणी की तात्विक समीक्षा कीजिए।
2. कबीरवाणी में मौजूद मूल तत्वों को समझाइए।

उत्तर-स्वमूल्यांकन (Answer-Self Assessment)

1. साखी
2. बालपन
3. पंडित

4.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. कबीरवाणी—तिवारी पारसनाथ, अनीता प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली।
2. कबीर (जीवन और दर्शन)—चंडक राम निवास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
3. कबीर-एक अनुशीलन—वर्मा रामकुमार, साहित्य भवन, इलाहाबाद।
4. कबीरवाणी-ज्ञानामृत—आचार्य रामानुज सरस्वती, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली।

इकाई 5

नोट

जायसी की लेखन कुशलता**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

5.1 जायसी का काव्य-कौशल

5.2 जायसी की काव्यगत विशेषताएँ (भावपक्ष एवं कलापक्ष)

5.3 सारांश (Summary)

5.4 शब्दकोश (Keywords)

5.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

5.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- जायसी की लेखन कुशलता जानने में।
- जायसी का परिचय जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

जायसी का पूरा नाम मलिक मोहम्मद जायसी था। उनका जन्म 1492 ई. में राय बरेली जिले के जायस नगर (उ.प्र.) में हुआ था। वह एक सूफी कवि थे। वे अमेठी के राजा के आग्रह पर अमेठी चले आए थे। इनकी चार रचनाएँ प्राप्त होती हैं—पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम, चित्रलेखा।

‘पद्मावत’ महाकाव्य जायसी की प्रसिद्धि का आधार है। इसमें चित्तौड़ के राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के मिलन का वर्णन है। जायसी सूफी कवि थे। हिन्दी की प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा में उनका शीर्ष स्थान है। उनका पद्मावत हिन्दी साहित्य की एक मूल्यवान कृति है। यह एक प्रबन्ध-काव्य है।

5.1 जायसी का काव्य-कौशल

मलिक मुहम्मद जायसी को प्रेममार्गी निर्गुण-भक्ति शाखा के कवियों में प्रतिनिधि कवि माना जाता है। अब तक जायसी द्वारा रचित ‘पद्मावत’, ‘आखिरी कलाम, चित्र रेखा’, ‘कराहनामा’, ‘मसलानामा’ आदि रचनाएँ प्राप्त हुई। इन ग्रन्थों में पद्मावत सर्वोत्कृष्ट रचना है। वास्तविकता यह है कि जायसी की काव्य प्रतिभा का विकसित रूप ‘पद्मावत’ में ही मिलता है।

जायसी निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे और जिसकी प्राप्ति के लिए ‘प्रेम’ की ईश्वर से वियोग की तीव्र प्रेमानुभूति ही भक्त को साधना-पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करती है। यह भक्ति-भावना ‘पद्मावत’ में प्रभावशाली रूप से व्यक्त हुई है। जायसी का विरह-वर्णन और विरह-भावना की अनुभूति अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। यदि यह कहा जाए कि सौन्दर्य एवं विरह की अभिव्यक्ति में जायसी हिन्दी-काव्य-जगत के सर्वाधिक प्रतिभाशाली कवि थे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। जायसी एक रहस्यवादी कवि थे। इन्होंने ‘पद्मावत’ में स्थूल पात्रों के माध्यम से सूक्ष्म दार्शनिक भावनाओं को अभिव्यक्ति दी है। इसमें ईश्वर एवं जीव के पारस्परिक प्रेम की अभिव्यंजना दाम्पत्य भाव से की गई है।

जायसी की प्रबन्ध-पटुता—आचार्य वामन ने काव्य के दो भेद बताए हैं।—अनिबद्ध काव्य और निबद्ध काव्य। इनमें से प्रथम मुक्तक-काव्य और दूसरे को प्रबन्ध-काव्य कहा गया।

अनिबद्ध मुक्तक निबद्ध प्रबन्ध रूपमिति प्रसिद्ध। **आचार्य शुक्ल** ने प्रबन्ध काव्य के रूप पर विचार करते हुए स्वीकार किया कि—“यदि प्रबन्ध काव्य एक वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।” प्रबन्ध काव्य की विशेषताओं का उल्लेख आनन्दवर्धनाचार्य ने इस प्रकार किया—

1. ऐतिहासिक या कल्पित कथावस्तु।
2. प्रासंगिक कथाओं की योजना।
3. नाटकीय सन्धियों की योजना।
4. रसात्मक वर्णनों की प्रधानता।
5. अलंकारों की रसानुरूप योजना।

आचार्य शुक्ल ने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में प्रबन्ध काव्य के लिए दो ही आवश्यक तत्व माने हैं—
(1) इतिवृत्तात्मकता, (2) रसात्मकता।

जायसी कृत पद्मावत एक सफल प्रबन्ध काव्य है, इसमें कोई संदेह नहीं। **आचार्य शुक्ल** ने स्वयं उसे ‘प्रबन्ध काव्य’ कहा है और डॉ. शंभुनाथ सिंह ने उसे ‘रोमांचक महाकाव्य’ की संज्ञा दी है। यहाँ हम जायसी की प्रबन्ध-पटुता पर विचार करेंगे।

1. कथानक—इसकी कथा मिश्रित है। आचार्य शुक्ल के अनुसार पूर्वार्द्ध तो बिल्कुल कहानी है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर है। पर इसमें एक सुसम्बद्ध कथा राजा रत्नसेन और पद्मावती के विरह-मिलन की है। इसकी कथा सानुबन्ध है क्योंकि आदि, मध्य और अवसान शृंखलाबद्ध एवं सुसम्बद्ध हैं और कथा-प्रवाह आद्यांत प्रवाह के साथ चला है। अतः ऐतिहासिक और कल्पित कथा का सुसम्बद्ध निर्वाह बराबर हुआ है।

2. प्रासंगिक कथाएँ—आचार्यों ने प्रबन्ध काव्य की कथा वस्तु के दो प्रकार बताए हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक। मुख्य कथा आधिकारिक होती है—जैसे राज रत्नसेन और पद्मावती की कथा। जो कथाएँ बीच-बीच में या प्रासंगिक रूप में आती हैं, वे प्रासंगिक कथाएँ कहलाती हैं। सफल प्रबन्ध काव्य की यह विशेषता है कि ये प्रासंगिक कथाएँ मूल कथा से मेल खाती हुई, उसको गति प्रदान करती हुई, उसके उत्कर्ष में सहायक होनी चाहिए। पद्मावत की सभी प्रासंगिक कथाएँ इसी कोटि की हैं। हीरामन तोता का प्रसंग, राघव-चेतन का वृत्तान्त, शिव-पार्वती का आगमन आदि।



टास्क महाकाव्य के नायक के लक्षणों का वर्णन कीजिए।

3. रसात्मकता या रोचकता—रोचकता का आधार रसात्मक वस्तु वर्णन ही है। पद्मावत में रोचक और सरस दोनों ही प्रकार के प्रसंग पर्याप्त मात्रा में आए हैं। जिसमें से कुछ प्रमुख ये हैं—मायके में कुमारियों की स्वच्छन्द क्रीड़ा, नागमती का शोक, रत्नसेन की सूली-व्यवस्था, समुद्री दुर्घटना, गोरा-बादल युद्ध आदि। **डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत** ने इस प्रसंग में स्वीकार किया है कि उसकी सबसे बड़ी विशेषता है—जायसी का इतिवृत्तात्मक तथा रसात्मक वर्णनों में सन्तुलन बनाए रखना। यह इस प्रकार सम्भव हो सका कि उन्होंने एक दो इतिवृत्तात्मक प्रसंग देकर कोई न कोई रसात्मक प्रसंग उपस्थित कर दिया है।

4. नायक—प्रायः यह कहा जाता है कि शास्त्रीय लक्षणों के अनुरूप पद्मावत के नायक का स्वरूप नहीं है। पर ये लक्षण तो महाकाव्य के लिए निर्धारित हैं। फिर रत्नसेन राजा हैं, वीर हैं और प्रेमी हैं, कष्ट सहने में सक्षम हैं, साहसी हैं, अभिजात कुल जन्मा हैं। अतः उसकी यह विशेषताएँ उसे धीरोदात्तनायक के समकक्ष ला खड़ा करती हैं।

5. उद्देश्य—अरस्तु के अनुसार महाकाव्य में किसी पूर्ण कार्य का उल्लेख होना चाहिए। उसी को हमारे यहाँ उद्देश्य माना गया है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि इसका उद्देश्य लौकिक प्रेम वर्णन के माध्यम से अलौकिक प्रेम की व्यंजना और प्रिय मिलन के अनन्त शक्ति की अनुभूति की व्यंजना ही है। जायसी ने अपने इस ‘कार्य’ या उद्देश्य के आधार पर समस्त कथाओं की योजना की है, उन्हें नाटकीय सन्धियों के आधार पर सूत्रबद्ध भी किया है।

नोट

6. अरस्तु की मान्यता और जायसी की प्रबन्ध पटुता—अरस्तु ने प्रबन्ध काव्य के लिए कुछ बातों को महत्व दिया है—(i) कथानक की नाटकीय ढंग से योजना, (ii) उसमें किसी पूर्ण कार्य का उल्लेख, (iii) कथा में प्रारम्भ, मध्य एवं अवसान की योजना, (iv) कथानक का सरल या मिश्रित, नैतिक या कष्टपूर्ण होना, (v) प्रासंगिक कथाओं की सुसम्बद्ध योजना, (vi) भव्य एवं आकर्षक शैली।

इन कसौटियों के आधार पर यदि जायसी के पद्मावत पर विचार किया जाए तो हमें पता चलेगा कि कथा की पूर्ण नाटकीय ढंग से योजना हुई है। अचानक हीरामन का आगमन और रत्नसेन का पद्मावती के वियोग में घर छोड़कर निकल जाना, इसका प्रमाण है। अन्य कथाएँ भी इसी प्रकार हैं। पूर्ण कार्य की चर्चा ऊपर हो चुकी है, पद्मावती जन्म से राजा रत्नसेन के सिंहलगढ़ पहुँचने की कथा 'आदि भाग' ही कही जा सकती है, पद्मावती विवाह से लेकर सिंहलद्वीप से प्रस्थान तक की कथा को 'मध्य भाग' माना जाता है, और राघव चेतन के चितौड़ छोड़कर जाने से लेकर पद्मावती के सती होने की घटना 'अन्त' भाग ही है। कथा सरल भी है, मिश्रित भाषा है और कष्टपूर्ण भी। नागमती वियोग, समुद्र घटना, रत्नसेन के कष्ट, युद्ध और सती जैसी घटनाएँ नैतिक और कष्टपूर्ण स्थितियों को उभारती हैं। प्रासंगिक कथाएँ सम्बद्ध हैं और शैली भव्य और आकर्षक है।



नोट्स

अरस्तु ने प्रबंध-काव्य की कथा के चयन हेतु कुछ महत्वपूर्ण बिंदुओं का उल्लेख किया है—कथानक की नाटकीय ढंग से योजना, कथानक में किसी कार्य का पूर्ण उल्लेख, कथा में प्रारंभ, मध्य एवं अवसान की योजना, कथानक का सरल या मिश्रित, नैतिक एवं कष्टपूर्ण होना, प्रासंगिक कथाओं की सुसम्बद्ध योजना, भव्य एवं आकर्षक शैली।

अतः भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही कसौटियों पर कसकर यदि हम पद्मावत के प्रबन्ध-शिल्प पर विचार करें तो यह कहने में कोई आपत्ति नहीं है कि वह एक सफल प्रबन्ध काव्य है जिसमें जायसी की प्रबन्ध पटुता की श्रेष्ठता के दर्शन होते हैं।

5.2 जायसी की काव्यगत विशेषताएँ (भावपक्ष एवं कलापक्ष)

कलापक्ष के अनेक आधार हैं और जायसी महाकवि थे, अतः महाकाव्य के आधार पर उनके कलापक्ष पर विवेचन होना अपेक्षित है। परंतु यहाँ महाकाव्य का नहीं जायसी के कलापक्ष का विवेचन प्रस्तुत है। जिसमें भाव-रस, भाषा, अलंकार छन्द आदि पर विचार किया जाएगा।

1. भाव और रस परिपाक—जायसी ने पद्मावत में सभी रसों का उत्कर्ष दिखाया है और उसका वर्णन अपने पूर्ण आवेग के साथ किया है। शृंगार रस की व्यंजना करने में जायसी ने कोई कोताही नहीं की है, उनका विप्रलम्भ शृंगार तो उत्कृष्ट कोटि का है। नागमती का वियोग हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

शृंगार के बाद शान्त रस की व्यंजना भी जायसी ने पर्याप्त मात्रा में की है, निर्वेद की स्थिति इन पंक्तियों से स्पष्ट उभरती दिखायी देती है—जिनमें संसार की असरता मृत्यु के आते ही सब कुछ यहां छोड़कर चले जाना है, व्यंजना कितने सहज ढंग से हुई है—

“काल आइ देखाई सौटी। उड़ि जिड चला छोड़िकै माटी।

हाथ झारि जस चला जुआरी। तजा राज होइ चला भिखारी।”

करुण रस की व्यंजना भी हुई है—पद्मावती के सिंहलगढ़ से विदाई के अवसर पर करुण रस की व्यंजना हुई है—

रवितभाय न बहुरत बारा। रतन चला, घर भी अन्धियारा।

इसी प्रकार वात्सल्य, भयानक, अद्भुत, वीर, वीभत्स और रौद्र रसों की भी व्यंजना अत्यन्त सफल ढंग से हुई है। केवल हास्य का अभाव है, इन रसों की सफल योजना के साथ विभाव अनुभाव, संचारी भावों की भी मनोरम झँकियाँ उभरी हैं, जायसी की भावुकता ने भाव वर्णन में सजीवता ला दी है।

नोट

2. जायसी की भाषा—जायसी की भाषा की निम्न विशेषताएँ हैं—

(क) **अल्पाक्षर-प्रयोग**—डॉ. वासुदेव शरण के अनुसार उनकी भाषा की एक विशेषता 'अल्पाक्षर विशिष्टता' भी है। अर्थात् जहाँ अधिक शब्द कहने हो वहाँ कम शब्दों से काम चलाना—

“चन्दन चोप पवन असपीऊ।

भइड चतुर सम कस भा जीऊ।।”

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने कहा है कि जायसी ने यहाँ 'चन्दन' 'चोप' शब्द का प्रयोग करके 'स्त्री रूपी चन्दन रस' की व्यंजना की है।

(ख) **अवधी की मिठास**—जायसी की भाषा की मधुरता की प्रशंसा **आचार्य शुक्ल** ने इन शब्दों में की है—“जायसी की भाषा बहुत ही मधुर है पर उसका माधुर्य निराला है—उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए है।” नागमती वियोग खंड में लोक-प्रचलित बारहमासा शैली के प्रयोग के समय तो भाषा बेइन्तहा मधुर हो गयी है—

“बरसै मेह, चुवहि नैनाहे। छपर-छपर होइ रहि बिनु नाहा।”

(ग) **लोकोक्ति-मुहावरे**—जायसी की भाषा का माधुर्य लोक प्रचलित लोकोक्ति और मुहावरों की छटा से भी निखरा है—

“कान दुरै जेहि पहिरे, का लेइ वरबसो सनि।”

इसी प्रकार एक मुहावरा भी देखिए—

“जौ लहि मथे न कोई देह जीऊ।

सूधी अंगरि न निकसै घीऊ।।”

3. अलंकार योजना—जायसी ने सादृश्य मूलक अलंकारों में से उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, सांगरूपक, रूपकातिशयोक्ति अलंकारों का प्रयोग अधिक किया है, जिसने अर्थ गांभीर्य में सहायक होकर भावोत्कर्ष भी किया है, उत्प्रेक्षा उनका सबसे प्रिय अलंकार है इसका प्रयोग बड़ा मनोहारी हुआ है—

“पुहुप सुगन्ध करहिं ऐति आसा।

मकु हिरकाइ लेइ हम पासा।।”

इसके अतिरिक्त प्रायः सभी प्रचलित अलंकारों का सहज प्रयोग जायसी ने किया है—व्यतिरेक, तद्गुण, विभावना, संदेह आदि की योजना भी बड़े मधुर ढंग से हुई है। अतिशयोक्ति की छटा देखिए—

“तेहि कपोल बाएँ तिल परा।

जेइ तिल देखा जा तिल तिल जरा।।”

4. छन्द-योजना—जायसी ने दोहा-चौपाई शैली अपनाई है। यह शैली अपने में कितनी प्रभावी रही है, इसका अन्दाज दो बातों से लगाया जा सकता है कि पद्मावत की सरसता का आधार जहाँ उसकी भाव-व्यंजना है, वहीं इस शैली ने उसमें जान-सी डाल दी है, दूसरे तुलसीदास को भी यह शैली इतनी पसन्द आयी कि रामचरितमानस की रचना भी इसी दोहा-चौपाई शैली में हुई है।



क्या आप जानते हैं?

जायसी ने पद्मावत की रचना दोहा एवं चौपाई शैली में की है। बाद में इसी शैली को तुलसी ने रामचरितमानस में अपनाया है।

निष्कर्ष—पद्मावत का भावपक्ष, कलापक्ष दोनों ही पर्याप्त समुन्नत और पुष्ट है उसकी प्रबन्धात्मकता, भाषा, अलंकार योजना, प्रतीक विधान सभी उत्कृष्ट हैं, जायसी इस दृष्टि से सफल और उत्कृष्ट कवि कहे जा सकते हैं।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य बताएँ—

1. जायसी ने पद्मावत की रचना दोहा-चौपाई शैली में की है।
2. पद्मावत की नायिका रानी नागमती है
3. जायसी सूफी काव्य परंपरा के कवि हैं।
4. पद्मावत प्रबंध-काव्य है।
5. जायसी ने पद्मावत में फारसी की मसनवी शैली का अनुसरण किया है।
6. पद्मावत फारसी भाषा में लिखा गया महाकाव्य है।

5.3 सारांश (Summary)

जायसी सूफी कवि थे। हिन्दी की प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा में उनका शीर्ष स्थान है। उनका पद्मावत हिन्दी साहित्य की एक मूल्यवान कृति है। वह एक प्रबन्ध-काव्य है। जायसी कृत पद्मावत एक सफल प्रबन्ध काव्य है।

भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही कसौटियों पर कसकर यदि हम पद्मावत के प्रबन्ध-शिल्प पर विचार करें तो यह कहने में कोई आपत्ति नहीं है कि वह एक सफल प्रबन्ध काव्य है जिसमें जायसी की प्रबन्ध पटुता की श्रेष्ठता के दर्शन होते हैं। जायसी ने पद्मावत में सभी रसों का उत्कर्ष दिखाया है और उसका वर्णन अपने पूर्ण आवेग के साथ किया है। शृंगार रस की व्यंजना करने में जायसी ने कोई कोताही नहीं की है, उनका विप्रलम्भ शृंगार तो उत्कृष्ट कोटि का है।

जायसी की भाषा की मधुरता की प्रशंसा **आचार्य शुक्ल** ने इन शब्दों में की है—“जायसी की भाषा बहुत ही मधुर है पर उसका माधुर्य निराला है—उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए है।” नागमती वियोग खंड में लोक-प्रचलित बारहमासा शैली के प्रयोग के समय तो भाषा बेइन्तहा मधुर हो गई है।

5.4 शब्दकोश (Keywords)

1. **रसात्मकता:** काव्य को पढ़कर होने वाली रस की अनुभूति यथा-करुण रस, शांत रस आदि
2. **कथानक:** काव्य का मूल या सार तत्व, यह गद्य में भी लागू होता है।

5.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. पद्मावत की प्रबंध योजना का वर्णन कीजिए।
2. जायसी की काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. पद्मावत के भावपक्ष एवं कलापक्ष का विवेचन कीजिए।

नोट

उत्तर-स्वमूल्यांकन (Answer-Self Assessment)

- | | | |
|-----------|------------|------------|
| 1. (सत्य) | 2. (असत्य) | 3. (सत्य) |
| 4. (सत्य) | 5. (सत्य) | 6. (असत्य) |

5.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. पद्मावत-मलिक मुहम्मद जायसी कृत।
2. जायसी ग्रन्थावली-शुक्ल रामचंद्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
3. मलिक मुहम्मद जायसी-बी.सी. पाण्डेय, विनोद प्रकाशन।

इकाई 6

नोट

पद्मावत : कथासार अथवा सारांश**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

6.1 पद्मावत की संक्षिप्त कथा-वस्तु

6.2 सारांश (Summary)

6.3 शब्दकोश (Keywords)

6.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

6.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- पद्मावत की संक्षिप्त कथा-वस्तु से परिचित होंगे।

प्रस्तावना (Introduction)

पद्मावत फारसी में प्रचलित मसनवी शैली के आधार पर लिखा गया महाकाव्य है। अतएव इसकी कथा भारतीय महाकाव्यों की तरह सर्गों में विभाजित न होकर खण्डों में विभाजित है। यहाँ प्रत्येक खण्ड की कथा का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

6.1 पद्मावत की संक्षिप्त कथा-वस्तु

पद्मावत की रचना मसनवी पद्धति में होने के कारण सर्गों के स्थान पर 57 खण्डों में विभक्त हैं। इन खण्डों की कथा का सारांश प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. स्तुति खंड—प्रथम खंड का आरम्भ जायसी ने सृष्टि-कर्ता की स्तुति या स्मरण से किया है। भरतार द्वारा वैविध्यमयी सृष्टि की रचना का वर्णन होने के उपरान्त पैगम्बर मुहम्मद और उनके चार मित्रों (खलीफ़ाओं) का वर्णन किया है। तदुपरान्त उन्होंने तत्कालीन शासक शेरशाह के रूप, गुण और यशोदि का वर्णन करते हुए अपनी गुरु-परम्परा पर प्रकाश डाला है। अंततः कवि ने अपना जीवन-परिचय देते हुए अपने चार मित्रों का उल्लेख किया है और कृति के रचनास्थल और काल के साथ-साथ पद्मावत की कथा का सारांश भी प्रस्तुत किया है।

2. सिंहलद्वीप-वर्णन खंड—द्वितीय खंड में सिंहलद्वीप (पद्मावती की जन्मस्थली) को कवि ने सातों द्वीपों में सर्वश्रेष्ठ चित्रित करते हुए वहाँ की नारियाँ पद्मिनी जाति की दिखाई हैं। सिंहलद्वीप का शासक गन्धर्वसेन उल्लिखित किया गया है, जिसका वैभव स्वर्ग-तुल्य है। वहाँ के बागों में आम, कटहल आदि अनेक प्रकार के वृक्ष दिखाए गए हैं।

3. जन्म खंड—इस खंड की कथा गन्धर्वसेन की रानी चम्पावती के गर्भ से पद्मावती के जन्म लेने से आरम्भ की गई है। इस अत्यधिक सुन्दरी कन्या का नाम कन्या-राशि में जन्म लेने के कारण पद्मावती रखा जाता है। बारह वर्षीया पद्मावती को सयानी हुई समझकर गन्धर्वसेन ने सात खंड वाले धवलगृह में रहने का प्रबन्ध कर दिया। पद्मावती के साथ उसकी कुछ सहेलियाँ और एक चतुर तोता भी रहता था, जिसका नाम हीरामन था। वह तोते के साथ धर्म-चर्चा किया करती थी। पद्मावती पूर्ण-यौवना हो चुकी थी। किंतु गन्धर्वसेन ने उसका विवाह नहीं किया,

क्योंकि वह अपने समकक्ष किसी को मानता ही नहीं था। पद्मावती अपना विवाह न होने की कसक को हीरामन से कह देती थी जिसका राजा को पता चल गया और उसका यह अभिप्राय ग्रहण किया कि हीरामन तोता ही पद्मावती को इस प्रकार की अनुचित बातें सिखाता रहता है। फलतः उसने हीरामन तोते को मारने की आज्ञा दे दी। पद्मावती द्वारा छिपा लेने के कारण हीरामन की प्राण रक्षा तो हो गई किंतु वह अन्यमनस्क होकर वहाँ से चले जाने की इच्छा व्यक्त करने लगा। पद्मावती के आग्रह के कारण वह वहाँ से जा न सका।

4. मानसरोदक खंड—एक बार पूर्णमासी के अवसर पर पद्मावती अपनी समवयस्काओं के साथ मानसरोवर में स्नान करने गई। पद्मावती के अनिंद्य सौन्दर्य को देखकर सरोवर भी मोहित हो गया। पद्मावती को साक्षी बनाकर सखियाँ जल में एक खेल खेलने लगीं जिसकी शर्त यह थी कि जो खेल में हार जाएगी, वह हार देगी। एक सखी उस खेल में निपुण न होने के कारण हार खो बैठी और रोने लगी। सब सखियों ने डुबकियाँ लगा लगाकर उस हार को खोजने का प्रयत्न किया। अंततः पद्मावती के पद-स्पर्श को धन्य मानते हुए सरोवर ने स्वयं ही हार ऊपर तैरा दिया जिसे लेकर सभी प्रसन्न हो गईं।

5. सुआ-खंड—पद्मावती अपनी सखियों के साथ उछल कूद में लगी हुई असावधान थी कि मौके का लाभ उठाकर हीरामन तोता उड़ गया। वन के पक्षियों ने हीरामन का स्वागत किया। कुछ दिनों तक तो वह वन-पक्षियों के साथ आनन्दपूर्वक रहा, किन्तु अन्त में एक बहेलिए द्वारा पकड़ लिया गया।

6. रत्नसेन-जन्म खंड—प्रस्तुत खंड में कृति नायक रत्नसेन का चित्तौड़गढ़ के चित्रसेन नामक राजा के यहाँ जन्म लेना चित्रित किया गया है। पंडितों और ज्योतिषियों ने उसके भविष्यफल के विषय में बताया कि यह बड़ा प्रतापी राजा होगा। उन्होंने यह भी बताया कि रत्नसेन जोगी बनकर सिंहलद्वीप जाएगा और वहाँ से पद्मावती को विवाह करके चित्तौड़ लाएगा। यह ऐश्वर्य में राजा भोज और विक्रमादित्य के तुल्य होगा।

7. बनिजारा खण्ड—इस सातवें खण्ड में चित्तौड़गढ़ का एक बनजारा व्यापार के लिए सिंहलद्वीप जाते चित्रित किया गया है। उसके साथ एक गरीब ब्राह्मण भी सिंहलद्वीप गया। वह किसी से थोड़ा-सा कर्ज ले गया था। वह सिंहलद्वीप की हाट में बहुमूल्य वस्तुओं में से कुछ भी नहीं खरीद सका तभी वह बहेलिया हीरामन को लेकर हाट में आया और उस ब्राह्मण ने हीरामन को खरीद लिया। इस समय तक रत्नसेन चित्तौड़ का राजा बन चुका था। जब उसने यह सुना कि सिंहलद्वीप से लौटे व्यापारी बहुमूल्य वस्तुओं के साथ एक उत्तम गुणों से ओत-प्रोत तोता भी लाए हैं, तो उसने तोते को अपने यहाँ मँगवा लिया। हीरामन से परिचय पूछने पर उसने उत्तर दिया कि मैं वेदज्ञ पंडित हूँ और तुम्हें पद्मावती से मिलवा दूंगा। यह सुनकर राजा ने हीरामन को एक लाख में खरीद लिया।

8. नागमती-सुआ खण्ड—हीरामन को राजमहल में रहते हुए कुछ दिन ही व्यतीत हुए थे कि एक दिन राजा शिकार खेलने गया। रत्नसेन की पत्नी नागमती अत्यधिक रूपवती थी। उसने शृंगार किया और अपने सौन्दर्य को दर्पण में देखकर उस पर गर्व करते हुए हीरामन के समीप आकर बोली कि तुमने सिंहलद्वीप आदि स्थानों की स्त्रियाँ देखी हैं। बताओ क्या सिंहलद्वीप में कोई मुझसे भी ज्यादा सुन्दर नारी है? पद्मावती की सुन्दरता को याद करते हुए हीरामन ने सोचा कि जिस सरोवर में हँस नहीं आता वहाँ लोग बगुला को ही हँस समझते हैं। उसने उत्तर दिया कि वैसे तो उसी स्त्री को सुन्दर समझना चाहिए जिसे उसका प्रियतम प्रेम करता हो, किन्तु जहाँ तक शारीरिक सुन्दरता का प्रश्न है तुम सिंहलद्वीप की नारियों की समता नहीं कर सकतीं। नागमती को आशंका हुई कि कहीं यदि इस तोते ने ये बातें मेरे पति से कह दीं तो वे मुझे छोड़कर सिंहलद्वीप चले जायेंगे। अतः उसने धाय को उस तोते को मारने का आदेश दे दिया। धाय को राजा का भय था अतः उसने तोते को मारने के स्थान पर छिपा दिया। राजा के आने पर तोते की खोज हुई। नागमती ने तोते को मारने का कारण बताया तो राजा को और अधिक क्षोभ हुआ। उपयुक्त अवसर पाकर धाय ने तोते को लाकर राजा को सौंप दिया।

9. राजा-सुआ-संवाद खण्ड—राजा रत्नसेन के पूछने पर हीरामन ने बता दिया कि मैं सिंहलद्वीप की पद्मावती का तोता हूँ। सिंहलद्वीप अपने आप में बहुत श्रेष्ठ है और पद्मावती का सौन्दर्य तो अनुपमेय है। यह सुनकर राजा के हृदय में पद्मावती के प्रति प्रेम-भाव जाग्रत हो गया और तोते के मना करने पर भी प्रेम-मार्ग का अनुयायी बन गया।

10. नख-शिख-खण्ड—इस खंड में कवि ने हीरामन तोते के माध्यम से राजा रत्नसेन के समक्ष पद्मावती के नख-शिख (नाखून से लेकर सिर तक) शृंगार का वर्णन किया है।

नोट

11. प्रेम-खण्ड—पद्मावती के नख-शिख-वर्णन को सुनकर रत्नसेन बेहोश हो गया। होश आने पर वह रोने लगा कि मैं तो अमरपुर में पहुँच गया था अब पुनः कहाँ आ गया हूँ? हीरामन तोते ने उसे समझाया कि राज्य के वैभव-सुख को भोगने वाले तुम प्रेम के कठिन मार्ग के पथिक नहीं बन सकते, क्योंकि उसके लिए तो साधना अपेक्षित होती है। राजा के मन में भी यह बात समा गई कि प्रेम-मार्ग पर चलने के लिए मुझे राजसी सुखों का परित्याग कर देना चाहिए।

12. जोगी खण्ड—पद्मावती की अधिप्राप्ति के लिए रत्नसेन ने राज्य छोड़कर योगियों जैसा वेष धारण कर लिया और यात्रा की तैयारी आरम्भ कर दी। ज्योतिषियों ने उसे समझाया भी कि अभी जाने का शुभ मुहूर्त नहीं है, किन्तु रत्नसेन ने यह कहकर उनकी बात नहीं मानी कि प्रेम के मार्ग पर चलने वाला घड़ी-मुहूर्त नहीं देखता। रत्नसेन की माता और पत्नी नागमती ने उसे जाने से रोकने की चेष्टा की किन्तु उनका प्रयत्न निष्फल रहा। उसके साथ सोलह सौ अन्य कुंवर भी हो लिए और वे सब ही राजा के साथ सिंहलद्वीप की ओर चल पड़े।

13. राजा-गणपति संवाद खण्ड—एक महीने तक की निरंतर यात्रा के पश्चात् रत्नसेन अपने साथियों के साथ समुद्र-तट पर पहुँच गया। राजा गणपति ने रत्नसेन के आगमन का समाचार सुना तो वह मिलने आया और रत्नसेन का बड़ा आतिथ्य किया। रत्नसेन ने जब गणपति से समुद्र पार करने के लिए नावें माँगी तो उसने रत्नसेन से समुद्र के मार्ग को भयंकर बताते हुए सिंहलद्वीप न जाने का आग्रह किया। रत्नसेन का उत्तर था कि प्रेम-मार्ग पर पथिक इस प्रकार के विघ्नों की चिन्ता नहीं किया करता।

14. बोहित खण्ड—राजा रत्नसेन को सिंहलद्वीप जाने के लिए वृद्धप्रतिज्ञ देखकर गणपति ने नावें प्रदान कर दीं और रत्नसेन अपने साथी कुंवरों के साथ रवाना हो गया।

15. सात-समुद्र खण्ड—राजा रत्नसेन सत्य पर स्थिर था जिसके प्रतापस्वरूप वह क्षार-समुद्र, क्षीर समुद्र, उदधि समुद्र, सुरा समुद्र और किलकिला समुद्र को साहसपूर्वक पार करते हुए सातवें समुद्र मानसर में आ पहुँचा। यहां आकर सभी को बड़ा आनन्द अनुभव हुआ।

16. सिंहलद्वीप खण्ड—सिंहलद्वीप पहुँच जाने पर वहाँ के सुन्दर वातावरण को देखकर राजा ने तोते से पूछा कि हे गुरु सुग्गे! हम कौन से सुन्दर स्थान पर आ गए हैं? प्रत्युत्तर में हीरामन ने राजा को सिंहलद्वीप के विषय में बताया। उसने राजा को बताया कि माघ मास की पंचमी को पद्मावती शिव-मन्दिर में दर्शन करने आएंगी, तब तुम उसको देख सकते हो। राजा को शिव मन्दिर के समीप छोड़कर हीरामन पद्मावती के महल में चला गया।

17. मंडप गमन खण्ड—राजा के हृदय में पद्मावती विषयक विरह-भाव उद्दीप्त हो उठा। वह बीस सहस्र शिष्यों के साथ शिव-मंडप में पहुँचकर स्तुति करने लगा। तब मन्दिर से एक अस्फुट स्वर सुनाई दिया कि मनुष्य प्रेम द्वारा ही बैकुंठ को प्राप्त कर सकता है। तदन्तर रत्नसेन बाघम्बर पर बैठकर पद्मावती के नाम का बार-बार जाप करने लगा।



टास्क पद्मावत की कथा किस शैली में लिखी गई है?

18. पद्मावती वियोग खण्ड—रत्नसेन के प्रेम के प्रभावस्वरूप पद्मावती का हृदय विचलित होने लगा उसको अज्ञात भाव से ही विरह की अनुभूति होने लगी। यौवन के आगमन पर प्रियतम की अप्राप्ति से खिन्न पद्मावती ने अपने हृदय की खिन्नता अपनी धाय की बतलाई। धाय ने उसे धैर्य रखने का परामर्श दिया और कहा कि यह विरह तभी तक है जब तक तुझको प्रिय की प्राप्ति नहीं होती।

19. पद्मावती-सुआ भेंट खण्ड—पद्मावती की विरहानुभूति की दशा में ही हीरामन तोता उससे जाकर मिला। जिससे पद्मावती को पर्याप्त समाश्वासन मिला। कुशल-क्षेम और हाल चाल पूछने पर हीरामन ने उसको अपना अब तक का पूरा वृत्तान्त सुनाया। यह सुनकर पद्मावती को पहले तो गर्व हुआ कि योगी उसके योग्य नहीं है किन्तु हीरामन के मुख से प्रशंसा सुनकर उसका हृदय द्रवित हो उठा, उसने हीरामन को आश्वासन दिया कि मैं बसन्त-पूजा के बहाने रत्नसेन से मिलूँगी। हीरामन ने यह समाचार रत्नसेन को पहुँचा दिया।

20. वसंत खण्ड—वसन्त-पंचमी का पर्व आने पर पद्मावती अपनी सखियों के साथ देव-पूजन के लिए आई और देवता से अपने वर के लिए मनौती करने लगी। उससे सखियों ने कहा कि इधर योगियों का एक समूह ठहरा हुआ है। उनका गुरु बत्तीस लक्षणों से ओत-प्रोत कोई राजकुमार प्रतीत होता है। पद्मावती उधर गई तो उसके अनिंद्य सौन्दर्य की आभा से रत्नसेन बेहोश हो गया। पद्मावती ने उसके मस्तक पर चंदन लगाया और फिर उसके हृदय पर चंदन से यह लिखकर लौट गई कि योगी! तुम भिक्षा लेना नहीं जानते। अब तुम्हें सातवें आकाश पर (सत खंडे महल पर) आना पड़ेगा। रात को पद्मावती ने स्वप्न देखा कि सूर्य और चन्द्रमा का मिलन हुआ है, जिसे उसकी सखियों ने एक शुभ स्वप्न बतलाया।

21. राजा रत्नसेन-सती खण्ड—होश में आने पर पद्मावती को न देखकर रत्नसेन को बड़ा दुःख हुआ और वह स्वयं को धिक्कारने लगा। अतः उसने चिता में जलकर मरने का संकल्प किया क्योंकि उसने जिस पद्मावती की प्राप्ति के लिए योग धारण किया था वह उसे उपलब्ध नहीं हुई थी। हनुमान ने शिव को बताया कि आपके मंडप में जाकर राजा जलकर मर रहा है।

22. पार्वती-महेश खण्ड—मंडप में योगी नरेश के जलने की बात सुनकर शिव पार्वती सहित उपस्थित हुए और उससे जलने का कारण पूछा। कारण ज्ञात होने पर पार्वती ने उसकी परीक्षा ली जिसमें रत्नसेन खरा उतरा। शिव ने राजा को आश्वासन देते हुए बताया कि सिंहलगढ़ उसी प्रकार टेढ़ा है जैसे तुम्हारा शरीर। यदि तुम साहसपूर्वक दुर्ग पर चढ़ने का प्रयास करोगे, तो पद्मावती के समीप पहुँचकर कृतकृत्य हो सकते हो। यह तभी संभव है जब तुम प्राणों का मोह त्यागकर इस दिशा में प्रयत्नशील हो।

23. राजा-गढ़-छँका खण्ड—रत्नसेन को शिवजी ने एक सिद्धि-गुटका भी प्रदान किया। रत्नसेन ने गणेश का स्मरण करके अपने चेलों के साथ गढ़ को घेर लिया। इससे मचे कोलाहल की सूचना सिंहलगढ़-नरेश तक पहुँचाई गई। राजा ने दूत भेजकर योगियों के इस आचरण का कारण पूछा और कहलाया कि योगी यहाँ से लौट जाएँ। रत्नसेन ने उत्तर दिया कि मैं पद्मावती रूपी भिक्षा प्राप्त करने आया हूँ। यह सुनकर राजा क्रुद्ध तो बहुत हुआ किन्तु उसने योगियों को इसलिए नहीं मरवाया कि उसके मंत्रियों ने इसके विरुद्ध परामर्श दिया था। रत्नसेन ने अपनी वियोग-व्यथा से ओत-प्रोत एक चिट्ठी हीरामन के माध्यम से पद्मावती को भेजी। विरह-विदग्धा पद्मावती ने भी एक पत्र रत्नसेन को भेजा और सूचना दी कि अब तो तुम मुझे जीवन की बाजी लगाकर ही प्राप्त कर सकते हो। पद्मावती का यह संदेश पाकर रत्नसेन को मानो पुनर्जीवन की प्राप्ति हुई है वह गढ़ के द्वार खोलकर ऊपर चढ़ गया। चारों ओर शोर मच गया कि गढ़ में चोर घुस आए हैं।

24. गन्धर्वसेन-मंत्री खण्ड—सिंहलगढ़-नरेश गन्धर्वसेन ने अपने मंत्रियों से इस विषय में परामर्श किया कि इन योगियों को कैसे दण्ड दिया जाना चाहिए। निश्चय यह हुआ कि योगियों को चोरों की भाँति सूली का दण्ड दिया जाना चाहिए। योगियों के विरुद्ध एक बड़ी सेना भेजकर उन्हें पकड़ लिया गया। प्रेम-पंथ के पथिक योगियों ने अपनी गिरफ्तारी का विरोध नहीं किया। पद्मावती तो पहले ही रत्नसेन के वियोग में दुःखी थी। जब उसे रत्नसेन को बंधनग्रस्त कराए जाने का हीरामन के माध्यम से समाचार ज्ञात हुआ तो वह बहुत दुःखी हुई। हीरामन उसे समाश्वासन देने लगा।

25. रत्नसेन-सूली खण्ड—बन्दी बनाए गए सभी योगियों को सूली चढ़ाने के स्थान पर लाया गया। सूली के लिए सर्वप्रथम रत्नसेन को चढ़ाने गया तो वह मंसूर की भाँति प्रसन्न था। लोग उसके सौन्दर्य को देखकर चकित हो रहे थे। तभी वहाँ एक भाट के वेश में आए हुए शिवजी ने गन्धर्वसेन को बताया कि यदि तुम इसे सूली दोगे तो भयंकर युद्ध छिड़ जाएगा। उन्होंने रण का घंटा बजाया और तुरन्त ही देवों की सेना एकत्रित होने लगी। गन्धर्वसेन के क्रुद्ध होने पर शिव जी ने उसको समझाया कि यह जोगी चित्तौड़गढ़ का राजा है और बड़ा ही गुणवान है। इसको हीरामन तोता सिंहलद्वीप बुलाकर लाया है। हीरामन तोते से पूछने पर गन्धर्वसेन को रत्नसेन की सत्यता का पता चल गया। उसने रत्नसेन को बन्धन मुक्त कर दिया और पद्मावती तथा रत्नसेन के विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

26. रत्नसेन-पद्मावती विवाह खण्ड—रत्नसेन से विवाह की तैयारियाँ होते देखकर पद्मावती बहुत प्रसन्न हुई। सारा नगर भली-भाँति सजाया गया। रत्नसेन ने अपना योगियों वाला वेष त्यागकर नयी साज-सज्जा धारण की। अत्यन्त उल्लास और आनन्द के वातावरण में उनका विवाह सम्पन्न हो गया।

नोट

27. पद्मावती-रत्नसेन भेंट खण्ड—पद्मावती और रत्नसेन की सात खंडों के ऊपर सोने के लिए सेज सजाई गई जो अतीव मृदुल उपकरणों से विनिर्मित थी। अपने उन्माद सौन्दर्य की हिलोरें लेती हुई पद्मावती रत्नसेन के समीप पहुँची।

28. रत्नसेन-साथी खण्ड—रत्नसेन के साथी उससे मिलने को समुत्सुक थे। अतः वह उनकी सभा में गया। रत्नसेन ने अपने साथियों को भी सोलह हजार पद्मिनी नारियों के साथ सुख के अन्य सामान प्रदान करवा दिए।

29. षट्-ऋतु वर्णन खण्ड—पद्मावती ने अपनी सहेलियों को बुलाकर अपना तथा उनका श्रृंगार किया और सभी नव-विवाहिताएँ अपने-अपने पतियों के समीप काम-युद्धार्थ गईं। उन्होंने छहों ऋतुओं में स्व-पतियों के साथ सुख-भोग किए।

30. नागमती-वियोग खण्ड—रत्नसेन के वियोग में तड़पती नागमती की विवशता का तीसवें खंड में जायसी ने बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। उसका शरीर सूखकर काँटे जैसा हो गया था और उसके मुख से सदैव पी-पी की ध्वनि निकलती रहती है। बारह-मासा के साथ में जायसी ने नागमती की वर्ष के बारहों महीनों में कैसी कातर दशा हो गई थी, इस तथ्य का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है।



नोट्स

नागमती वियोग खण्ड हिंदी साहित्य में अद्वितीय है। जायसी ने वर्ष के बारह महीनों में नागमती के विरह की अलग-अलग दशाओं का वर्णन किया है।

31. नागमती-संदेश खण्ड—नागमती स्वपति के वियोग में घूम-घूम कर रोती कलपती रही किन्तु उसको किसी ने भी धैर्य नहीं बंधाया। अंततः एक पक्षी को उस पर दया आ गई और उसने पूछा कि तुम्हें क्या दुःख है। जिसके कारण अर्द्धरात्रि में भी इस प्रकार कलप रही हो। नागमती ने उसे अपनी दयनीय विरहावस्था सुनाने के साथ-साथ यह भी बताया कि उसके पति की माता भी पुत्र-वियोग में उसी प्रकार तड़पकर मर रही है जैसे श्रवणकुमार के वियोग में उसके माता-पिता मर गए थे। वह पक्षी नागमती के वियोग के संदेश को लेकर सिंहलद्वीप आ गया। उसके विरह की आग से वहाँ की वस्तुएँ जलने लगीं। भाग्यवश रत्नसेन भी शिकार खेलता हुआ उधर आ गया और उसने वह वियोग-संदेश सुन लिया। इस संदेश को सुनकर रत्नसेन का अंतर्मन चित्तौड़ को लौटने के लिए व्याकुल हो उठा। उसको उदास देखकर गंधर्वसेन ने उसकी उदासी का कारण पूछा।

32. रत्नसेन-विदाई खण्ड—रत्नसेन ने पद्मावती के पिता को अपनी उदासी का कारण बताया कि कैसे मैंने एक पक्षी से अपनी पत्नी और माता की वियोग-व्यथा का वर्णन सुना है उसे गंधर्वसेन और पद्मावती ने समझाया किन्तु रत्नसेन पर उनका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। हारकर गंधर्वसेन ने रत्नसेन को बहुत-सा द्रव्य देकर पद्मावती को उसके साथ विदा कर दिया। उस अपार द्रव्य को देखकर रत्नसेन का अंतर्मन गर्व से भर गया। उसी समय समुद्र एक विप्र के वेश में उससे दान लेने आया किन्तु रत्नसेन तो लोभ के वशीभूत हो उठा था।

33. देश-यात्रा खण्ड—समुद्र द्वारा याचक के रूप में दान माँगने पर राजा रत्नसेन ने उसकी इच्छापूर्ति नहीं की। परिणाम यह निकला कि समुद्र उससे रुष्ट हो गया और जहाज आधे मार्ग पर ही पहुँच पाए थे कि जोरदार समुद्री तूफान आ गया। वहाँ एक राक्षस माँझी बनकर आया और उसके जहाज को एक गंभीर भंवर में फंसाकर डुबो दिया। रत्नसेन और उसके साथी तितर-बितर हो गए।

34. लक्ष्मी समुद्र खण्ड—समुद्र में डूबने के कारण पद्मावती अचेतावस्था में बहती जा रही थी कि उसको सागर की पुत्री लक्ष्मी ने पकड़ लिया और सचेत कर लिया। संज्ञा को प्राप्त होने पर पद्मावती सती होने का भाग्रह करने लगी किन्तु लक्ष्मी को उसे पर दया आ गई अतः उसने पद्मावती और रत्नसेन का सम्मिलन करा दिया। बहुत से रत्न आदि लेकर वे पुनः चित्तौड़ की ओर चल दिए।

35. चित्तौड़ आगमन खण्ड—रत्नसेन के चित्तौड़ लौटते ही चतुर्दिक आनन्दोल्लास परिव्याप्त हो गया। नागमती की भी प्रसन्नता का पारावार नहीं था। रात्रि समय राजा नागमती के समीप गया।

नोट

36. नागमती-पद्मावती विवाद खंड—सपत्नीजन्य ईर्ष्या भाव के कारण नागमती और पद्मावती में विवाद छिड़ गया तो रत्नसेन ने स्नेह-सिक्त वाक्य कहकर दोनों को शान्त किया।

37. रत्नसेन संतति खंड—इस सैंतीसवें खंड में नागमती द्वारा नागसेन को पद्मावती द्वारा कंवलसेन को जन्म देने का वर्णन किया गया है।

38. राघवचेतन देश निकाला खंड—पद्मावती के साथ उसके मायके से राघवचेतन नामक एक विद्वान् आया था जो रत्नसेन के दरबार में रहता था। रत्नसेन ने उससे रुष्ट होकर उसे चित्तौड़ से निष्कासित कर दिया। राघवचेतन रुष्ट होकर दिल्ली के तत्कालीन सुल्तान अलाउद्दीन से जा मिला।

39. राघवचेतन दिल्ली आगमन खंड—दिल्ली जाकर राघवचेतन ने अलाउद्दीन का मन स्त्रियों के रूप की ओर आकर्षित करने का प्रयास किया। उसने सुल्तान से पद्मिनी स्त्रियों की प्रशंसा की।

40. स्त्री-भेद वर्णन खंड—प्रस्तुत चालीसवें खंड में राघवचेतन द्वारा सुल्तान अलाउद्दीन को पद्मिनी, चित्राणी, शंखिनी और हस्तिनी जाति की स्त्रियों के लक्षण सुनाए जाते हैं।

41. पद्मावती रूप-चर्चा खंड—राघवचेतन ने अलाउद्दीन को चित्तौड़ की रानी पद्मावती की ओर आकृष्ट करने के लिए उसका नख-शिख वर्णन सुनाया जिसे सुनकर अलाउद्दीन बेहोश हो गया। होश में आने पर उसने पद्मावती को प्राप्त करने का निश्चय किया और राघवचेतन को बहुत सा पुरस्कार दिया। अलाउद्दीन ने सरजा के माध्यम से रत्नसेन को यह पत्र भिजवाया कि वह पद्मावती को अलाउद्दीन को सौंप दे।

42. बादशाह-चढ़ाई खंड—सरजा से मिले अलाउद्दीन के पत्र को पढ़कर रत्नसेन अत्यधिक क्रुद्ध हुआ और सुल्तान को संदेश भिजवा दिया कि यदि वह चाहे तो आक्रमण कर दे, मैं आक्रमण का मुँह तोड़ उत्तर देने को तैयार हूँ। रत्नसेन के इस समाचार को पाकर सुल्तान ने आक्रमण की तैयारी कर दी। दूसरी ओर रत्नसेन ने भी अपनी सेना तैयार कर ली।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—

1. रानी पद्मावती सिंहलद्वीप के राजा की पुत्री थी।
2. राजा रत्नसेन का राजा था।
3. पद्मावती के तोते का नाम था।
4. रत्नसेन की पहली पत्नी का नाम था।
5. दिल्ली का सुल्तान रानी पद्मावती के रूप-सौंदर्य पर मोहित हो गया था।

43. राजा-बादशाह युद्ध खंड—अलाउद्दीन और रत्नसेन की सेनाएँ एक-दूसरे के सामने डट गईं और उनमें भयंकर युद्ध होने लगा। अलाउद्दीन की विशाल सेना का सामना करने में स्वयं को असमर्थ पाकर रत्नसेन ने अपने दुर्ग की शरण ली। अलाउद्दीन ने किले का घेरा डाल दिया और दुर्ग की ओर तोपों के गोले और तीरों की वर्षा की जाने लगी। भीतर से रत्नसेन ने भी इन आक्रमणों का करारा जवाब दिया। इस प्रकार युद्ध चलते बारह वर्ष के लगभग बीत गए। सुल्तान को दिल्ली लौटने का बुलावा आ गया।

44. राजा-बादशाह मेल खंड—बादशाह ने युद्ध बन्द करके सरजा को सन्धि के लिए प्रेषित किया। सरजा ने छलपूर्वक रत्नसेन को सन्धि के लिए प्रस्तुत करके बादशाह को सन्धि की सूचना भिजवा दी। अलाउद्दीन ने किला देखने की इच्छा व्यक्त की और रत्नसेन ने उसको भोजन पर आमंत्रित कर लिया।

45. बादशाह-भोज खंड—इस खंड में बादशाह के भोज के लिए बनाई गई विभिन्न प्रकार की वस्तुओं मांस-मछली, चावल, तरकारी आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

46. चित्तौड़गढ़-वर्णन खंड—भोजन के उपरान्त बादशाह प्रभात में दुर्ग देखने गया तो वहाँ की समृद्ध बस्ती को देखकर चकित रह गया। गोरा और बादल ने रत्नसेन को समझाया कि वह बादशाह से हेल-मेल न बढ़ाए। किन्तु

नोट

राजा ने उनकी बातों की ओर ध्यान नहीं दिया। भोजन करते हुए अलाउद्दीन पद्मावती की एक झलक पाने को व्याकुल रहा। अंततः राजा के साथ शतरंज खेलते हुए उसने अपने समीप रखे दर्पण में पद्मावती का प्रतिबिम्ब देख लिया और बेहोश हो गया।

47. रत्नसेन बंध खण्ड—भोजन के उपरान्त रत्नसेन, सुल्तान को विदा करने के लिए उसके साथ-साथ दुर्ग के द्वार तक आया तो सुल्तान ने उसे छलपूर्वक बन्दी बना लिया।

48. पद्मावती नागमती-विलाप खण्ड—इस खंड में रत्नसेन को बन्दी बना लिए जाने पर नागमती और पद्मावती द्वारा विलाप करने का मार्मिक वर्णन किया गया है।

49. देवपाल दूती खण्ड—कुंभलनेर का देवपाल नामक नरेश रत्नसेन के प्रति शत्रुता का भाव रखता था। रत्नसेन को बन्दी बनाकर दिल्ली ले जाने का समाचार पाकर कुमुदिनी नामक दूती को पद्मावती को फुसलाकर कुंभलनेर ले आने के लिए भेजा। दूती ने पद्मावती को बताया कि वह सिंहलद्वीप की ही है और उसके पिता के पुरोहित की पुत्री है। बाद में जब उसने पद्मावती को फुसलाना चाहा तो उसके मंतव्य को जानकर पद्मावती ने रुष्ट होकर उसे पिटवाकर भगा दिया।

50. बादशाह दूती खंड—सुल्तान अलाउद्दीन ने भी एक नर्तकी को दूती के रूप में पद्मावती के समीप भेजा। यह नर्तकी एक जोगिन के वेश में चित्तौड़ आई और पद्मावती पर अपना प्रभाव जमाने में सफल हो गई, किन्तु अंततः उसका रहस्योद्घाटन हो गया और उसे भगा दिया गया।

51. पद्मावती-गोरा-बादल संवाद खण्ड—स्व-पति के बन्दी बनाए जाने से दुःखी पद्मावती उसकी मुक्ति के लिए बहुत-से शूर-सामन्तों से मिली। अंततः गोरा और बादल ने राजा को छुड़ा लाने का वचन देते हुए तदर्थ पान का बीड़ा खाकर यह उत्तरदायित्व संभाल लिया।

52. गोरा-बादल युद्ध-यात्रा खण्ड—बादल की माता ने बादल को युद्ध में जाने से रोकने का प्रयास किया। किन्तु उसने अपने वीरोचित उत्तरों से माता को समझा-बुझा दिया। बादल का अभी गौना होकर आया था तो उसकी पत्नी ने भी उसे छोड़कर न जाने की प्रार्थना की, किन्तु बादल को उसके संकल्प से विचलित नहीं कर सकी।

53. गोरा-बादल युद्ध खण्ड—गोरा और बादल ने आपस में परामर्श करके छल का प्रत्युत्तर छल से देने का निश्चय किया। उन्होंने सोलह सौ पालकियाँ सज्जित करवाकर उनमें हथियारों से लैस योद्धा बिठा दिए। एक पालकी को पद्मावती के नाम से सजाकर उसमें लोहार बैठा दिया गया और यह कहते हुए दिल्ली की ओर चल पड़े कि रानी पद्मावती दिल्ली जा रही है। दिल्ली पहुँचकर उन्होंने बन्दीगृह के रक्षक को दस लाख मुद्राएँ देकर अपनी ओर मिला लिया और उसके माध्यम से सुल्तान को यह संदेश पहुँचाया कि पद्मावती आपके पास आने से पूर्व स्वपति से मिलकर उसे दुर्ग की चाबियाँ सौंपने की आज्ञा चाहती हैं। सुल्तान की ओर से यह आज्ञा मिल जाने पर लोहार ने राजा के बन्धन काट दिये और पूर्व-नियोजित कार्यक्रम के अनुसार रत्नसेन बादल की संरक्षता में चित्तौड़ की ओर रवाना हो गया। इस षड्यंत्र का रहस्य खुलने पर शाह की सेना ने रत्नसेन को बन्दी बनाने के लिए पीछा करना चाहा किन्तु बादल का चाचा गोरा अपने साथियों के साथ उसे तब तक आगे बढ़ने से रोके रहा, जब तक कि रत्नसेन चित्तौड़ नहीं पहुँच गया। अंततः गोरा वीरगति को प्राप्त हो गया।

54. बन्धन-मोक्ष, पद्मावती मिलन खण्ड—रत्नसेन के बन्दीगृह से छूट आने की प्रसन्नता में पद्मावती ने बादल के भुजदंडों की पूजा करने के साथ-साथ घोड़ों के पैरों को अपने हाथों से दबाकर अपनी कृतज्ञता और हर्ष प्रकट किया। अवकाश मिलने पर उसने रत्नसेन को देवपाल द्वारा दूती भेजने का समाचार सुना दिया।



क्या आप जानते हैं?

पद्मावत की नायिका 'पद्मावती' अलौकिक सत्ता का प्रतीक है तथा नायक रत्नसेन जीवात्मा का प्रतीक है।

नोट

55. रत्नसेन-देवपाल युद्ध खण्ड—रत्नसेन को देवपाल द्वारा दूती भेजे जाने का समाचार पाकर बड़ा क्रोध आया और उस पर आक्रमण कर दिया। वह द्वन्द्व युद्ध में बुरी तरह घायल हो गया किन्तु देवपाल उसके हाथों मारा गया। चित्तौड़ की ओर लौटते हुए रत्नसेन रास्ते में बेहोश हो गया।

56. राजा रत्नसेन बैकुण्ठवास खण्ड—चित्तौड़ आते-आते रत्नसेन का स्वर्गवास हो गया। मरते समय उसने गढ़ की रक्षा का भार बादल को सौंप दिया।

57. पद्मावती-नागमती सती खण्ड—पद्मावती और नागमती दोनों ही साध्वी नारियाँ स्व-पति के शव के साथ सती हो गईं। पति के प्रेम में रंगी हुई वे उससे स्वर्ग में जा मिलीं। तभी बादशाह की सेना ने दुर्ग घेर लिया। चित्तौड़ के योद्धाओं ने युद्ध में वीरगति प्राप्त की जबकि स्त्रियों ने जौहर कर लिया। अलाउद्दीन के हाथ रानी पद्मावती की राख ही लगी।

उपसंहार—पद्मावत की कथा का उपसंहार करते हुए कवि ने इस कथा-सम्बन्धी एक रहस्य का उद्घाटन किया है जिससे पूरी कथा एक अन्योक्ति सिद्ध होती है। इस रहस्योद्घाटन के अनुसार ऊपर जो चौदह भुवन हैं वे मनुष्य के अंदर ही हैं, तन चित्तौड़ है, मन राजा है, हृदय सिंहल है, बुद्धि पद्मिनी है, गुरु सुआ है, नागमती दुनिया-धंधा है, राघवचेतन शैतान है और अलाउद्दीन माया है। जो इस कथा को सुनता है वह प्रेम की पीर से व्याकुल हो उठता है। अंततः अपनी वृद्धावस्था पर खेद व्यक्त करते हुए कवि ग्रन्थ को समाप्त करता है।

6.2 सारांश (Summary)

सूफी कवि जायसी ने भारतीय पौराणिक कथा का आधार लेकर फ़ारसी की मसनवी शैली में पद्मावत महाकाव्य की रचना की।

पद्मावत महाकाव्य की नायिका पद्मावती सिंहलद्वीप के राजा गंधर्वसेन की पुत्री थी। पद्मावती के पास एक पालतू तोता (सुआ) था। जो सदैव उसके साथ ही रहता था। एक बार वह तोता उड़कर चित्तौड़गढ़ के राजा रत्नसेन के पास पहुँच गया। तोते ने राजा से सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के अनुपम सौंदर्य का वर्णन किया। रत्नसेन मन ही मन पद्मावती के सौंदर्य पर मोहित हो गया। पद्मावती के प्रति प्रेमभाव जागृत होने के पश्चात् रत्नसेन अपनी पत्नी नागमती व चित्तौड़गढ़ छोड़कर सिंहलद्वीप के लिए रवाना हो गया। मार्ग में अनेक प्रकार की बाधाएँ पार करते हुए वह अंततः पद्मावती को प्राप्त कर लेता है। दूसरी ओर दिल्ली का सुल्तान अलाउद्दीन रानी पद्मावती के प्रेम में आसक्त होकर उसे प्राप्त करने हेतु रत्नसेन से युद्ध करता है। युद्ध में रत्नसेन मारा जाता है और अंत में रानी नागमती व रानी पद्मावता रत्नसेन की चिता के साथ सती हो जाती है।

6.3 शब्दकोश (Keywords)

1. नख-शिख वर्णन: इसके अंतर्गत नायिका के नाखून से लेकर सिर तक के सभी शृंगारों का वर्णन किया जाता है। रीति-काल में नख-शिख वर्णन की परंपरा रही है।

2. षट्-ऋतु वर्णन: नायक-नायिका के विशेष संदर्भ में छः ऋतुओं का वर्णन कवि करता है।

6.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. जायसीकृत पद्मावत महाकाव्य का कथा सार लिखिए।
2. पद्मावत की कथा के महत्वपूर्ण खंडों की कथा विस्तार से लिखिए।

उत्तर-स्वमूल्यांकन (Answer-Self Assessment)

1. गंधर्वसेन
2. चित्तौड़गढ़
3. हीरामन
4. नागमती
5. अलाउद्दीन

6.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

नोट



पुस्तकें

1. पद्मावत—मलिक मुहम्मद जायसी कृत।
2. जायसी ग्रन्थावली—शुक्ल रामचंद्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
3. मलिक मुहम्मद जायसी—बी.सी. पाण्डेय, विनोद प्रकाशन।

नोट

इकाई 7

सिंहलद्वीप-वर्णन खण्ड : व्याख्या भाग**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

7.1 सिंहलद्वीप-वर्णन खण्ड: सप्रसंग व्याख्या

7.2 सारांश (Summary)

7.3 शब्दकोश (Keywords)

7.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

7.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- पद्मावत के सिंहलद्वीप वर्णन खण्ड का आशय समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

यह पद्मावत का द्वितीय खण्ड है। इस खण्ड में सिंहलद्वीप (पद्मावती की जन्मस्थली) को कवि ने सातों द्वीपों में सर्वश्रेष्ठ चित्रित करते हुए वहाँ की नारियाँ पद्मिनी नारी दिखाई देती हैं। सिंहलद्वीप का शासक गन्धर्वसेन उल्लिखित है। जिसका वैभव स्वर्ग तुल्य है। वहाँ के बागों में आम, कटहल, आदि अनेक प्रकार के वृक्ष लगाए गए हैं। यहाँ सिंहलद्वीप-वर्णन खण्ड की सप्रसंग व्याख्या प्रस्तुत है।

7.1 सिंहलद्वीप-वर्णन खण्ड: सप्रसंग व्याख्या

सिंघल दीप कथा अब गावौं। औ सो पदुमिनी बरनि सुनावौं। 1।

बरन क दरपन भाँति बिसेखा। जेहि जस रूप सो तैसेइ देखा। 2।

धनि सो दीप जहं दीपक नारी। औ सो पदुमिनी दइअ अवतारी। 3।

सात दीप बरनहिं सब लोगू। एकौ दीप न ओहि सरि जोगू। 4।

दिया दीप नहिं तस उजियारा। सरां दीप सरि होइ ना पारा। 5।

जंबू दीप कहौं तस नाहीं। पूज न लंक दीप परिछाहीं। 6।

दीप कुसस्थल आरन परा। दीप महुस्थल मानुस हरा। 7।

सब संसार परधमैं आए सातौं दीप।

एकौ दीप न उत्तिम सिंघल दीप समीप ॥ 2/1 ॥

शब्दार्थ – बरनि=वर्णन करके। बरन क =वर्णन की। बिसेखा=विशेषता। जस=जैसा। दइअ=दिया है। अवतारी=ईश्वर। सरि=समता। जोगू=योग्य। दिया दीप=काठियावाड़ का समीपवर्ती दीउ नाम का द्वीप। सरां दीप = सरन नामक द्वीप (सुमात्रा)। जंबू दीप = यह सम्भवतः एशिया महाद्वीप का द्योतक है क्योंकि भारतवर्ष इसी द्वीप का एक खंड माना गया है (इसका उल्लेख पुराण आदि ग्रंथों में मिलता है) लंक-दीप = यह वर्तमान लंका का वाचक माना

नोट

जा सकता है। आरन=जंगल। सिंहल दीप=सिंहल का सामान्यता: अर्थ लंका ग्रहण किया जाता है किन्तु यह जायसी द्वारा कल्पित द्वीप है। क्योंकि लंका का तो जायसी ने छठी पंक्ति में पृथक् रूप में उल्लेख किया है। दीप महुस्थल= यह भी जायसी द्वारा कल्पित द्वीप है। मानुस हरा=मानवों से रहित।

संदर्भ – इन पंक्तियों में जायसी ने पद्मावती के जन्म-स्थल सिंहलद्वीप को सुन्दरता में अप्रतिम चित्रित किया है।

व्याख्या – अब मैं सिंहलद्वीप की कथा का वर्णन करता हूँ और पद्मिनी का वर्णन सुनाता हूँ। काव्य-वर्णन की विशेषता दर्पण की भांति होती है, उसमें जिसका जैसा रूप होता है, वह उसमें वैसा रूप देख सकता है। अर्थात् प्रत्येक पाठक अपनी भावनाओं के अनुरूप काव्य-वर्णन का भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण कर सकता है। वह सिंहलद्वीप धन्य है जहां सौन्दर्य का दीपक की भांति प्रकाश विकीर्ण करने वाली नारियाँ हैं और ईश्वर ने उन्हें पद्मिनी जाति का बनाया है अथवा जहां ईश्वर ने पहिनी (पद्मावती) को जन्म दिया है। लोग सात द्वीपों का वर्णन किया करते हैं। किन्तु उसके समान एक भी द्वीप नहीं है। दिया नामक द्वीप में उसके समान प्रकाश नहीं है। सरन द्वीप भी उसकी समता करने में असमर्थ है। यदि उसके समान जम्बू द्वीप को बताऊँ तो कहना पड़ता है कि वह भी उसके तुल्य नहीं है। लंकाद्वीप उसकी परछाई की भी समता नहीं कर सकता। कुशा या कुशास्थल नामक द्वीप जंगल में है जबकि मरुस्थल नामक द्वीप जनशून्य होने के कारण उसकी बराबरी नहीं कर सकता।

इस संसार में सर्वप्रथम इन्हीं सातों द्वीपों को माना जाता था, या इन्हीं द्वीपों की रचना की गई थी, किन्तु इनमें से एक भी द्वीप सिंहलद्वीप के समान उत्तम नहीं है।— सिंहलद्वीप अनुपमेय है।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. इन पंक्तियों में जायसी ने जिन सात द्वीपों का उल्लेख किया है उन्हें कुछ विद्वानों ने द्वीपों के स्थान पर पद्मिनी जाति की नारी के सात अंगों की सुन्दरता का प्रतीक स्वीकार किया है, जो इस दृष्टि से और भी उचित प्रतीत होता है। स्वयं कवि ने ही यह संकेत कर दिया है।

“बरन का दरपन भांति बिसेखा। जेहि जस रूप सो तैसेइ देखा।”

इन द्वीपों के प्रतीकार्थ इस प्रकार हैं—दिया द्वीप = नेत्र। सरन दीप = कान। जम्बू द्वीप = जामुन जैसे काले केश। लंकाद्वीप = कटि प्रदेश। कुरु स्थल द्वीप (पाठान्तर कुंभस्थल द्वीप) = उरोज। कुश द्वीप = गुह्यांग का बालों से युक्त भाग। महुस्थल = गुह्यांग। कवि का अभिव्यंग्यार्थ यह प्रतीत होता है कि सिंहलद्वीप अर्थात् ब्रह्मरंध्र के महत्व की बराबरी नारी के सात द्वीप रूपी सात अंग नहीं कर सकते।

साहित्यिक सौन्दर्य – उपमा, प्रतीप अलंकार।

गंधपसेन सुगंध नरेसू। सो राजा यह ताकर देसू। 1।

लंका सुना जो रावन राजू। तेहू चाहि बड़ ताकर साजू। 2।

छप्पन कोटि कटक दर साजा। सबै छत्रपति ओरंगन्ह राजा। 3।

सोरह सहस घोर घोरसारा। सावंकरन बालका तुखारा। 4।

सात सहस हस्ती सिंहली। जिमि कबिलास एरापति बली। 5।

असुपती क सिरमौर कहावा। गजपती क आकुंस गज नावा। 6।

नरपति क कहाव नरिंदू। भुअपती क जग दोसर इंदू। 7।

अइस चक्कवै राजा चहूँ खंड भै होइ।

सबै आइ सिर नावहिं सरबरि करै न कोई ॥2/2॥

शब्दार्थ—गंधपसेन=गंधर्वसेन। सुगंध=यशस्वी। ताकर=उसका। चाहि=अधिक। कटक=सेना। दर=दल। ओरंगन्ह=सेवा करना। घोरसारा=अश्वशाला। बालका=बलवान। सावंकरन=श्यामकर्ण अर्थात् काले कानों वाले घोड़ों की जाति विशेष। तुखारा=तुषार देश के घोड़े। कबिलास=स्वर्ग। एरापति= इन्द्र का हाथी। असुपती=अश्वपति। दोसर=दूसरा। इंदू=इन्द्र। चक्कवै= चक्रवर्ती राजा। भै=भय। सरबरि=बराबरी।

संदर्भ—सिंहलद्वीप के नरेश गंधर्वसेन के बल-वैभव का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—उस सिंहलद्वीप का नरेश गंधर्वसेन बड़ा ही यशस्वी राजा है। वह यहां का नरेश है और यह उसका देश है। लंका में जो रावण का राज्य सुना जाता है, गंधर्वसेन का राज्य उससे भी बढ़कर था। उसके यहां छप्पन करोड़ सेना थी और वह सब सिंहासनस्थ नरेशों का भी राजा अर्थात् चक्रवर्ती राजा था। उसकी अश्वशाला में सोलह हजार बलवान घोड़े थे, जो या तो श्यामकर्ण जाति के थे अथवा तुषार देश के थे। (आचार्य शुक्ल ने इस पंक्ति का पाठान्तर ‘स्यामकरण अरु बांक तुखारा’ ग्रहण किया है), उसके सात हजार सिंहली हाथी थे, जो स्वर्ग के हाथी ऐरावत के समान बलशाली थे। वह अश्वपति राजाओं में सर्वश्रेष्ठ था और ऐसे राजाओं को जो अपने यहां बहुत से हाथी रखते थे अपने समक्ष ऐसे झुकने को विवश कर देता था जैसा— अंकुश के सामने हाथी झुक जाता है। वह नरपतियों में नरेन्द्र कहलाता था और भूपतियों के लिए संसार में दूसरे इन्द्र के समान था।

वह ऐसा चक्रवर्ती नरेश था कि उसका आतंक चारों खण्डों में परिव्याप्त रहता था। देश-देशान्तर के सभी नरेश उसके सामने आकर सिर झुकाते थे और कोई भी उसकी समता नहीं कर सकता था।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. कबिलास=कैलाश, शिवलोक=जायसी शिवलोक में ही इन्द्र को भी मानते हैं, जैसे—
“राजा कहै गरव के हो इन्द्र? शिवलोक।”

2. आईन-ए-अकबरी में राजाओं के चार भेद माने गए हैं—

(क) अश्वपति, (ख) गजपति, (ग) नरपति, (घ) गढ़पति।

3. असम, व्यतिरेक, उपमा अलंकार।

जबहि दीप निअरावा जाई। जनु कबिलास निअर भा आई। 1।

घन अंबराउं लाग चहुं पासा। उठै पुहुमि हुति लाग अकासा। 2।

तरिवर सबै मलै गिरि लाए। भै जंग छांह रैन होइ छाए। 3।

मलै समीर सोहाई छाहां। जेठ जाइ लागै तेहि माहां। 4।

ओही छांह रैन होई आवै। हरिअर सबै अकास दिखावै। 5।

पंथिक जाँ पहुँचै सहि घामू। दुख बिसरै सुख होई बिसरामू। 6।

जिन्ह वह पाई छांह अनूपा। बहुरि न आई सही यह धूपा। 7।

अस अंबराउं सघन घन बरनि न पारौं अंत।

फूलै फरै छहूँ रितु जानहु सदा बंसत। 2/3 ।।

शब्दार्थ—निअरावा=समीप आया। कबिलास=कैलास, स्वर्ग। निअर=समीप। अंबराउं=आम का बाग। पुहुमि हुति=पृथ्वी से लेकर। लागै=लगाए गए हैं। ओही=उस। हरिअर=हरा। सहि=सहकारा। घामू=धूप। पंथिक=पथिक। पारौं=पाना। बरनि न पारौं अंत=वर्णन करके अन्त नहीं मिलता।

संदर्भ— यहां कवि जायसी सिंहल के आम के बागों का वर्णन करते हुए पारमार्थिक विश्राम पाने का संकेत कर रहे हैं।

व्याख्या— जब द्वीप के समीप आए तो ऐसा लगता है कि कैलाश समीप आ गया है। चारों ओर घनी अमराइयां लगी हैं वे इतनी विशाल हैं कि ऐसा लगता है मानो पृथ्वी से उठकर आकाश को स्पर्श करना चाहती हों। वहां के सब वृक्ष ऐसे सुरभित हैं मानो मलय गिरि से लाए गए हों। उनकी छाया इतनी सघन है कि संसार में उन्हीं के कारण रात्रि होती है। उस छाया में मलय वायु सुहावनी लगती है। वहां जेठ के महीने में भी जाड़ा रहता है। उस छाया में रात्रि सी हो आती है अर्थात् सघन छाया के कारण रात्रि जैसा अंधकार रहता है और वृक्षों की हरीतिमा के कारण आकाश भी हरा दिखलाई पड़ता है। वहां जो कोई भी मुसाफिर धूप सहकर पहुंचता है वह अपने ताप-जन्य दुःख को भूलकर आराम पा जाता है। जिसको एक बार वह छाया उपलब्ध हो जाती है, उसे फिर यहां आकर धूप नहीं सहन करनी पड़ती है।

वह आम का बाग इतना सघन है कि उसका वर्णन करके अन्त नहीं पाया जा सकता—उसकी सघनता वर्णनातीत है। वह छहों ऋतुओं में पुष्पित-फलित होता है और वहां सदैव वसन्त ऋतु ही छाया रही है।

नोट

साहित्यिक सौन्दर्य— 1. डॉ. त्रिगुणायत के शब्दों में “यह सम्पूर्ण अवतरण पूर्ण रहस्यात्मक है। यहां पर उस रहस्यात्मक लोक का वर्णन किया गया है जिसकी साधना में रहस्यवादी लगे रहते हैं। यह रहस्यलोक भावमूलक भी है और योगपरक भी। भावना की दृष्टि से इसे हम कवि की रहस्यपूर्ण भावमयी कल्पना मानते हैं योगी की दृष्टि से यह सहस्रारि का वर्णन है जो निश्चय ही बड़ा रहस्यपूर्ण है।”

2. ‘जिन्ह पाई.... यह धूपा’ में स्पष्ट रहस्यात्मक संकेत किया गया है।

3. उत्प्रेक्षा, संबन्धातिशयोक्ति अलंकार।

फरे आंब अति सघन सुहाए। औ जस फरे अधिक सिर नाए। 1।

कटहर डार पींड सों पाके। बड़हर सोउ अनूप अति ताके। 2।

खिरनी पाकि खांड असि मीठी। जाबुं जो पाकि भंवर असि डीठी। 3।

नरिरर फरे फरी खुरहरी। फुरी जानु इन्द्रासन पुरी। 4।

पुनि महु चुवैसो अधिक मिठासू। मधु जस मीठ पुहुप जस बासू। 5।

और खजहजा आव न नाऊं। देखा सब रावन अंबराऊं। 6।

लाग सबै जस अंब्रित साखा। रहै लोभाइ सोइ जोइ चाखा। 7।

गुआ सुपारी जायफर सब फर फरे अपूरि।

आस पास घनि इंबिली औ घन तार खजूरि ॥2/4॥

शब्दार्थ — जस=जैसे। फरे=फले। कटहर=कटहल। पींड=तना। बड़हर=बड़हल। ताके=उसके। पाकि=पकी हुई। असि=जैसी। जांबु=जामुन। डीठी=दिखाई देती है। नरिरर=नारियल। खुरहरी=एक बेल-विशेष। फुरी=फलों से लदी। महु=महुआ। पुहुप=पुष्प। खजहजा=खाने योग्य। अंब्रित=अमृत। गुआ=एक तरह की सुपारी (यदि इसे गावा का अपभ्रंश रूप माना जाए तो अर्थ होगा अमरूद)। (शुक्ल जी ने इसका पाठान्तर लवंग स्वीकार किया है)। इंबिली=इमरी। तार=ताड़।

संदर्भ — सिंहलद्वीप के सघन बागों का वर्णन किया गया है।

व्याख्या — वहां के आमों के अत्यधिक सघन बाग फलों से युक्त हैं और वे जितनी अधिक मात्रा में फले हुए हैं उनकी डालियाँ उतनी ही अधिक झुकी हुई हैं। कटहल के वृक्ष शाखाओं से लेकर तनों तक फलों से लदे हुए थे। वहां के बड़हल के फल भी इस प्रकार अनोखे थे। खिरनियां पककर खांड जैसी मीठी हो गई थीं और जामुनों का रंग पकने पर भौरो जैसा काला प्रतीत होता था। वहां के बागों में नारियल के वृक्ष और खुरहरी की बेलें भी फलों से युक्त थीं और वे बाग शोभा में इन्द्र-कानन जैसे प्रतीत होते थे। वहां के वृक्षों से जो पके महुए चू रहे थे वे अत्यधिक मीठे थे। उनमें से पुष्पों जैसी सुगन्ध आती थी जबकि वे शहद जैसे मीठे थे। वहां पर और भी इतनी प्रकार की मेवाएं थीं कि उनके नाम तक नहीं याद आते। इतने प्रकार के फल और मेवाएं तो रावण के ही बाग में देखी जा सकती हैं। शाखाओं पर लगे हुए फल और मेवाएं अमृत जैसी मीठी थीं। उन्हें जो भी चख लेता था, उनके प्रति वही मोहित हो उठता था।

वहां पर गुआ नामक सुपारी (अथवा पाठभेद के अनुसार लौंग और सुपारी) जायफल और नाना प्रकार के बहुत से फल लगे हुए थे। इन बागों के आस-पास इमली, ताड़ और खजूर के घने वृक्ष लगे हुए थे।

साहित्यिक सौन्दर्य — 1. प्रथम पंक्ति पर ‘नमन्ति फलिनो वृक्षाः नमन्ति गुणिनो जना’ का प्रभाव है।

2. नाम परिगणनात्मक शैली में वृक्षों और फलों का वर्णन किया गया है।

3. उपमा, उत्प्रेक्षा अलंकार।

बसहिं पंख बोलहिं बहु भाषा। करहिं हुलास देखि कै साखा। 1।

भोर होत बासहिं चुहचुही। बोलहिं पांडुक एकै तुही। 2।

सारौ सुवा सो रहचह करहीं। गिरहिं परेवा और करबरहीं। 3।

पिउ पिउ लागे करैं पपीहा। तुही तुही कह गुडुरु खीहा। 4।

कुहू कुहू कोइल करि राखा। औ भिंगराज बोल बजु भाषा। 5।

दही दही कै महरि पुकारा। हारिल बिनवै आपनि हारा। 6।

कुहकहिं मोर सोहावन लागा। होइ कोराहर बोलहिं कागा। 7।

जावतं पंखि कहे सब बैठे भरि अंबराउं।

आपनि आपनि भाषा लेहिं दइअ कर नाउं॥2/5॥

शब्दार्थ – पंखि=पक्षी। हुलास=उल्लास। भोर=प्रभात। बासहिं=बोलते हैं। चुहचुही=फुल सुंधनी। पांडुक=फाख्ता। एकै तुही=एक तू ही है। सारौ=मैना, सारिका। सुवा=तोता। रहचह करहीं=चहचहाते हैं। परेवा=कबूतर। करबरहीं=गुटरगू की आवाज करते हैं। गुडुरू=एक पक्षी विशेष। खीहा= खीझता। भिंगराज=भृंगराज। जावत=जितने। महरि=ग्वालिन। कोराहर=कोलाहल। दइअ=ईश्वर। नाउं=नाम।

व्याख्या – सिंहलद्वीप के बागों में नाना प्रकार के पक्षी बसते और तरह-तरह की बोलियां बोलते हैं वहां के वृक्षों की हरी-भरी और फलों से लदी शाखाओं को देखकर वे उल्लास व्यक्त करते हैं। प्रभात होते ही चुहचुही बोलने लगती है। पांडुक पक्षी 'एकै तुही' की ध्वनि निकालता है। मैना और तोता चहचहाते हैं। लोटन कबूतर जमीन पर धूल में लोटते और गुटरगू करते हैं। पपीहा पक्षी पिउ-पिउ की बोली बोलता है। जबकि गुडुरू पक्षी तुही-तुही की ध्वनि करता हुआ खीझता है। कोयल कुहू-कुहू की बोली बोलती है जबकि भृंगराज पक्षी बहुत सी बोलियां बोलता है। महरि (ग्वालिन) चिड़िया दही-दही की आवाज लगाती है और हारिल अपनी हालत का निवेदन करता है। कुहकते हुए मोर बड़े ही मनभावा प्रतीत होते हैं। कौए बोलते हैं तो उनकी आनज में कोलाहल होने लगता है।

कवि कहता है कि मैंने उपर्युक्त जिन पक्षियों का नामोल्लेख किया है वे सब अमराई अर्थात् जहां बहुत से बाग लगे हुए हैं, में बैठे रहते हैं और अपनी-अपनी भाषा में उस ईश्वर के नाम का जाप करते रहते हैं।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. पक्षियों की बोली को सुनकर अपनी-अपनी मनोवृत्ति के अनुसार श्रोता भिन्न-भिन्न अर्थ लगा सकते हैं। चूँकि जायसी का झुकाव आध्यात्मिकता की ओर है, अतः उन्हें पक्षी ईश्वर का नाम-स्मरण करते प्रतीत होते हैं।

2. पक्षियों के वर्णन में नाम-परिणनात्मक शैली का आश्रय लिया गया है।

3. अनुप्रास, पुनरुक्ति प्रकाश और उत्प्रेक्षा अलंकार।

पैग पैग पर कुआं बावरी। साजी बैठक औ पावरी। 1।

औरु कुड बहु ठांवहिं ठाऊं। सब तीरथ और तिन्हके नाऊं। 2।

मढ़ मंडप चहुं पास संवारे। जपा तपा सब आसन मारे। 3।

कोई रिखेस्वर कोई सन्यासी। कोई रामजन कोई मसवासी। 4।

कोइ ब्रह्मचर्ज पंथ लागे। कोइ दिगम्बर आछहिं नांगे। 5।

कोइ सरसुती सिद्ध कोइ जोगी। कोइ निरास पंथ बैठ बियोगी। 6।

कोइ महेसुर जंगम जती। कोइ एक परखै देवी सती। 7।

सेवरा खेवरा बानपरस्ती सिध साधक अवधूत।

आसर मारि बैठ सब जारि आतमा भूत॥2/6॥

शब्दार्थ – पैग पैग=कदम-कदम। बैठक=बैठने का स्थान, बेंचें। पावरी=सीढ़ियाँ। कुंड=तालाब। ठांवहिं ठाऊं=स्थान-स्थान पर। मढ़=मठा। जपा तपा= जपी और तपस्वी। रिखेस्वर=महान ऋषि। मसवासी=एक माह तक व्रत रखने वाला। दिगम्बर=नंगा, जो वस्त्र न पहनते हों, जैन धर्म का एक संप्रदाय। सरसुती=सरस्वती साधु। आछहिं नांगे=नंगा रहता है। निरास=किसी से कुछ आशा न रखने वाले। महेसुर=शिवोपसक। जंगम=एक प्रकार का शैव साधु। जती=शक्ति का उपासक। सेवरा=श्वेताम्बर धारी जैन साधु। खेवरा=जैन-साधु-विशेष। बानपरस्ती=वानप्रस्थ।

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने सिंहलद्वीप में स्थल-स्थल पर बने हुए कुएं-तालाब और तपस्वियों का वर्णन किया है।

नोट

व्याख्या — कदम-कदम पर कुएं और बावडियां बनी हुई हैं। उनमें अर्थात् कुओं के चारों ओर चौकियां और बावडियों में नीचे उतरने के लिए तथा कुओं की जगत पर चढ़ने के लिए सीढ़ियां बनी हुई हैं स्थान-स्थान पर बहुत से कुंड अर्थात् जलाशय बने हुए हैं। वे सब तीर्थ हैं और उनके नाम भी तीर्थों के आधार पर हैं। चारों ओर मठ और मण्डप शोभायमान हैं। वहां जप और तप करने वाले साधु आसन लगाकर बैठे हुए हैं। उनमें से कोई ऋषीश्वर है तो कोई संन्यासी है, कोई राम का भक्त है तो कोई दिशाओं को ही वस्त्र मानकर नंगा रहने वाला दिगम्बरी (जैन) साधु है। कोई सरस्वती-साधक है, तो कोई योगी है कोई वियोगी बनकर संसार की समस्त आशाओं को त्यागकर साधु हो गया है। कोई महेश्वर-पंथ का अनुयायी है तो कोई जंगम शैव है, कोई यती है तो कोई साधना द्वारा शक्ति की पूजा करता है।

श्वेताम्बर जैन साधु, क्षपणक जैन साधु, वानप्रस्थी, सिद्ध, साधक और नाथपंथी साधु (अवधूत) आदि नाना भांति के ईश्वर के उपासक आसन मारकर बैठे हुए हैं और साधना के कष्टों द्वारा अपने शरीर और मन को तपाकर शुद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

साहित्यिक सौन्दर्य — मसवासी साधु डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार—“मथुरा की कंकाली टीले से प्राप्त एक जैन शिलालेख में तपस्विनी विजयश्री जैन श्राविका को एक मास का उपवास करने वाली कहा गया है गरुड पुराण में अध्याय 122 में मासोपवास वृत्त का विधान है इसके अनुसार यह व्रत आश्विन शुक्ल एकादशी से कार्तिक शुक्ल एकादशी तक रखा जाता है। महाभारत में भी मासोपवास करने वाले जोगी का उल्लेख है।

जंगम — यह लिंगायत साधुओं का एक वर्ग है जो विविध घंटियों से युक्त एक लम्बा-सा चोलना पहनते हैं और उन घंटियों को बजाते चलते हैं यह शिव के उपासक होते हैं।

निरास वियोगी — इसका संकेत उन सूफी संतो की ओर भी हो सकता है जो ईश्वर के वियोग में साधनालीन रहते हैं, और गोस्वामी तुलसीदास द्वारा निर्दिष्ट ऐसे साधुओं के विषय में भी हो सकता है, जिनके लिए उन्होंने कहा है— “नारि मुई गृह संपति नासी, मूंड मुंडाय भये संन्यासी।”

मानसरोदक देखिअ काहा। भरा समुंद अस अति अवगाहा। 1।

पानि मोति अस निरमर तासू। अंब्रित बानि कपूर सुबासू। 2।

लंक दीप कै सिला अनाई। बांधा सरवर घाट बनाई। 3।

खंड खंड सीढ़ी भई गरेरी। उतरहिं चढ़हिं लोग चहुं फेरी। 4।

फूला कंवल रहा होइ राता। सहस सहस पंखुरिन्ह कर छाता। 5।

उलथहिं सीप मोति उतिराहीं। चुगाहिं हंस और केलि कराहीं। 6।

कनक पंखि पैरहिं अति लोने। जानहु चित्र संवारे सोने। 7।

ऊपर पाल चहुं दिसि अंब्रित फर सब रूख।

देखि रूप सरवर कर गइ पिआस औ भूख॥२/७॥

शब्दार्थ—मानसरोदक=मानसर नामक तालाब। अस=ऐसा। अवगाहा=गंभीर, अथाह। पानि=जल। निरमर=निर्मल। तासू=उसका। अंब्रित=अमृत। बानि=जैसा। सुबासू=सुगंधित। अनाई=अंगाई। गरेरी=घुमावदार। छाता=छत्ता। राता=लाल। उलथहिं=उलटते। उतिराहीं=तैरते। केलि=क्रीड़ा। लोने=सुन्दर। पाल=किनारा।

संदर्भ — सिंहलद्वीप के मानसर यश मानसरोदक नामक तालाब का वर्णन।

व्याख्या — मानसरोवर का तो देखना ही क्या? वह तो इतना विस्तृत और गहरा है मानों समुद्र भरा हुआ हो। उसका जल मोती की भांति स्वच्छ है। मिठास की दृष्टि से उसका जल अमृत-तुल्य है जबकि उसमें कपूर की जैसी सुगन्धि आती रहती है। इसके सरोवर के घाटों में निर्माण के लिए लंकादीप से शिलाएं मंगाई गई हैं। उनके खंड-खंड में घुमावदार सीढ़ियां बनी हुई हैं जिन पर लोग चारों ओर उतरते-चढ़ते रहते हैं। अर्थात् घुमावदार सीढ़ियां होने के कारण जब लोग उतरते-चढ़ते हैं तो चारों ओर को फिरते जाते हैं। मानसरोवर में लाल रंग के सहस्रदल कमल खिले हुए हैं। सीपियों के उलट जाने से तालाब में मोती तैरने लगते हैं, जिन्हें चुगते हुए हंस नाना प्रकार की क्रीड़ाएं करते हैं। सुनहरे पंखों वाले अत्यधिक सुन्दर अन्य पक्षी भी तालाब में तैरते रहते हैं। उन्हें देखकर ऐसा लगता है मानों वे सोने के द्वारा संभालकर बनाए गए हैं।

नोट

तालाब के ऊपर चारों ओर ऊंचे किनारे बने हुए हैं और उन पर अमृत-तुल्य मीठे फलों से युक्त वृक्ष लगे हुए हैं। तालाब की सुन्दरता देखकर देखने वालों की भूख और प्यास मिट जाती है।

साहित्यिक सौन्दर्य – उपमा और उत्प्रेक्षा।

पानि भरइ आवहिं परिहारीं। रूप सुरूप पदुमिनी नारीं। 1।

पदुम गंध तेन्ह अंग बसाहीं। भंवर लागि तेन्ह संग फिराहीं। 2।

लंक सिंधिनी सारंग नैनी। हंसगामिनी कोकिल बैनी। 3।

आंवहि झुंड सो पांतिहि पांती। गवन सोहाइ सी भांतिहि भांती। 4।

केस मेघावरि सिर ता पाई। चमकहिं दसन बीजू की नाई। 5।

कनक कलस मुख नंद दिपाहीं। रहस कोड सो आवहिं जाहीं। 6।

जासौं वै हेरहिं चख नारा। बांक नैन जनु हनहिं कटारी। 7।

मानहु मैन मुरति सब अछरीं बरन अनूप।

जेन्हिकी ये पनिहारी सो रानी केहि रूप॥2/8॥

शब्दार्थ – सुरूप=सुन्दरता में। पदुम=पद्म। तेन्ह=उनके। लंक=कमर। सारंग=हिरणी। पांतिहि पांती=पंक्तियों में। गवन=जाना। मेघावरि=काली घटा। सिर ता पाई=सिर से लेकर पैरों तक। दसन=दांत। बीजू=बिजली। नाई=तरह। मुरति=मूर्ति। दिपाहीं=चमकना। रहस=आनन्द। कीड=क्रीड़ा। चख=आंखें। जनु=मानों। मैन=कामदेव। अछरीं=अप्सरा।

संदर्भ – सिंहलद्वीप की पनहारियों का वर्णन।

व्याख्या – जायसी वर्णन करते हैं कि मानसरोदक पर जो पनहारियाँ जल भरने के हेतु आती हैं, सुन्दरता और आकृति की दृष्टि से पद्मिनी जाति की स्त्रियाँ हैं। उनके शरीरांगों में कमल जैसी सुगन्धि बसी हुई है अतः गंध-लोभी भ्रमर उनके साथ-साथ उड़ते-फिरते हैं उनकी कटि सिंहनी जैसी क्षीण है जबकि उनके नेत्र मृगियों जैसे हैं। उनकी गति हंसों की गति के तुल्य है जबकि उनकी आवाज कोकिला जैसी मधुर है ये पनहारिया झुंडों में पंक्ति बनाकर आती हैं और उनका जल भर कर जाना भी अत्यधिक शोभायमान प्रतीत होता है। उनके मेघ घटाओं के समान केश सिर से लेकर पैरों तक विकीर्ण रहते हैं और उनके दांत बिजली के समान चमकीले होते हैं। उनके मुख चन्द्रमा के समान शोभायमान हैं जबकि उनके शरीरों पर स्वर्ण-कलश सुशोभित हैं वे आनन्दपूर्वक क्रीड़ाएँ करती हुई आती-जाती हैं। वे नारियाँ जिसकी ओर अपने नेत्रों से देखती हैं उसे मानों अपने तिरछे नैनों की कटारी से मार डालती हैं—उनके कटाक्षों से उसका हृदय बिंध जाता है।

वे सब पनहारियाँ कामदेव की मूर्तियाँ प्रतीत होती हैं और उनका रूप-रंग अप्सराओं के तुल्य है। जिस रानी की ऐसी पनहारियाँ हों, न जाने वे रानियाँ स्वयं कितनी सुन्दर होंगी।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. भंवर लागि तेन्ह संग फिराहीं में भ्रम अलंकार।

2. मानहु मैने.... अनूप में उत्प्रेक्षा अलंकार।

3. चमकहीं दसन बीजू की नाई में उपमा अलंकार।

4. लंक सिंहनी सारंग नैनी में रूपक अलंकार।

टिप्पणी – पद्मिनी जाति की नारियों के शरीरांगों से कमल-गंध आने की कवि रूढ़ि है। स्त्रियों के चार-भेदों पद्मिनी, चित्रणी, शंखिणी और हस्तिनी में से पद्मिनी जाति की नारियाँ सर्वोत्तम स्वीकार की जाती हैं।

ताल तलावरि बरनि न जाहीं। सूझइ वार पार तेन्ह नाहीं। 1।

फूले कुमुद केत उजिआरे। जानहुं उए गगन मंह तारे। 2।

उतरहिं मेघ चढहिं लै पानी। चमकहिं मंछ बीजू की बानी। 3।

पैरहिं पंखि सो संगहि संग। सेत पीत राते बहु रंगा। 4।

चकई चकवा केलि कराहीं। निसि बिछुरहिं और दिनहिं मिलाहीं। 5।

नोट

कुरलहिं सारस भरे हुलासा। जिअन हमार मुअहिं एक पासा। 6।

केंवा सोन ढेर बग लेदी। रहे अपूरि मीन जल भेदी। 7।

नग अमोल तेन्ह तालन्ह दिनहिं बरहिं जनु दीप।

जो मरजिआ होइ तहं सो पावइ वह सीपा॥ 2/9॥

शब्दार्थ—तलावरि=तलैया। कुमुद=कमल। केत=श्वेत कमल। उए= निकले। बीजु=बिजली। मंछ=मछली। बानी=तरह। राते=लाल। केलि=क्रीड़ा। मुअहिं=मरेंगे। केंवा=जल-पक्षी विशेष। सोन=कलहंस। ढेक=एक तरह का बगुला। बग=बगुला। लेदी=छोटी जल मुर्गाबी। अपूरि=भरे रखना। मरजिआ=गोताखोर।

संदर्भ — सिंहलद्वीप के ताल-तलैयाँ का वर्णन।

व्याख्या— सिंहलद्वीप में इतनी अधिक संख्या में ताल-तलैयाँ हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। उनकी संख्या का वार-वार (सीमा, ओर-छोर) नहीं समझ पड़ता। उनमें कुमुद और श्वेत कमल खिले हुए शोभायमान हो रहे हैं। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो आकाश में (तालाब का नीला जल) तारे निकले हुए हैं। उन तालाबों में बादल उतरते हैं और जल भरकर ऊपर उड़ जाते हैं। तालों के जल में उछलती मछलियाँ बिजली की भाँति चमकती रहती हैं उनमें श्वेत, पीले और लाल रंग के बहुत से पक्षी साथ-साथ तैरते रहते हैं। उनमें चकवा और चकवी क्रीड़ाएं करते रहते हैं, जो रात्रि को बिछुड़कर दिवस में पुनः मिल जाते हैं। समस्त पक्षियों के जोड़े उल्लास मग्न होकर बोलते हैं और यह कहते प्रतीत होते हैं कि हमारा जीवन ही उत्तम है क्योंकि हम प्रेमी-प्रेमिका साथ-साथ जीते-मरते हैं जल के अन्य भी अनेक प्रकार के जीव जैसे—केवा, सोन, ढेक, बग और लेदी आदि तथा जल का रहस्य जानने वाली मछलियों से सिंहलद्वीप के ताल-तलैयाँ भरपूर हैं।

इन तालाबों में अपार बहुमूल्य नग हैं, जो उनके जल में दिन के दीपक की भाँति चमकते रहते हैं— उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो दीपक जल रहे हैं। हाँ वे गोताखोर उन सीपों को प्राप्त कर सकते हैं जिनमें रत्न होते हैं, जो अपने प्राणों को हथेली पर रखकर तालाबों के जल में गोता लगाते हैं।

साहित्यिक सौन्दर्य — 1. जानहुँ उए गगन महं तारे में अनुप्रास अलंकार

2. 'उतरहिं मेघ चढहिं लै पानी' में मानवीकरण अलंकार

3. 'चमकहिं मंछ बीजु की बानी' में उपमा अलंकार

4. 'नग अमोल जनु दीप' में उत्प्रेक्षा अलंकार

अन्तिम पंक्तियों में कवि का व्यंग्यार्थ यह है कि वह ही साधक जो प्रेम-मार्ग की साधना में अपने प्राणों की चिन्ता नहीं करता, ईश्वर के प्रेम-रूपी मोतियों को प्राप्त करने में सफल हो सकता है।



क्या आप जानते हैं जायसी की योग-साधना सूफी मत से प्रभावित है जबकि कबीर नाथ-सिद्ध परंपरा के कवि माने जाते हैं।

पुनि जो लाग बहु अंब्रित वारी। फरीं अनूप होइ रखवारी। 1।

नवरंग नीबू सुरंग जंभीरा। औ बादाम बद अंजीरा। 2।

गलगल तुरंज सदाफर फरे। नारंग अति राते रस भरे। 3।

किसमिस सेब फरे नौ पाता। दारिवं दाख देखि मन राता। 4।

लागि सोहाई हरपारेउरी। ओनइ रही केरन्ह की घउरी। 5।

फरे तूत कमरख औ निउंजी। राय करौंदा बैरि चिरउंजी। 6।

संखदराउ छोहारा डीठे। औरु खजहजा खाटे मीठे। 7।

पानी देहिं खंडवानी कुअंहि खांड बहु मेलि।

लागीं घरी रहट की सींचहिं अंब्रित बेलि॥ 2/10॥

नोट

शब्दार्थ – अंब्रित वारी=अमृत तुल्य मीठे फलों का बाग। फरीं=फलयुक्त। जंभीरा=नींबू की जाति का खट्टा-मिठा फल। बद=बेदाना। गलगल=एक प्रकार का रसीला नींबू। तुरंज=चकोतरा। सदाफर=शरीफा। नारंग=नारंगी। राते=लाल। दारिवं=अनार। नौ=नए। राता=लाल। दाख=अंगूर। हरपारेउरी=कमरख की जाति का फल जो खट्टा होता है। ओनइ=झुक रही है। केरन्ह=केला। तूत=शहतूत। निउंजी=लीची। राय करौंदा= बड़ी जाति का करौंदा। संखदराउ=एक खट्टा फल। खजहजा=मेवे। खंडवानी=शर्बत। घउरी=गुच्छ। घरी=घड़ियां।

संदर्भ – सिंहलद्वीप के बागों में लगे नाना प्रकार के फलों के वृक्षों का वर्णन है।

व्याख्या – सिंहलद्वीप के ताल-तलैयाँ के चारों ओर आस-पास अमृत-तुल्य मीठे फलों की वाटिकाएं सुशोभित हो रही हैं। वे पूर्ण रूप से फलों से लदी हुई हैं और उनकी रखवाली की जा रही है। इन बागों में नारंगी, नींबू, सुन्दर जंभीर, बादाम बेदाना, अंजीर, गलगल, चकोतरा और शरीफा आदि फल लगे हुए हैं। इनके साथ ही गहरे लाल रंग की रसभरी नारंगियां लगी दिखाई दे रही हैं किशमिश और सेब नये पत्तों के साथ फले हुए हैं। अनार और दाखों को देखकर मन प्रसन्न हो उठता है। इन वाटिकाओं में हरपारेउरी शोभायमान हो रही है और केले के फलों की गाहरे झुकी हुई है। शहतूत, कमरख, लीची, रायकरौंदा, सन्तरा, छुहारा और खजहजा शोभायमान हो रहे हैं।

इन वृक्षों के फलों को सरस बनाने के उद्देश्य से कुंओं के जल में बहुत-सी खांड घोलकर, उस मीठे पानी से वृक्षों की सिंचाई की जाती है। वहां रहटें लगी हुई हैं जिनकी घड़ियों (बाल्टियां, हो सकता है पहले रहटों में मिट्टी के धड़े ही लगाए जाते थे) से अमृतमयी लताओं अथवा अमृततुल्य मीठे फलों वाली लताओं की सिंचाई की जाती है।

साहित्यिक सौन्दर्य – कवि का रुझान वृक्षों के नाम परिगणित कराने की ओर रहा है।

पुनि फुलवारी लागि चहु पासा। बिरिख बेधि चंदन भै बासा। 1।

बहुत फूल फूली घन बेली। केवरा चंपा कुंद चंबेली। 2।

सुरंग गुलाल कदम और कूजा। सुगंध बकौरी गंधप पूजा। 3।

नागेसरि सदबरग नेवारी। औ सिंगारहार फुलवारी। 4।

सोन जरद फूली सेवरी। रूप मंजरी औ मालती। 5।

जाही जूही बकचुन लावा। पुहुप सुदरसन लाग सोहावा। 6।

बोलसिरी बेइलि औ करना। सबहि फूल फूले बहु बरना। 7।

तेन्ह सिर फूल चढ़हि वै जेन्ह माथें मनि भागु।

आछहिं सदा सुगंध भे जनु बंसत और फाग ॥2/11॥

शब्दार्थ – चहुं पासा=चारों ओर। घन बेली=सघन लताएं। केवरा=केतकी की जाति का सुगन्धित पुष्प जिसके अर्क को पानी आदि में डाला जाता है। कूजा=एक प्रकार का ग्रीष्म ऋतु में फूलने वाला गुलाब। गंधप=गन्धर्वसेन। बकौरी=गुलबकावली। नागेसरि=नागकेशरि। सदबरग=गेंदा या गेंदा से मिलता-जुलता पुष्प। नेवारी=नव मल्लिका। सोन-जरद=सोन जुही, एक प्रकार का पीला फूल। सेवती=एक प्रकार का गुलाब। जूही=एक प्रकार की चमेली। रूप मंजरी= लाल रंग की चमेली जैसा फूल जो सदाबहार रहता है। बेइलि=बेला। सुदरसन=एक बड़े आकार का श्वेत पुष्प।

संदर्भ – सिंहलद्वीप की वाटिकाओं का वर्णन।

व्याख्या – फिर वहां चारों ओर जो फुलवारियां लगी हुई हैं। वृक्षों में प्रविष्ट करके चंदन की सुगन्ध व्याप्त हो गई है। घनवेली, केवड़ा, चम्पा, कुन्द, चमेली बहुत से फूलों से फूली हुई है। लाल गुलाब, कदम्ब, कुब्जक और सुगन्धित गुलबकावली से राजा गन्धर्वसेन पूजा करते हैं। नागकेशर, गेंदा, नेवारी, हारसिंगार, सोन सेवती, रूपमंजरी, मालती, जाही, जूही आदि के फूलों के समूह लगे हैं। सुदर्शन का पुष्प सुशोभित हो रहा है। मौलश्री, बेला और करना आदि सभी फूल नाना रंगों के फूले हुए हैं।

ये पुष्प उन्हीं के शीश पर चढ़ा करते हैं जिनके मस्तक से सौभाग्य की मणि होती है अर्थात् जो अत्यधिक सौभाग्यवान होते हैं। ये सदैव सुगन्धि विकीर्ण करते रहते हैं, जिससे वहां सदैव वसंत ऋतु और फाग जैसी स्थिति रहती है।

नोट

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. सुरंग गुलाल– गंधर्व पूजा, इस पंक्ति का संबंध डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने नरेश गंधर्वसेन की पूजा के पुष्पों से जोड़ा है, जबकि इसका यह अर्थ अधिक उचित रहेगा कि गंधर्व-पूजा की सामग्री है।

2. आछहिं.... और फागु में उत्प्रेक्षा अलंकार।

सिंघल नगर देखु पुनि बसा। धनि राज असि जाकरि दसा। 1।

ऊंची पंवरी ऊंच अवासा। जनु कबिलास इन्द्र कर बासा। 2।

राऊ रांक सब घर घर सुखी। जो देखिअ सो हंसता मुखी। 3।

रचि रचि राखे चदन चौरा। पोते अगर मेद औ केवरा। 4।

सब चौपारिन्ह चदन खंभा। ओठधि सभापति बैठे सभा। 5।

जनहु सभा देवतन्ह कै जुरी। परी द्विस्टि इन्द्रासन पुरी। 6।

सबै गुनी पंडित और ग्याता। संसकिरत सबके मुख बाता। 7।

औहिक पंथ सवारहिं जस सिवलोग अनूप।

घर घर नारि पदुमिनी मोहहिं दरसन रूप॥2/12॥

शब्दार्थ – जाकरि=जिसकी। पंवरी=सीढ़ी। अवास=आवास, महल। राऊ=राजा। रांक=निर्धन। हंसता मुखी=प्रसन्न चित्त। चौरा=चबूतरे। पोते=पुताई की है। अगर=अगरु। मेद=एक सुगन्धित द्रव्य जो कस्तूरी की भांति किसी पशु की नाभि से निकलता था। ओठधि=पीठ टिकाकर। चौपारिन्ह=चौपाल।

संदर्भ – सिंहलद्वीप के ऊंचे महलों और चौपालों आदि का वर्णन।

व्याख्या – तदनन्तर भली प्रकार बसा हुआ सिंहलनगर दिखाई पड़ता है। यह नगर इतना सुन्दर है कि जिस राजा की ऐसी स्थिति है वह धन्य है। यहां ऊंची-ऊंची पौड़िया और द्वार हैं तथा ऊंचे भवन हैं। उन्हें देखकर ऐसा लगता है मानो यह इन्द्र का निवास स्थान कैलास (इन्द्रपुरी) है। यहां के राजा और रंक सभी सुखी हैं जिसे भी देखिए वहीं प्रसन्न चित्त दिखाई देता है। यहां के भवनों के बाहर चंदन के चबूतरे बने हुए हैं जो अगर, मेद और गोरोचन से सिंचित (सुवासित) रहते हैं। समस्त चौपालों में चंदन के स्तंभ लगे हुए हैं और उनमें आयोजित होने वाली सभाओं में उन स्तम्भों से पीठ टिकाकर सभापति बैठते हैं। यहां के निवासियों की सभा देखने में देव तुल्य प्रतीत होती है और नगर इन्द्र की पुरी जैसा दिखलाई देता है। यहां के निवासी बड़े ही गुणवान विद्वान और ज्ञानी हैं और सभी के मुख से संस्कृत में बातें निकलती हैं। यहां के निवासी अपने इहलोक या सांसारिक मार्ग को संवारे रहते हैं। अथवा यहां के भवन इस प्रकार सजे हुए हैं, मानो शिवलोक के भवन हों। यहां घर-घर में पद्मिनी जाति की स्त्रियाँ हैं जिनकी सुन्दरता मन को मोहित कर लेती है।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. ‘औहिक पंथ सवारहिं’ के स्थान पर शुक्ल जी ने ‘अस कै मंदिर संवारे’ पाठ ग्रहण किया है। इस पंक्ति का डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने यह अर्थ किया है। “वहां मार्ग इस प्रकार संवारे गए हैं, जैसे शिवलोक में सुन्दर होते हैं,” जबकि शुक्ल द्वारा गृहीत पाठ का अनर्थ होगा—

2. “सिंहल नगर के भवन (मन्दिर) इस प्रकार सजे हुए हैं, मानो अनुपम कविलोक हो।

3. ‘ऊंची पौरी..... बासा’ तथा सब ‘चौपारहिं पुरी’ में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

4. ‘घर घर’, ‘रचि..... रचि’ में पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार।

5. ‘तस कै.... अनूप’ में उत्प्रेक्षा अलंकार।

पुनि देखिअ सिंघल की हाटा। नवी निद्धि लछिमी सब बाटा। 1।

कनक हाट सब कुंहकुंह लीपी। बैठ महाजन सिंघल दीपी। 2।

रचे हंथोड़ा रूपई दारी। चित्र कटाउ अनेग संवारी। 3।

रतन पदारथ मानिक मोती। हीर पंवार सो अनबन जोती। 4।

सोन रूप सब भएउ पसारा। धवलसिरी पोतहिं घर बारा। 5।

औ कपूर बेना कस्तूरी। चंदन अगर रहा भरिपूरी। 6।

जेई न हाट एहि लीन्ह बेसाहा । ताकहं आन हाट कित लाहा । 7 ।

कोई करै बेसाहना काहू केर बिकाइ ।

कोई चला लाभ सौं कोई मूर गवाइं॥ 2/13 ॥

शब्दार्थ — हाटा=बाजार । बाटा=रास्ते । कनक हाट=शर्राफा । कुहंकुहं=कुंकुम । सिंघल दीपी=सिंहलद्वीप के । हंथोड़ा=कड़े । रुपंड=चांदी को । अनेग=उनके । सोन रूप= सोना चांदी । पवार=पन्ना । अनबन=अद्वितीय । पसारा=फैला हुआ । धवलसिरी=श्वेत रोली । बेना=खश, उशीर । बेसाहा= सौदा खरीदना । आन=दूसरा । लाहा=लाभ । आन=दूसरी । बिकाइ=विक्री । मूर=मूलधन, पूंजी ।

संदर्भ — सिंहलद्वीप के बाजारों का वर्णन ।

व्याख्या — तदनन्तर सिंहल नगर के बाजार देखने योग्य हैं । इन बाजारों के भागों में अर्थात् मार्ग के दोनों ओर नव निधियाँ और लक्ष्मी (वैभव, धन) दिखाई पड़ती है । यहां के नकक-हाट की अर्थात् सोने-चाँदी के बाजार या शर्राफे की दुकानें कुंकुम से लिपी रहती हैं । जिनपर सिंहलद्वीप के महाजन बैठते हैं । वे चांदी को ढालकर हाथों के कड़े बनाते हैं और उनके अनेक प्रकार के चित्रों और कटाइयों से सुसज्जित करते हैं । सोने और चांदी का यहां व्यापक प्रसार रहता है और समस्त घरद्वार श्वेत-रोली से पुते रहते हैं । यहां, रत्न, पदार्थ, मणिक, मोती, हीरे और पन्ने तरह-तरह की ज्योति विकीर्ण करते हुए रखे रहते हैं । यहां सर्वत्र कपूर, खस, कस्तूरी, चंदन और अगर आदि की सुगंधि प्रसारित रहती है । जिसने इस बाजार में व्यवसाय अर्थात् लेन-देन या खरीद-फरोख्त न की उसे अन्य किसी बाजार में कहां लाभ हो सकता है ?

इस बाजार में कोई क्रय करता है और कोई अपनी वस्तुओं को विक्रय करता है । इस क्रय-विक्रय में कोई तो लाभार्जन कर लेता है जबकि कोई अपनी पूंजी या मूलधन से भी हाथ धो बैठता है ।

साहित्यिक सौन्दर्य — इन पंक्तियों में समासोक्ति अलंकार के माध्यम से जायसी ने इस व्यंग्यार्थ की व्यंजना कराई कि इस दुनियां रूपी बाजार में आकर कुछ प्राणी तो पुण्य-कृत्यों रूपी लाभार्जन करते हैं जबकि दूसरे अपने कुकर्मी के माध्यम से पापी बनकर अपनी पिछली स्थिति को भी बिगाड़ लेते हैं ।

2. समासोक्ति, अनन्योपमा अलंकार ।

पुनि सिंगार हाट धनि देसा । कइ सिंगार तहं बैठी बेसा । 1 ।

मुख तंबोर तन चीर कुसुंभी । कानन्ह कनक जराऊ खुंभी । 2 ।

हाथ बीन सुनि मिरिग भुलाहीं । नर मोहहिं सुनि पैगु न जाहीं । 3 ।

भौंह धनुक तहं नैन अहेरी । मारहिं बान सान सौ फेरी । 4 ।

अलक कपोल डोल हंसि देहीं । लाइ कटाख मारि जिउ लेहीं । 5 ।

कुच कंचुक जानहुं जुग सारी । अचल देहिं सुभावहिं । ढारी । 6 ।

केत खेलार हारि तेन्ह पासा । हाथ झारि होई चलहिं निरासा । 7 ।

चेटक लाइ हरहिं मन जौ लहि गथ है फेंटा ।

सांठि नाठि उठि भए बटाऊ ना पहिचान न भेंट ॥ 2/14 ॥

शब्दार्थ — सिंगार हाट= वेश्याओं का बाजार । धनि=धन्य है; धनवान । कइ=करके । बेसा=वेश्या । तंबोर=पान । कुसुंभी=रंगाचीर=साड़ी । कानन्ह=कानों में । खुंभी=कान का आभूषण विशेष । बीन=बीणा । पैगु न जाहीं=एक कदम भी आगे नहीं जाते । धनुक=धनुष । अहेरी=बहेलिए, शिकारी । सान सौं फेरी=शान पर तीव्र करके । अलक=धुंधराले बाल । कटाख=कटाक्ष । जुग=दो । सारी=गोटा । ढारी=ढलका । केत=कितने ही । तेन्ह=उनके । चेटक=जादू-टोना । गथ=पूंजी । फेंटा=कमर में । सांठि नाठि=सम्पत्ति नष्ट होने पर, धन न रहने पर । बटाऊ=मार्ग का यात्री ।

संदर्भ — सिंहल नगर के वेश्या-बाजार का वर्णन ।

व्याख्या — तदनन्तर मैं वहां के वेश्या-बाजार का वर्णन करता हूं जो धन्य है (शुक्ल जी ने 'धनि के स्थान पर 'भल' पाठ ग्रहण किया है जो अधिक उचित प्रतीत होता है ।) जहां वेश्याएं शृंगार करके बैठी रहती हैं । उनके मुख

नोट

में तम्बाकू सुशोभित रहते हैं। जबकि वे शरीर पर कुसुम्भी रंग के वस्त्र धारण करती है। उनके कानों में रत्न-जड़ित खुंशी शोभायमान रहती है। उनके हाथों में वीणाएं रहती हैं जिन पर वे इतनी मधुर राग-रागनियां गाती हैं कि मृग तक मोहित हो जाते हैं— अपनी सुधि-बुधि भूल जाते हैं। मनुष्य तो उन्हें सुनकर ऐसे मोहित हो जाते हैं कि एक कदम तक आगे नहीं बढ़ पाते। उनके नेत्र अहेरियों जैसे हैं जबकि भृकुटियां धनुष-वत् कुटिल हैं। भौंहों रूपी धनुष पर चढ़ाकर उनके नेत्र-रूपी शिकारी शान पर चढ़ाए हुए तीव्र दृष्टि-रूपी बाणों का प्रहार करते हैं। उनके कपोलों पर घुंघराले केश मंडराते रहते हैं। उधर से गुजरने वालों की ओर वे विहंस कर देखती हैं और कटाक्षों के प्रहार से उनकी जान ले लेती हैं—गंतुक उन पर जी-जान से फिदा हो जाते हैं। उनके कंचुकी में कसे हुए उरोज मानो दो गोटे होती हैं जिनपर से वे सुन्दर ढंग से अपना आँचल खिसका देती हैं। कितने ही खिलाड़ी इन पासों से खेलकर हार चुके हैं और अपनी पूंजी को गंवाकर लौट जाते हैं।

इन वेश्याओं का स्वभाव यह है कि जब किसी की गांठ में सम्पत्ति होती है तब वे जादू-टोना करके उसके मन को हर लेती हैं, जबकि गांठ की पूंजी नष्ट होने पर उस व्यक्ति के प्रति उनका व्यवहार उस राहगीर की भांति होता है जिससे जान-पहचान नहीं होती—अथवा यदि होती भी है तो क्षण भर की होती है।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. ‘धनि’ के स्थान पर ‘भल’ पाठान्तर इस दृष्टि में उपयुक्त प्रतीत होता है कि जायसी जैसे संत द्वारा वेश्या-हाट को धन्य कहकर प्रशंसा करना अनुचित प्रतीत होता है।

2. केत खिलार— ‘निरासा’ के माध्यम से कवि का अभिव्यंग्य यह है कि बहुत से मूर्ख मनुष्य सांसारिक प्रलोभनों में फँसकर अपने पुण्यों को गंवा बैठने के कारण अंततः इस संसार से निराश होकर कूच करते हैं।

3. ‘भौहं मनुष्य.... केरी’ में सांगरूपक अलंकार।

4. ‘कुचं कंचुक.... सारी’ में उत्प्रेक्षा अलंकार।

5. ‘केत खिलारी..... निरासा’ में समासोक्ति अलंकार।

लै लै बैठ फूल फुलहारी। पान अपूरब धरे संवारी। 1।

सोंधा सबै बैठु लै गांधी। बहुल कपूर खिरौरी बांधी। 2।

कतहू पंडित पढ़हि पुरानू। धरम पंथ कर कहिं बखानू। 3।

कतहू कथा कहै कछु कोई। कतहू नाच कोड भलि होइ। 4।

कतहू छरहटा पेखन लावा। कतहू पाखंड काठ नचावा। 5।

कतहू नाद सबद होइ भला। कतहू नाटक चेटक कला। 6।

कतहुं काहु ठग बिद्या लाई। कतहुं लेहिं मानुस बौराई। 7।

चरपट चोर धूत गंठिछोरा मिले रहहिं तेहि नांच।

जो तेहि नाचं सजग भा अगुमन गथ ताकर पै बांच। 12/15।।

शब्दार्थ— फुलहारी=मालिन। सोंधा=एक प्रकार की गंध। खिरौरी=टिकिया। छरहटा=बहेलिया। गांधी=इत्र बेचने वाले गांधी। पाखंड=आडम्बर करने वाले। काठ=कठपुतली वाला। चेटक कला= जादू की कलाएं। बौराई=पागल कर देना। गंठिछोरा=गांठ खोल लेने वाला, गिरहकट। ओहि=उस। चरपट=चालाक। अगुमन=पहले से। बांच=बच पाती है। पथ=पूंजी।

संदर्भ— सिंहल नगर के बाजारों में कवि ने मालिन, गंधी, नट-बाजीगर, गिरहकट आदि का वर्णन किया है।

व्याख्या— सिंहल नगर के बाजारों में मालिन फूल ले-लेकर बैठी रहती हैं और अनोखे पान सजाकर रखती हैं। इत्र बेचने वाले या गंधी नाना प्रकार की सुगन्धियां लेकर बैठते हैं और कपूर से भली प्रकार सुगन्धित करके कत्थे की सुगन्धित टिकियां रखे हुए हैं। कहीं पर पंडित पुराणों आदि धार्मिक ग्रंथों का पाठ कर रहे हैं तो कहीं अन्य धर्मों के आचार्य अपने धर्म का वर्णन कर रहे हैं। कहीं पर कोई कुछ कथा कह रहा है, तो कहीं पर उत्तम नाच-कूद हो रहा है। कहीं पर बहेलिया पक्षी पकड़कर ला रहा है, तो कहीं पर नाटक और जादू के खेल हो रहे हैं। कहीं पर किसी ने ठगी-विद्या लगा रखी है— अर्थात् वह लोगों को ठग रहा है तो कहीं पर कोई किसी मनुष्य को बावला बनाकर लूट रहा है।

नोट

इस नाच-नाटक आदि में चालाक, चोर, धूर्त और गिरहकट मिले रहते हैं जो दर्शकों की पूंजी हर लेते हैं। वहां उन्हीं की पूंजी सुरक्षित रह पाती है जो पहले से ही सावधान रहते हैं।

साहित्यिक सौन्दर्य— 1. ‘कतहुं चिरहंटा पंखी लावा’ शुक्ल जी ने यह पाठ ग्रहण किया है जिसका अर्थ ऊपर दिया हुआ है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल और डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने इसका पाठान्तर यह दिया है—

“कतहुं छरहटा पेखन लावा।”

जिसका अर्थ है कहीं ऐन्द्रजालिक (छरहटा) अपना खेल या तमाशा दिखा रहे हैं।

2. इन पंक्तियों में समासोक्ति अलंकार है जिसके माध्यम से कवि ने इस ओर इंगित किया है कि जो लोग इस जगत में पहले से ही सचेत रहते हैं, माया रूपी वंचकों द्वारा उनकी पुण्य-रूपी पूंजी ठगी जाने से बच जाती है।

पुनि आइअ सिंघल गढ़ पासा। का बरनों जस लाग अकासा। 1।

तरहिं कुरुंम बासुकि कै पीठी। ऊपर इन्द्रलोक पर डीठी। 2।

परा खोह चहुंदिसि तस बांका। कापै जाधि जाइ नहिं झांका। 3।

अगम असूझ देखि डर खाई। परै सो सप्त पतारन्ह जाई। 4।

नव पंवरी बांकी नव खंडा। नवहुं जो चढ़ै जाइ ब्रह्मंडा। 5।

कंचन कोट जरे कौसीसा। नखतन्ह भरा बीजू अस दीसा। 6।

लंका चाहि ऊंच गढ़ ताका। निरखि न जाइ दिस्टि मन थाका। 7।

हिअ न समाइ दिस्टि नहिं पहुँचै जानहु ठाढ़ सुमेरु।

कहं लागि कहौं उंचाई ताकरि कहं लागि बरनों फेरु॥ 2/16॥

शब्दार्थ— जस=जैसे। तरहिं=ताल में, नीचे। कुरुंम=कच्छप, कछवा। डीठी=दृष्टि। खोह=खाई। परै=भरी जाए। सप्त पतारन्ह=सातवें पाताल। पंवरी=पौड़िया, पोल। नखतन्ह=तारे। बीजू=बिजली। दीसा=दिखाई देता है। दिस्टि=दृष्टि। ताकरि=उसकी। फेरु=घेरा। कोट=गढ़।

संदर्भ — प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने सिंहलद्वीप स्थित सिंहल नगर में बने सिंहलगढ़(दुर्ग) का वर्णन किया है।

व्याख्या — अब मैं सिंहलगढ़ का वर्णन करता हूँ अथवा अब हम सिंहलगढ़ के समीप आते हैं। (कवि ने यह वर्णन ऐसे किया है जैसे कोई गाइड दर्शकों को नाना वस्तुओं के विषय में बताया करता है)। आकाश को स्पर्श करने वाले इस दुर्ग का मैं क्या वर्णन करूँ। इस दुर्ग की नींव तो नीचे की ओर वासुकी नाग और कच्छप की पीठ पर स्थित है, जबकि ऊपर की ओर यह इन्द्रलोक से लगा दृष्टिगत होता है। इसके चारों ओर बड़ी बांकी खाई खुदी हुई हैं वह इतनी नीची है कि नीचे की ओर देखते हुए यह भय लगता है कि यदि इसमें गिरे तो गिरकर सातवें पाताल में जा पहुँचेंगे। नौ पौड़िया दुर्ग में (द्वार) और नौ ही मंजिलें हैं जो इन नौ खंडों पर चढ़ने में सफल हो जाता है वह ब्रह्माण्ड में पहुँच जाता है। यह दुर्ग स्वर्ण-निर्मित है और उसमें नग और शीशे जड़े हुए हैं। यह ऐसा जाज्वल्यमान प्रतीत होता है मानो नक्षत्रों से परिपूर्ण बिजली हो। यह किला लंका की अपेक्षा ऊंचा है। इसकी ऊंचाई देखी नहीं जाती। इसकी ओर देखने पर दृष्टि और मन थक जाते हैं।

यह दुर्ग इतना अधिक ऊंचा है कि इसकी उच्चता हृदय में नहीं समाती और न वहां तक दृष्टि ही पहुँच पाती है यह ऐसा लगता है मानो विशालकाय सुमेरु पर्वत हो। इसकी ऊंचाई और घेरे का मैं कहां तक वर्णन करूँ— अर्थात् वह वर्णनातीत है।

साहित्यिक सौन्दर्य — 1. जायसी के इस वर्णन में हठयोग की साधना की स्पष्ट छाप है। “नव पंवरी ब्रह्माण्डा”— से जायसी का अभिप्राय यह है कि जो साधक कुंडालिनी हो नव-खंडों के पार से जाकर दशम द्वार या ब्रह्माण्ड में पहुँचा देता है, वही योग-साधना की चरम उपलब्धि को प्राप्त करता है।

2. शरीर-रूपी दुर्ग के नव-द्वार निम्नांकित स्वीकार किए जाते हैं— 2 कान, 2 आंख, 2 नसिका छिद्र, 1 मुख, 1 मलेन्द्रिय और 1 मूत्रेन्द्रिय। इनके अतिरिक्त दसवां छिद्र या द्वार ब्रह्मरन्ध्र माना जाता है। कबीर ने कहा भी है—

“दस द्वारे कौ पींजरा, तामें पंछी पौनु।

रहिबे को आचरज महा, उड़ै तो अचरजु कौनु।”

नोट

3. कुछ टीकाकारों ने नव-द्वारों से नौ इन्द्रियों का अभिप्राय ग्रहण किया है। जो इस दृष्टि से अनुपयुक्त है कि पांच कर्मेन्द्रियों और पांच ज्ञानेन्द्रियों में से कौन सी एक इन्द्री को छोड़ा जाना चाहिए।

4. 'का बसी अकांक्षा' में उत्प्रेक्षा अलंकार।

5. 'कंचन दीसा' में उपमा अलंकार।

6. 'नव पंवरी ब्रह्माण्ड' समासोक्ति अलंकार।

7. पूरी पंक्तियों में अतिशयोक्ति अलंकार।

निति गढ़ बांछि चलै ससि सूरु। नाहिं त बाजि होइ रथ चूरु। 1।

पंवारी नवौ बज्र कइ साजी। सहस सहस तंह बैठे पाजी। 2।

फिरहिं पांच कोटवार सो भंवरी। कापैं पांय चंपत वै पंवरी। 3।

पंवरिहि पंवरि सिंह गढ़ि काढ़े। डरपहिं राय देखि तेन्ह ठाढ़े। 4।

बहु बनान वै नाहर गढ़े। जनु गाजहिं चाहहिं सिर चढ़े। 5।

टारहिं पूछ पसारहिं जीहा। कुंजर डरहिं कि गुंजरि लीहा। 6।

कनक सिला गाढ़ि सीढ़ी लाई। जगमगाहिं गढ़ ऊपर ताई। 7।

नवौ खंड नच पंवरीं औ तंह बज्र केवार।

चारि बसेरें सों चढ़ै सत सों चढ़ै जो पार ॥2/17॥

शब्दार्थ – बांछि=बचकर। सूरु = सूर्य। नाहिं त=नहीं तो। बाजि=घोड़ा, टकराकर। कइ=की। पाजी=पैदल। भंवरी=चक्कर लगाना। कोटवार=कोतवाल। राय=राजा। चंपत=गुजरते, पार करते। गढ़ि=दुर्ग। बनान=प्रकार से। गाजहिं=गरजेंगे। जीहा=जीभ। कुंजर=हाथी। लीहा=पकड़ा। गुंजरि=गरजकर। गढ़ि=बनाकर। ताई= तक। चारि बसेरें=सूफी मत की चार अवस्थाओं रूपी चार पड़ाव-शरीरगत, तरीकत, हकीकत, मारिफत। केवार=पांच शासक, कोटपाल।

संदर्भ – सिंहलगढ़ का वर्णन।

व्याख्या – सिंहलगढ़ की ऊंचाई का वर्णन करते हुए जायसी कहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा नित्यप्रति इस दुर्ग से बचकर निकलते हैं नहीं तो इससे टकराकर उनके रथ चूर-चूर हो जाएं। उसके नवों द्वार हीरा (वज्र) से सजे हुए हैं अथवा इसके नौ द्वार वज्र-तुल्य कठोर हैं और उन पर एक-एक हजार सैनिक (रक्षा के लिए) बैठे रहते हैं। वहां पांच कोतवाल चक्कर लगाते रहते हैं अतः इन द्वारों को पार करते हुए भय से कदम डगमगाने लगते हैं और पैर कांपने लगते हैं। प्रत्येक पंवरी पर सिंहों के चित्र खिंचे रहते हैं जिन्हें खड़े देखकर (साक्षात् सिंह समझकर) राजा भी डर जाते हैं ये सिंह इस प्रकार बनाए गए हैं कि उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो ये गरजकर सिर पर चढ़ जाएंगे। ये पूछ उठाकर जिह्वा बाहर निकाले हुए हैं अतः उन्हें देखकर हाथियों को यह भय लगता है कि वे गरजकर उन पर टूट पड़ेंगे। स्वर्ण-शिला से बनाकर सीढ़ी लगाई हुई है, जो दुर्ग के ऊपरी भाग तक जगमगाती रहती हैं।

इस दुर्ग के नौ मंजिलों में नौ पौड़ियां या द्वार हैं, जिन पर वज्र के किवाड़ लगे हुए हैं। इस पर चढ़ने में तभी सफलता मिल सकती है जब सत्य का आज्ञा लेकर चार पड़ाव (बसेरें) डालते हुए चढ़ा जाए।



नोट्स

सूफी साधक, साधना के चार पड़ाव-शरीरगत, तरीकत, हकीकत, मारिफत के माध्यम से ईश्वर (अल्लाह) के करीब जाता है। उसके अनुसार हक (अल्लाह) को पाने के यही रास्ते हैं।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. जायसी ने इन पंक्तियों में सांगरूपक अलंकार के माध्यम से सिंहलगढ़ पर चढ़ाई को हठयोग की साधना का स्थानापन्न चित्रित किया है हां रूपक का पूर्णतः निर्वाह नहीं हो पाया है। हठयोग की साधना में मानव पिंड को ही ब्रह्माण्ड माना जाता है— उनकी मान्यता है कि जो ब्रह्माण्ड में है वही पिंड में है। इस कल्पना के आधार पर वे कुंडलिनी को सुषुम्ना नाड़ी से होकर मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि चक्रों में होते हुए ब्रह्मांध

नोट

तक ले जाते हैं। जायसी ने इन षट्-चक्रों के स्थान पर नौ द्वारों का उल्लेख किया है। उन्होंने काम-क्रोध, लोभ मद और मोह को पांच कीतवाल दिखाया है जो जीवात्मा रूपी पथिक को दुर्ग-रूपी ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट नहीं होने देते।

पाजी— सूफी मत के अनुसार मनुष्य और परमात्मा के बीच एक सहस्र पर्दे हैं। यहां एक-एक पाजी एक-एक पर्दे का प्रतीक है।

चारि बसेरे— सूफी साधना के चार पड़ावों शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारिफत के अनुरूप ही नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत दशाएं होती हैं, जिन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है—

1. नासूत— यह मनुष्य की साधारण अवस्था होती है। इसमें साधक को शरीअत के कायदे-कानूनों को मानना पड़ता है।

2. मलकूत— इस अवस्था में साधक का मन भौतिक इच्छाओं से ऊपर उठ जाता है इसमें साधक को तरीबत की सहायता लेनी पड़ती है।

3. जबरूत— इसमें साधक को आध्यात्मिक शक्ति मिल जाती है। इसमें वह हकीकत से परिचित हो जाता है। उसे ईश्वरीय ज्ञान उपलब्ध हो जाता है और उससे मिलने के व्यवधान नष्ट हो जाते हैं।

4. लाहूत— इस चौथी अवस्था में साधक राग से अतीत होकर परमात्मा में लीन हो जाता है।

2. डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत ने इन पंक्तियों का निम्नांकित हठयोगिक अर्थ दिया है।

“इस शरीर रूपी गढ़ में सूर्य और चन्द्रमा अलग-अलग रहते हैं। यदि उनका मिलन हो जाए तो उनका स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो जाए (होय बाजि रथचूर) नवों चक्र वज्र के समान दुर्भेद्य हैं। उनके द्वार पर सशस्त्र-सहस्र दुष्ट मनोविकार बाधक रूप में रहते हैं। वह साधक को चक्र भेदन नहीं करने देते। अतः उस साधना मार्ग में चरण रखते हुए भय लगता है और बड़े संभलकर पैर रखने पड़ते हैं। हर चक्र की अधिष्ठात्री कोई-न-कोई देवी है। उनका सिंह साधक को चक्र-भेदन में अग्रसर नहीं होने देता, ऐसा लगता है कि गरजकर सिर पर चढ़ बैठेंगे। उनके डर से साधक अपनी साधना से परांग मुख होने लगता है। अज्ञान रूपी हाथी उन सिंहों को देखकर डर जाते हैं। उस गढ़ तक सोने की सीढ़ियां बनी हुई हैं। सुषुम्ना का रंग योग ग्रन्थों में स्वर्णिम बताया गया है। इसीलिए कनक सीढ़िया कहा गया है इस शरीर रूपी सिंहलगढ़ में नौ चक्र हैं। इन चक्रों के नौ द्वार हैं। वे द्वार वज्र के समान दुर्भेद्य हैं। जो साधक चार पड़ावों प्रत्याहार, ध्यान, धारण, समाधि के क्रम से सत्य के सहारे साधना करता है वही सिद्धि प्राप्त कर लेता है।”

चारि बसेरे— चारि बसेरे का सूफी-साधना-परक अर्थ ऊपर दिया गया है। डॉ. त्रिगुणायत के शब्दों में इसका योगपरक अर्थ इस प्रकार है—

“योगपरक अर्थ लेने में यहां पर चार प्रकार के योगों की व्यंजना की जाएगी उनके नाम हैं— हठयोग, मंत्रयोग, लययोग और राजयोग।

वेदान्त की दृष्टि से यहां पर साधन-चतुष्टय की ओर संकेत माना जाएगा।

3. ‘निति गढ़ चूरु’ में सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार।

4. ‘फिरहिं पांच साजी’ में रूपक अलंकार।

5. ‘जनु गाजहिं चढ़े’ में उत्प्रेक्षा अलंकार।

नवों पंवरि पर दसौं दुआरु। तेहि पर बाज राज घरिआरु। 1।

घरी सो बैठि गनै घरिआरी। पहर पहर सो आपनि बारी। 2।

जबहिं घरी पूजी वह मारा। घरी घरी घरिआर पुकारा। 3।

परा जो डांड जगत सब डांडा। का निचिंत मांटी कर भांडा। 4।

तुम्ह तेहि चाक चढ़े होइ कांचे। आएहु फिरै न थिर होई बांचे। 5।

घरी जो भरै घटै तुम आऊ। का निचिंत सोवहि रे बटाऊ। 6।

पहरहि पहर गजर निति होई। हिआ निसोगा जाग न सोई। 7।

मुहमद जीवन जल भरन रंहट घरी की रीति।

घरी सो आई ज्यों भरी ढरी जनम गा बीति॥ 2/18॥

नोट

शब्दार्थ – दसौं दुआरू=दशम द्वार, ब्रह्मरन्ध्र। राज घरिआरू= राजा का घंटा। घरिआरी=घंटा बजाने वाला। पूजी=पूरी हुई। डांडा=दण्डित किया। डांड=घड़ियाल बजाने का डंडा। तेहि चाक= उस समय-रूपी चक्र पर। निचिंत=निश्चित। मांटी कर भांडा=मिट्टी का बर्तन अर्थात् मानव शरीर। थिर=स्थिर। बांचे=बचाता है। आऊ=आयु। गजर=आठ घड़ी या एक पहर (3 घंटे) व्यतीत होने पर जोर से घड़ियाल बजाया जाता था उसी को गजर कहते हैं। राजदरबारों में आठ घड़ी या एक पहर के बाद पहरा बदल जाता था। ढरी=खाली हो गई। गा वीति= व्यतीत हो गया।

संदर्भ – नव-पौढ़ियों के वर्णन के उपरान्त प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने दशम-द्वार या ब्रह्मरन्ध्र का वर्णन किया है।

व्याख्या – शरीर रूपी दुर्ग में नव पंवरियों के उपरान्त दसवां द्वार है। उस पर राजा का घंटा बजता है। घंटा बजाने वाला बैठा घड़ियां गिनता रहता है और अपनी बारी (पाली, घड़ियाल बजाने की ड्यूटी) के प्रत्येक पहर के उपरान्त जोर से घड़ियाल बजाता है— अथवा वह पहर वालों को अपनी-अपनी बारी आने की सूचना देता है। जब उसकी बारी की आठ घड़ियां (एक प्रहर) पूरी हो जाती है तो वह घड़ियाल को कुछ देर तक निरंतर बजाता है जिससे घड़ियाल से घड़ी-घड़ी की ध्वनि निकलने लगती हैं। घड़ियाल पर डंडे की चोट पड़ने से आवाज निकलती है कि उसने सारे संसार को एक घड़ी से दंडित कर दिया है (उसकी आयु एक घड़ी कम कर दी है) फिर मिट्टी के बर्तन की भांति नश्वर जीवन निश्चित क्यों है?— अर्थात् वे हरि-स्मरण में शीघ्रता क्यों नहीं करते। अरे नश्वर प्राणियों! तुम कुम्हार के चक्र रूपी चाक पर कच्ची मिट्टी की भांति चढ़े हुए हो। इस संसार में तुम लौट आने (मरने) के लिए आए हो, यहां स्थिर नहीं रह सकते (कुम्हार के चक्र पर भी मिट्टी स्थिर नहीं रहती) ज्यों-ज्यों घड़ी समाप्त होती जाती है उसी अनुपात में तुम्हारी आयु घटती जाती है। अरे जीवन-मार्ग के पथिक तू निश्चित होकर क्यों सो रहा है? नित्यप्रति प्रत्येक पहर के उपरान्त गजर बजता रहता है। घड़ियाल पर देर तक चोंटे लगती जाती हैं। किन्तु तेरा हृदय ऐसा शोकरहित है (शुक्ल जी ने इसका पाठान्तर बंजर ग्रहण किया है जो अधिक उपयुक्त है) कि तू उसे सुनकर भी नहीं जागता। ‘बंजर’ पाठ ग्रहण करने पर अर्थ होगा कि तेरा हृदय ऐसा वज्र-तुल्य है कि तू इस चेतावनी को सुनकर भी नहीं जागता।

कवि मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं कि मनुष्य का जीवन रहट की घरियाओं की भांति भरता-ढलता रहता है। जैसे रहट की घरियाएं भरकर आती हैं और ढल जाती हैं (खाली हो जाती हैं) उसी प्रकार जीवन जगत् में आता है और समाप्त हो जाता है।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. ‘जबहिं घरी पूजी-प्राचीन काल में आजकल जैसी घड़ियां नहीं थीं। पहले जल से भरी नांद या बड़े बर्तन में एक ऐसी कटोरी डाल दी जाती थी, जिसके तले में छिद्र होता था। एक व्यक्ति उस कटोरी को देखता रहता था कि वह जल में भरकर कब डूबती है। जैसे ही तल में छिद्र में से आने वाले पानी के कारण वह कटोरी भर कर डूबती थी, यह मान लिया जाता था कि एक घड़ी समय समाप्त हो गया है और इस तथ्य की सूचना घड़ियाल बजाकर दी जाती थी।

2. ‘पहर पहर’ तथा ‘घरी घरी’ में पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार।
3. ‘घरी घरी’ तथा ‘डांड और डांडा’ में यमक अलंकार।
4. ‘का निचिंत भांडा’ में रूपक अलंकार।
5. ‘मुहम्मद..... रीति’ में उपमा अलंकार।



टास्क रहस्यात्मक सन्दर्भ में सिंहलगढ़ के प्रतीकार्य स्पष्ट कीजिए।

गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पानी भरहिं जैसे दुरुपदी। 1।

और कुंड एक मोतीचूरू। पानी अंब्रित कीच कपूरू। 2।

ओहि क पानि राजा पै पिया। बिरिध होइ नहिं जौ लहि जिआ। 3।

कंचन बिरिख एक तेहि पासा। जस कलपतरु इंद्र कबिलासा। 4।

मूल पतार सरग ओहि साखा। अमर बेलि को पाव को चाखा। 5।

चांद पात और फूल तराई। होइ उजिआर नगर जंह ताई। 6।

वह फर पावै तपि कै कोई। बिरिध खाइ नव जोबन होई। 7।

राजा भए भिखारी सुनि वह अंब्रित भोग।

जेई पाबा सो अमर भा ना किछु व्याधि न रोग॥2/19॥

शब्दार्थ – नीर खीर=जल और दूध, इड़ा और पिंगला। दुरूपदी=द्रौपदी। अंब्रित=अमृत। ओहि क=उसका। बिरिध=वृद्ध। जौ लहि=तब तक। कंचन=सोना(स्वर्ण)। बिरिख=वृक्ष। चांद पात=चांदी के पत्ते। फूल तराई=तारे फूल हैं। फर=फल।

संदर्भ—सिंहलद्वीप की नीर-क्षीर की नदियां, मोतीचूर कुंड, कंचन-वृक्ष आदि के माध्यम से योग-साधना का वर्णन।

व्याख्या—उस गढ़ पर जल और दूध की दो नदियां हैं (इड़ा और पिंगला नामक नाड़ियां हैं)। द्रौपदी (कुंडलिनी) जैसी नदियां वहां पानी भरती हैं अथवा उनमें द्रौपदी के अक्षय चौर की भांति अक्षय जल भरा रहता है। वहां एक मोतीचूर नामक कुंड है। उसका पानी अमृत तुल्य और कीचड़ कपूर जैसी है। उसका जल लेने का अधिकार मात्र राजा का होता है। उस पानी को पी लेने वाला जब तक जीवित रहता है कभी वृद्ध नहीं होता। उसके समीप ही एक स्वर्ण-वृक्ष है, जो इन्द्र के कैलास के कल्पतरु के तुल्य है। उस वृक्ष की जड़ पाताल में है जबकि शाखाएं स्वर्ग तक फैली हुई हैं। उस पर छाई हुई अमर बेल को कौन पाता है और कौन चख सकता है? उस वृक्ष के चन्द्रमा रूपी पत्ते हैं और तारों रूपी फूल हैं। उसका प्रकाश वहां तक फैला रहता है, जहां तक यह नगर है। उसके फल को तपस्या करके ही प्राप्त किया जा सकता है, उसे यदि कोई वृद्ध भी खा लेता है तो उसे नवजीवन (नवयौवन) की प्राप्ति हो जाती है।

उस अमृत-भोग के विषय में सुनकर राजा राज-पाट छोड़कर भिखारी बन गए हैं, उसे जो भी प्राप्त कर लेता है वही अमर हो जाता है और उसको किसी प्रकार की मानसिक या शरीरिक बीमारी नहीं रहती।

डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत ने इन पंक्तियों का हठयोगपरक अर्थ किया है— “इस शरीर रूपी गढ़ में दो आत्मा रूपी नदियां प्रमुख हैं— प्राप्त आत्मा और प्राप्तव्य आत्मा। द्रौपदी के सदृश जीव शक्ति (कुंडलिनी) सुषुम्ना रज्जु के द्वारा ब्रह्मरंध्र रूपी कुण्ड में पानी भरती है। वहां ब्रह्मरंध्र रूपी मोतीचूर का कुण्ड है। उसका पानी अमृत-तुल्य है। वहां जो चन्द्र तत्व है उससे अमृत झरा करता है। उस ब्रह्मरंध्र के अमृत को कोई राजयोगी ही पान कर पाता है। उसको पान करने वाले जब तक जीवित रहते हैं तब तक वृद्ध नहीं होते। उस ब्रह्मरंध्र के समीप सुषुम्ना का कंचन वृक्ष है। वह इन्द्रलोक के कल्पतरु के सदृश है (व्यंजना है कि जिस तरह से कल्पवृक्ष मनुष्य की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करता है उसी प्रकार सुषुम्न साधना मनुष्य की सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्ण कर देती है।) उस सुषुम्न रूपी की जड़ मूलाधार में रहती है और सहस्रार रूपी स्वर्ग में उसकी शाखाएं रहती हैं। सुषुम्ना की बेल अमर है उसकी सिद्धि कोई बिरला व्यक्ति ही पा सकता है। सहस्रार में जो चंद्र तत्व है मानों वह उस वृक्ष के पत्ते हैं और सहस्रदल के ज्योतिकण उस सुषुम्ना रूपी वृक्ष के फूल हैं। उससे सम्पूर्ण ब्रह्मरंध्र ज्योतिर्मय रहता है। उस ब्रह्मरंध्र के अमृतफल को कोई तपस्या करके प्राप्त करता है। वृद्ध उसे यदि खा ले तो युवा हो जाए।

उस ब्रह्मरंध्र के अमृत को प्राप्त करने के लिए राजा भी भिखारी हो गए। जिसने उसे प्राप्त किया वही अमर हो गया। उसे कोई व्याधि और रोग नहीं सताते।”

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इन पंक्तियों का निम्नांकित आध्यात्मिक संकेत बताया है— “इस छन्द में हठयोग के तत्वों की ओर कुछ इस प्रकार संकेत ज्ञात होता है— यह मानव शरीर ही गढ़ है। यथा—

“गढ़ तस बांक जैसि तोरि काया। परखि देखु ओहि कै छाया”

इस काया-गढ़ में नीर तथा क्षीर नाम की नदियां इड़ा तथा पिंगला नाड़ियां हैं। मोती-चूर्ण का कुंड सुषुम्ना है। कंचन-वृक्ष अमृत वल्ली है, जो पाताल (मूलाधार चक्र) से लेकर आकाश (सहस्रार) तक फैली हुई है। उसी का प्रकाश समस्त कायागढ़ में होता रहता है—काया की समस्त चेतना उसी का परिणाम है। इस अमृत वल्ली का फल आत्मानुभव है जिसका सेवन करने में जरा मरण का भय नहीं रहता है। इस अमृत-फल को तप के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है इसको प्राप्त करने के लिए भर्तृहरि जैसे राजा भिखारी बने। इसको प्राप्त करने के लिए अनन्तर प्राणी को किसी प्रकार की शारीरिक, मानसिक व्याधियां कष्ट नहीं पहुंचा सकती हैं।”

नोट

2. सम्पूर्ण छन्द में समासोक्ति अलंकार।
3. 'परिहारी दूरपदी' में उपमा अलंकार।
4. 'पानी अमृत' में रूपक अलंकार।
5. 'कंचन बिरिछ कबिलासा' में उपमा अलंकार।
6. 'चांद तराई' में रूपक अलंकार।

गढ़ पर बसहिं चारि गढ़पती। असुपति गजपति और नरपती। 1।

सब क धौरहर सोनै साजा। औ अपने अपने घर राजा। 2।

रूपवंत धनवंत सभागे। परस पखान पंवरि तेन्ह लागे। 3।

भोग बेरास सदा सब माना। दुख चिंता कोउ जरम न जाना। 4।

मंदिर मंदिर सब के चौपारी। बैठि कुंवर सब खेलहिं सारी। 5।

पांसा ढरै खेल भलि होई। खरग दान सरि पूज न कोई। 6।

भांट बरनि कहि कीरति भली। पावहिं हस्ति घोर सिंघली। 7।

मंदिर मंदिर फुलवारी चोवा चंदन बास।

निसि दिन रहै बंसत भा छहु रितु बारहु मास ॥2/ 20॥

शब्दार्थ—चारि=चार। असुपति=अश्वपति। धौरहर=महल। परस पखान=पारस पत्थर। पंवरि=ड्यूँदी। बेरास=विलास। सारी=पांसे का खेल। खरग=तलवार। सरि पूज न कोई=कोई समता नहीं कर सकता। भांट=चारण, भाट। सिंघली=लंका के। मंदिर मंदिर=भवन-भवन में। रितु=ऋतु। बारहु मास=बारह महीने।

संदर्भ—सिंहलगढ़ के चार गढ़पतियों के वैभव का वर्णन।

व्याख्या—गढ़ पर चार अधिकारी-गढ़पति, अश्वपति, गजपति और नरपति रहते हैं। सभी के सोने के महल बने हुए हैं और वे भी अपने-अपने घर के राजा हैं। वे सभी बड़े ही सुन्दर, धनवान और सौभाग्यवान हैं और उनकी ड्यूँदियों में पारस पत्थर लगे हुए हैं। वे सदैव भोग विलास करते हैं और उन्होंने जीवन में दुःख तथा चिन्ता का कोई नाम तक नहीं जाना है। सभी के भवनों के बहिर्भाग में चौपालें बनी हुई हैं, जहां बैठकर कुंवर सार-पासे खेलते हैं। पासों को डालकर सुन्दर खेल खेला जाता है। खड्ग-संचालन और दान देने में उनकी कोई बराबरी नहीं कर सकता। भाट लोग उनकी कीर्ति का भली प्रकार वर्णन करते हैं और उनसे पुरस्कार-स्वरूप घोड़े तथा सिंहली हाथी प्राप्त करते हैं।

प्रत्येक भवन में फुलवारी लगी हुई है तथा चोवा और चन्दन की सुगन्धि फैली रहती है। उनके भवनों में षट्-ऋतुओं और बारहों-मासों में अहिर्निश बसन्त ऋतु छाई रहती है।

साहित्यिक सौन्दर्य—1. 'खरग कोई' में अनन्वयोपमा अलंकार।

2. प्रथम पंक्ति में वृत्तनुप्रास, 'चोवा चंदन' में छेकानुप्रास अलंकार।

टिप्पणी— प्राचीन काल में राजकुमार और राजकुमारियों के खेल के संदर्भ में सार-पासे का बहुधा उल्लेख मिलता है।

पुनि चलि देखा राज दुआरु। महिं घूँबिअ पाइअ नहिं बारु। 1।

हस्ति सिंघली बांधे बारा। जनु सजीव सब ठाढ़ पहारा। 2।

कवनौ सेत पीत रतनारे। कवनौ हरे धूम औ कारे। 3।

बरनहि बरन गगन जस मेघा। औ तिन्ह गगन पीठ जनु ठेंघा। 4।

सिंघल के बरने सिंघली। एकेक चाहि सो एकेक बली। 5।

गिरि पहार पबै गहि पेलहिं। बिरिख उपारि झारिमुख मेलहिं। 6।

मात निमत सब गरजहि बांधे। निसि दिन रहहिं महाउत कांधे। 7।

धरती मार न अंगवै पावं धरत उठ हालि।

कुरुंम टूट फन फाटे तिन्ह हस्तिन्ह की चालि ॥2/ 21॥

नोट

शब्दार्थ – दूआरू=द्वारा। महिं=अन्दर। घूबिअ=घूमकर। बारू=द्वार। बार=द्वार पर। जनु=मानो। कवनौ=कोई। धूम=धूप के रंग के। रतनारे=लाल। बरन=रंग। ठेंघा=टिका हुआ। पब्बे=पर्वत। गहि=पकड़कर। पेलहिं=ठेल देते हैं। बिरिख=वृक्ष। उपारि=उखाड़ कर। मात=मतवाले। निमत=मदहीन। अंगवै= अंगीकार कर ली, मान ली। कुरुंम=पृथ्वी के नीचे स्थित महाकच्छप। तिन्ह=उन।

संदर्भ—सिंहल-नरेश के राज-द्वार पर बंधे हाथियों का वर्णन।

व्याख्या—तदनन्तर चलकर राजद्वार को देखिए। ऐसा द्वार सारी पृथ्वी पर घूमने अर्थात् चक्कर लगाने पर भी नहीं मिल सकता। राजद्वार पर सिंहली हाथी बंधे हुए हैं। वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो सजीव या साक्षात् पर्वत हों। उन हाथियों में से कोई श्वेत रंग का है तो कोई पीला, कोई लाल है तो कोई हरा, कोई धूप जैसे रंग का है तो कोई काला है। उनके रंग आकाश के बादलों जैसे हैं। वे इतने ऊंचे हैं कि ऐसा प्रतीत होता है मानो उन्होंने आकाश को अपनी पीठों पर टिकाया हुआ है। यह वर्णन सिंहल के सिंहली हाथियों का है। उनमें एक से बढ़कर एक बलवान हैं। वे गिरि पहाड़ और पर्वतों को पकड़कर ठेल देते हैं तथा वृक्षों को उखाड़कर उन्हें झगड़ते हुए अपने मुख में दबा लेते हैं। वे सब चाहे मदोन्मत्त हों यहा मदहीन, राजद्वार पर बंधे हुए गरजते रहते हैं और महावत उनके कंधों पर रात-दिन बैठे रहते हैं।

इन विशालकाय हाथियों के भार को पृथ्वी भी सहन नहीं कर पाती और उनके पांव रखते ही हिल उठती है। इन हाथियों के चलने के बोझ से महाकच्छप की पीठ टूट गई जबकि शेषनाग के फन फट गए।

साहित्यिक सौन्दर्य—1. 'हस्ति पहरा' में उत्प्रेक्षा अलंकार।

2. 'बरनहिं मेघा' में उपमा अलंकार।

3. 'औ तिन्ह ठेंका' में उत्प्रेक्षा अलंकार।

4. 'गिरि पहार मेलहि' में अतिशयोक्ति अलंकार।

5. 'धरती भार की चाली' में अत्युक्ति अलंकार।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित काव्यांशों में प्रयुक्त अलंकार बताइए—

- | | | |
|--|--------------|----------------|
| 1. कंचन कोट जरे कौसीसा! नखतन्ह भरा बीजू अस दीसा। | | |
| (अ) उत्प्रेक्षा | (ब) यमक | (स) उपमा |
| 2. फिरहिं पांच कोटवार सो भंवरी कापै पांय चंपत वै पंवरी। | | |
| (अ) रूपक | (ब) अनुप्रास | (स) यमक |
| 3. जबहीं घरी पूजी वह मारा। घरी-घरी घरियार पुकारा। | | |
| (अ) उत्प्रेक्षा | (ब) यमक | (स) अतिशयोक्ति |
| 4. गिरि पहार पब्बे गहि पेलहिं। बिरिख उपारि झारिमुख मेलहिं। | | |
| (अ) उपमा | (ब) अनुप्रास | (स) अतिशयोक्ति |

पुनि बांधे रजबार तुरंगा। का बरनों जस उन्हके रंगा।1।

लील समुंद्र चाल जग जानै। हांसुल भंवर किआह बखानै।2।

हरे कुरंग महुअ बहुभांती। गर् कोकाह बोलाह सो पांती।3।

तीख तुखार चांड और बांके। तरपहिं तबहि तायन बिनु हांके।4।

मन तें अगुमन डोलहिं बागा। देत उसास गगन सिर लागा।5।

पावहिं सांस समुंद पर धावहिं। बूड़ न पावं पार होइ आवहिं।6।

थिर न रहहिं रिस लोह चबाहीं। भांजहिं पूंछि सीस उपराहीं।7।

अस तुखार सब देखे जनु मन के रथवाहा।

नैन पलक पहुंचावहिं जहं पहंचा कोउ चाह॥2/22॥

नोट

शब्दार्थ – रजवार=राजद्वार। लील=नीले। समुद्र=बादामी। हांसुल=कुम्भैत। भंवर=मुश्की। किआह=लाल व कल छौं हैं। कुरंग=लाख जैसे रंग के। महुअ=महुए के रंग के। गर्ग=लाल और श्वेत का मिश्रण। कोकाह=श्वेत। बोलाह=जिसके गर्दन और पूंछ के बाल पीले हों। चांड= प्रचंड। तायन=चाबुक। सांस=इशारा। लोह= लगाम में लगा मुंह का लोहा। रथवाह=रथ खींचने वाले। अगुमन=आगे। रिस=क्रोध में। बूड़=डूबना। तुखार=तुखार देश के घोड़े।

संदर्भ—सिंहल-नरेश के राजद्वार पर बंधे अश्वों का वर्णन।

व्याख्या—तदनन्तर राजद्वार पर बंधे घोड़े देखिए। उनके जैसे सुन्दर रंग हैं, उनका क्या वर्णन करूं? उनमें कोई नीले और कोई बादामी रंग का है जिनकी तीव्रगति से सारा संसार परिचित है। उनमें से कुछ अश्व कुम्भैत, मुश्की और कोकाह जाति के हैं, कुछ अश्व हरे, लाल और महुए के रंग के हैं और कुछ गर्दन और पूंछ के श्वेत बालों वाले घोड़े हैं। तुखार देश के तुखारी घोड़े बड़े ही तेज, प्रचण्ड और बलवान हैं। वे बिना चाबुक हिलाए ही बिना हांके ही भागने के लिए व्यग्र रहते हैं। बाग हिलाने पर वे मन से भी अधिक तीव्र गति से दौड़ते हैं और उछाल लेते ही अपना सिर ऊंचा उठाकर आकाश से लगा लेते हैं (अर्थात् दुपाए खड़े हो जाते हैं) अथवा उनकी बाग हिलाने पर मनुष्य सांस भी नहीं ले पाता कि वे आकाश से बातें करने लगते हैं। इशारा पाने पर वे समुद्र पर भी दौड़ जाते हैं। उनकी टांपें (तीव्रगति के कारण) जल में डूबती नहीं हैं अपितु वे पार निकल आते हैं। वे अपने स्थान पर जरा भी स्थिर नहीं रहते और क्रोध में लगाम के लोहे को चबाने लगते हैं। जब वे दौड़ते हैं तो अपनी पूंछों को मोड़कर सिर पर कर लेते हैं।

तुखार देश के ये घोड़े देखने में ऐसे प्रतीत होते हैं मानों मन रूपी रथ के वाहक हों अर्थात् उनकी गति मन जैसी तीव्र है। वे नेत्रों के पलक झपकते ही इच्छित गंतव्य स्थान पर पहुंचा देते हैं।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. इन पंक्तियों से जायसी की घोड़ों विषयक बहुज्ञता का परिचय मिलता है।

2. 'अस तुखार रथुवाहु' में उत्प्रेक्षा अलंकार।

3. 'नैन चाह' में अतिशयोक्ति अलंकार।

राजसभा पुनि दीख बईठी। इन्द्रसभा जनु परि गइ डीठी। 1।

धनि राजा अस सभा सवारी। जानहु फूलि रही फुलवारी। 2।

मुकुटबंध सब बैठे राजा। दर निसान निति जेन्ह के बाजा। 3।

रूपवंत मनि दिपै लिलाटा। मांथें छात बैठ सब पाटा। 4।

मानहु कंवल सरोवर फूलै। सगा क रूप देखि मन भूलै। 5।

पान कपूर मेद कस्तूरी। सुगंध बास भरि रही अपूरी। 6।

मांझ ऊंच इन्द्रासन साजा। गंधर्वसेनि बैठ जहं राजा। 7।

छत्र गगन लहि ताकर सूर तवै जसु आपु।

सभा कंवल जिमि बिगसै मांथे बड़ परतापु॥ 2/23॥

शब्दार्थ—बईठी=बैठी हुई। डीठी=नजर में, दृष्टि में। अस=ऐसी। मुकुटबंध= मुकुट बांधे हुए। दर=द्वार। निसान=नगाड़े। छात=छत्र। मेद= सुगन्धित द्रव्य। अपूरी=पूर्ण। लहि=तक। तवै= तपता। जसु=यश। आपु=स्वयं। जिमि=तरह। बिगसै=होती है। परितापु=प्रताप, तेज।

संदर्भ – गंधर्वसेन के राज-दरबार का वर्णन।

व्याख्या – इसके पश्चात् (आगे चलने पर) राज सभा बैठी दृष्टिगत होती है। उसे देखकर ऐसा लगता है मानो इन्द्रसभा पर नजर पड़ गई हो। वह राजा धन्य है जिसकी ऐसी सुसज्जित सभा है। उसमें बैठे प्रसन्न वदन नरेशों को देखकर ऐसा लगता है मानों फुलवारी खिली हुई हो। उसमें सभी नरेश मुकुट बांधकर बैठे हैं। इनके द्वारों पर सदैव दुर्गुभि या नगाड़े बजते रहते हैं। ये राजा बड़े ही रूपवान हैं और उनके मस्तकों पर मणियां सुशोभित रहती हैं। इनके मस्तकों पर मुकुट हैं और ये सभी सिंहासनों पर बैठे हैं। ऐसा लगता है मानों तालाब में कमल खिले हुए हैं। राज सभा की सुन्दरता देखकर मन सब कुछ भूल जाता है। राज-सभा में पान, कपूर, मेद और कस्तूरी की सुगन्धि पूर्णतया परिव्याप्त है।

नोट

मध्य में एक ऊंचा सिंहासन सुशोभित है जो इन्द्रासन जैसा है। उस पर गंधर्वसेन नरेश बैठा हुआ है। राजा गंधर्वसेन का छत्र आकाश तक है। वह ऐसा तेजस्वी है जैसे स्वयं सूर्य ही तप रहा हो। राजसभा के सदस्य राजा मानो कमल हैं जो सूर्य-रूपी गंधर्वसेन को देखकर प्रमुदित हो रहे हैं। उसका मस्तक बड़ा ही प्रतापशाली है।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. ‘राज सभा.... गई डीठी’ में उत्प्रेक्षा अलंकार।

2. ‘धनि राजा.... फुलवारी’ में उत्प्रेक्षा अलंकार।

3. ‘मानहुं कवल..... भूलै’ में उत्प्रेक्षा अलंकार।

4. ‘सभा कमल जिमि बिगसै’ में उपमा अलंकार।

साजा राज मंदिर कबिलासू। सोने कर सब पुहुमि अकासू। 1।

सातखंड धौराहर साजा। उहै संवारि सकै अस राजा। 2।

हीरा ईट कपूर गिलावा। औ नग लाइ सरग लै लावा। 3।

जावत सबै उरेह उरेह। भांति भांति नग लाग उबेह। 4।

भा कटाव सब अनबन भांति। चित्र होत गा पांतिहि पांती। 5।

लाग खंभ मनि मानिक जरे। जनहु दिया दिन आछत बरे। 6।

देखि धौराहर कर उंजियारा। छपि गे चांद सूर और तारा। 7।

सुने सात बैकुंठ जस तस साजे खंड सात।

बेहर बेहर भाठ तेन्ह खंड खंड ऊपर जात ॥2/24॥

शब्दार्थ—कबिलासू=कैलास। पुहुमि=पृथ्वी। धौराहर=श्वेत महल, धवल गृह। उहै= उसको। अस=ऐसा। गिलावा=गारा। लै=तक। उरेह=चित्रित किए। कटाव=नक्काशी। अनबन भांति=अनेक प्रकार से। आछत=होते हुए भी। जस= जैसे। तस=तैसे। बेहर बेहर=पृथक्-पृथक्। उंजियारा=उजाला। बरे=जल रहे हैं।

संदर्भ—गंधर्वसेन के राजमहल का वर्णन।

व्याख्या—दुर्ग में गंधर्वसेन का कैलास की भांति राजमहल सुशोभित है, जिसकी पृथ्वी अर्थात् फर्श तथा आकाश अर्थात् दीवारों और छतें स्वर्ण-निर्मित हैं। उसका धवलगृह सतखंडा है। कोई गंधर्वसेन जैसा राजा ही अपने महल को इस प्रकार सम्भाल सकता है। यह राजमहल कपूर के गारे में हीरे रूपी ईंटों को चिनकर बनाया गया है और उसमें नग जड़ते हुए उसे ऊंचाई की दृष्टि से स्वर्ग तक ले जाया गया है अर्थात् वह गगनचुम्बी है। जितने भी प्रकार के चिह्न हो सकते हैं वे सभी इसमें चित्रित किए गए हैं और उसमें तरह-तरह के नग लगाए गए हैं। उसमें नाना प्रकार की पच्चीकारी की गई है और चित्रों की पंक्तियां बनाई गई हैं। उसमें जो स्तम्भ लगे हुए हैं उनमें मणि-माणिक जड़े हुए हैं। वे इतने चमकीले हैं कि उनके कारण ऐसा प्रतीत होता है मानो दिवस में दीपक जल रहे हैं। इस धवलगृह का प्रकाश या चमक को देखकर चांद, सूर्य और तारे (लज्जावश) फीके पड़ गए हैं।

7.2 सारांश (Summary)

कवि ने सिंहलद्वीप के नगर बाग-बगीचे हाट-बाजार, फल-फूल आदि का सुंदर मनोहर चित्र अंकित किया है। नगर की सुंदर नारियों को कवि ने पद्मिनी कहा है सिंहलद्वीप के दुर्ग में नौ द्वारों की चर्चा की है। सिंहलगढ़ की ऊंचाई आकाश को छूने वाली है और उस पर चढ़ाई के मार्ग में ये नौ द्वार हैं जिनके माध्यम से सफलता प्राप्त की जा सकती है। सिंहलगढ़ पर चढ़ाई को कवि ने हठ योग के स्थानापन्न चित्रित किया है।

7.3 शब्दकोश (Keywords)

1. **दसौंदुआरु:** दशम द्वार, ब्रह्मरंध्र।

2. **पखान:** पारस पत्थर।

3. कबिलासू: कैलास, स्वर्ग, हिमालय की एक चोटी जिसे शिव का निवास-स्थल माना गया है।

नोट

4. पुहुमि: पृथ्वी।

7.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

- नवौ खंड नच पंवरी औ तहं बज्र केवार।
चारि बसेरें सों चढ़ै सत सों चढ़ै जो पार।।
पद में दुर्ग के नौ पड़ावों से कवि का क्या आशय है? स्पष्ट कीजिए।
- सिंहलद्वीप वर्णन खंड की योजना के माध्यम से जायसी का आशय स्पष्ट कीजिए।
- सिंहलद्वीप वर्णन-खण्ड में सूफी मत के प्रभाव को लक्षित कीजिए।

उत्तर-स्वमूल्यांकन (Answer-Self Assessment)

1. (स)
2. (अ)
3. (ब)
4. (स)

7.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



- पुस्तकें
1. पद्मावत—मलिक मुहम्मद जायसी कृत।
 2. जायसी ग्रन्थावली—शुक्ल रामचंद्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
 3. मलिक मुहम्मद जायसी—बी.सी. पाण्डेय, विनोद प्रकाशन।

नोट

इकाई 8

पद्मावत-नागमती वियोग-खंड: व्याख्या भाग**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

8.1 नागमती वियोग-खण्ड

8.2 सारांश (Summary)

8.3 शब्दकोश (Keywords)

8.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

8.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- पद्मावत में वर्णित नागमती वियोग खण्ड के वैशिष्ट्य को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

रत्नसेन के वियोग में तड़पती नागमती की विवशता का तीसवें खंड में जायसी ने बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। उसका शरीर सूखकर काँटे जैसा हो गया था और उसके मुख से सदैव पीउ-पीउ की ध्वनि निकलती रहती थी। बारह-मास के साथ नागमती की वर्ष के बारहों महीनों में कैसी कातर दशा हो गई थी, इस तथ्य का जायसी ने बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है।

8.1 नागमती वियोग-खण्ड

नागमती चितउर पथ हेरा। पिउ जो गए फिरि कीन्ह न फेरा। 1।

नागरि नारि काहुं बस परा। तेइ बिमोहि मोसौं चितु हरा। 2।

सुवा काल होइ लै गा पीऊ। पिउ नहिं लेत लेत बरु जीऊ। 3।

भएउ नरायन बावन करा। राज करत बलि राजा छरा। 4।

करन बान लीन्हेउ कै छंदू। भारथ भएउ झिलमिल आनंदू। 5।

मानत भोग गोपीचंद भोगी। लै उपसवा जलंधर जोगी। 6।

लै कान्हहि भा अकरुर अलोपी। कठिन बिछोउ जिअै किमि गोपी। 7।

सारस जोरी किमि हरी मारि गएउ किन खगि।

झुरि झुरि पांजरि धनि भई बिरह कै लागी अग्नि॥ 30/1॥

शब्दार्थ—चितउर=चित्तौड़। हेरा=देखने लगी। फेरा=लौटना। नागरि=चतुर स्त्री। बिमोही=मोहित करके। बस=वश में। बावन करा=विष्णु का वामन अवतार द्वारा छल करना और राजा बलि को पाताल भेजना। करन=राजा कर्ण। भारथ=महाभारत। झिलमिल=कवच। उपसवा=समीप ले गया। अकरुर=अक्रूर, जो श्रीकृष्ण को गोकुल से मथुरा लिवा ले गए थे। किमि=कैसे। पांजरि=पिंजर, हड्डियों का ढांचा। झुरि=सूखकर।

नोट

संदर्भ—इससे पूर्ववर्ती खण्डों में कवि ने रत्नसेन और पद्मावती संबंधी वृत्तान्त का चित्रण किया है। प्रस्तुत खण्ड में वह कथानक को चित्तौड़ की ओर मोड़ता है और विरहिणी नागमती की विरहावस्था का वर्णन करता है।

व्याख्या—कवि कहता है कि उधर चित्तौड़ में नागमती रत्नसेन के प्रत्यागमन के मार्ग की ओर देखती हुई उसके लौटने की प्रतीक्षा करती रहती थी और सोचती रहती थी कि मेरे प्रियतम यहां से एक बार क्या गए कि उन्होंने लौटकर आने का नाम तक नहीं लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी चतुर नारी के वशीभूत हो गए हैं और उसने उनको मोहित करके, उनके हृदय को मेरी ओर से अपहृत कर लिया है— उनके हृदय से मुझको भुलाकर, उनके हृदय में वह स्वयं बस गई है। वह तोता (हीरामन) मेरे लिए काल तुल्य बनकर मेरे प्रियतम को मुझसे विलग करके अपने साथ लिवा गया है। उस तोते को मेरे प्रियतम को नहीं ले जाना चाहिए था चाहे उसके स्थान पर वह मेरी जान ले लेता। वह तोता तो मेरे प्रति उसी प्रकार छली सिद्ध हुआ है, जैसे राजा बलि के साथ वामन ने छल किया था (उनको स्वर्ग के स्थान पर पाताल भेज दिया था)। उसने इन्द्र की भांति छल करते हुए कर्ण से उसके अमोघ बाणों को छलपूर्वक लेने के तुल्य मेरे पति को छलपूर्वक विमुक्त किया है और जैसे महाभारत के युद्ध में कर्ण को संत्रस्त देखकर इन्द्र प्रसन्न हुआ था, वह भी उसी प्रकार प्रसन्न हो रहा होगा। राजा गोपीचन्द्र राजसी वैभवों के उपभोग में निमग्न रहते थे, किन्तु जिस प्रकार उनको जालधर योगी अपने साथ लिवा ले गए थे, उसी प्रकार राजसी भोगों में लिप्त मेरे प्राणेश्वर को हीरामन लिवा ले गया है। वह तोता मेरे प्रियतम को अपने साथ ले जाकर उसी प्रकार विलुप्त हो गया है, जैसे श्रीकृष्ण को अक्रूर अपने साथ मथुरा ले गए थे और अब मुझ विरहिणी का जीवित रहना उसी प्रकार दुष्कर हो गया है, जैसे कृष्ण के वियोग में गोपियों का जीवन दूभर हो गया था।

नागमती अंतर्विलाप-सा करते हुए कहने लगी कि अरे तोते! तूने हमारी सारसों जैसी जोड़ी को भंग किया है, इससे अच्छा तो यह रहता कि तू खड्ग द्वारा मेरी हत्या कर देता। अब तो मेरी काया में ऐसी विरहाग्नि सुलगी रहती है कि उसमें जलकर मेरा शरीर झूर-झूर हो उठा है। उसमें रंचमात्र भी सत्त्व नहीं बचा है।

साहित्यिक सौन्दर्य — 1. बावन करा— एक पौराणिक कथा के अनुसार राजा बलि महादानी थे और उन्होंने स्वर्ग का राज्य प्राप्त करने की कामना से 99 यज्ञ पूर्ण कर लिए थे। यदि उनका एक यज्ञ और निर्विघ्न पूरा हो जाता तो वे स्वर्ग के राजा बन जाते। देवताओं में इस तथ्य को लेकर खलबली मच गई क्योंकि राजा बलि का दैत्य-कुल से सम्बन्ध था। देवों द्वारा प्रार्थना किए जाने पर विष्णु ने वामन का रूप धारण करके राजा बलि से ढाई पग भूमि की मांग की थी और राजा बलि द्वारा इस मांग को स्वीकार कर लेने पर एक कदम में आकाश, दूसरे में पाताल को नाप लिया था। उनका तीसरा कदम सम्पूर्ण पृथ्वी से बढ़कर था अतः राजा बलि स्वयं भी लेट गए थे कि आप मेरे शरीर को भी नापकर अपना कदम पूरा कीजिए। इस प्रकार विष्णु ने राजा बलि के साथ छल करके बलि को पाताल का राजा बना दिया था। इस विषय में एक कहावत भी प्रसिद्ध है।

“मन चाही ना होति है प्रभु चाही तत्काल।

बलि चाहा था स्वर्ग को भेजि दिया पाताल।”

2. करन बान लीन्हेउ के छंदू— महाभारत संबंधी एक प्रसंग के अनुसार सूर्य-पुत्र कर्ण का जन्म दिव्य कवच और कुंडलों के साथ हुआ था। इसके साथ ही उसके पास पांच अमोघ बाण भी थे जिनसे कर्ण दुर्योधन की ओर से युद्ध करते हुए पांचों पांडव-भ्राताओं को मारना चाहता था। अर्जुन के पिता इन्द्र इस बात को सोचकर बड़े दुःखी थे और उन्होंने अंततः छल का आश्रय लिया कि एक ब्राह्मण के वेश में कर्ण से उसके कवच-कुंडल और अमोघ बाणों को दान के रूप में मांग लिया और महादानी कर्ण ने इन वस्तुओं को प्राणधिक मूल्यवान् होते हुए भी इन्द्र को सौंप दिया। दान के भार से इन्द्र का रथ जब आकाश की ओर नहीं उड़ सका तो इन्द्र को एक अमोघ बाण कर्ण को देने के लिए विवश होना पड़ा। कर्ण संतुष्ट था कि इस बाण से मैं अपने प्रमुख प्रतिद्वन्दी अर्जुन की हत्या कर दूंगा, किन्तु श्रीकृष्ण की चाल के कारण कर्ण को अपने इस अमोघ बाण को भी भीमसेन और हिडिम्बा के पुत्र घटोत्कच पर छोड़ने को विवश होना पड़ा था और वह स्वयं अर्जुन के हाथों मारा गया था। नागमती का अभिप्राय यह है कि मेरे पति का महत्व मेरे लिए उसी प्रकार प्राणधिक था, जैसे कर्ण के लिए उसके बाणों और कवच का था।

साहित्यिक सौन्दर्य — दृष्टांत और रूपक अलंकार।

पिउ बियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा तस बोले पिउ पीऊ। 1।

अधिक काम दगधै सो रामा। हरि जिउ लै सो गएउ पिय नामा। 2।

बिरह बान तस लाग न डोली। रक्त पसीज भीजि तन चोली। 3।
 सखि हिय हेरि हाथ मैन मारी। हहरि परान तजै अब नारी। 4।
 खिन एक आव पेट मंह स्वांसा। खिनहि जाइ सब होइ निरासा। 5।
 पौनु डोलावहिं सींचहिं चोला। पहरक समुझि नारि मुख बोला। 6।
 प्रान पयान होत केइं राखा। को मिलाव चारित्र कै भाखा। 7।
 आह जो मारी बिरह की आगि उठी तेहि हांक।
 हंस जो रहा सरीर मंह पांख जरे तन थाक ॥30/2॥

शब्दार्थ – बाउर=बावला। तस=उस प्रकार। दगधै=जलाता। रामा=स्त्री। मैन=कामदेव। हहरि=हाथ छोड़कर।
 खिन=क्षण। पहरक=एक पहर। समुझि=होश में आकर। पयान=गमन। चारित्रि=चातकी।

संदर्भ—नागमती की वियोगावस्था का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कवि कहता है कि अपने प्राणेश्वर के वियोग में पद्मावती बावली-सी हो गई और उसके मुख से सदैव पपीहे की भांति पिउ-पिउ की ध्वनि निकलती रहती थी। उस रमणी को काम अत्यधिक प्रपीड़ित करने लगा। हीरामन मानों उसके प्रियतम के रूप में उसके प्राणों को ही अपहृत कर ले गया था। उसे ऐसा विरह-रूपी बाण लगा हुआ था कि वह हिल-डुल भी नहीं सकती थी और रक्त के पसीजने के कारण उसकी चोली सदैव गीली रहती थी। उसको देखकर सखियां सोचने लगीं कि अब यह नारी कामदेव द्वारा परास्त की जा चुकी है— इस पर कामदेव ने विजय प्राप्त कर ली है और कांप-कांपकर अपने प्राण छोड़ देगी। उसे एक क्षण के लिए श्वास आता था और उसके उदर में स्पन्दन होता था, किन्तु क्षण भर में ही वह श्वास निकल जाता था जिससे उसकी समस्त सखियां निराश हो उठती थीं। उसको बेहोश हुई देखकर सखियां उस पर पंखे से हवा करते हुए, उसकी चोली पर जल छिड़कने लगीं, तब कहीं जाकर एक प्रहर के बाद नागमती कुछ सचेत हुई और यह समझते हुए कि मैं अपनी परेशान सखियों से घिरी हुई हूं, उसके मुख से कुछ शब्द निकले। वह कहने लगी कि अपने प्राणेश्वर के वियोग में मेरे उड़ते हुए प्राण-पखेरुओं को किसने और क्यों उड़ने से रोक दिया है। अब मुझ चातकी का स्वप्रियतम-रूपी मेघ से कौन सम्मिलन करायेगा?

कवि कहता है कि विरहिणी नागमती ने जब आह भरी तो उसकी आह के साथ-साथ आग निकलने लगी। उस विरहाग्नि के कारण नागमती के शरीर में जीव रूपी जो हंस विद्यमान था उसके पंख जल उठे जिससे वह उड़ नहीं सका— उसका आत्मा-रूपी हंस पंख जल जाने के कारण उड़ने में असमर्थ होकर उसके शरीर में ही रह गया।

साहित्यिक सौन्दर्य – उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा अलंकार।

पाट महादेइ हिणं न हारू। समुझि जीउ चित चेतु संभारू। 1।
 भंवर कंवल संग होइ न परावा। संवरि नेह मालति पंह आवा। 2।
 पीउ सेवाति सौं जैस पिरीती। टेकु पियास बांधु जिय थीती। 3।
 धरती जैस गंगन के नेहा। पलटि भरै बरखा रितु मेहा। 4।
 पुनि बसंत रितु आव नवेली। सो रस सो मधुकर सो बेली। 5।
 जनि अस जीउ करसि तूं नारी। दहि तरिवर पुनि उठहिं संभारी। 6।
 दिन दस जल सूखा का नंसा। पुनि सोइ सरवर सोई हंसा। 7।
 मिलहिं जो बिछुरै साजना गहि गहि भेंट गहंत।
 तपनि मिरगिसिरा जे सहहिं अद्रा ते पलुहंत ॥30/3॥

शब्दार्थ—पाट महादेई=महारानी की पदवी वाली पटरानी। चेतु संभारू= होश सम्हाला। परावा=दूसरा। संवरि नेह=प्रेम का स्मरण करके। सेवाति=स्वाति नक्षत्र। पिरीती=प्रेम। टेकु=आश्रम। थीति=स्थिति। पियास=पिपासा, प्रियतम की आशा। जिय थीती=जीवन रूपी धरोहर। नेहा=प्रेम। मेहा=वर्षा। जनि=नहीं। सरवर=सरोवर। दहि=जलकर। गहंत=ग्रहण करना। मिरगिसिरा=मृगशिरा नामक नक्षत्र। अद्रा= आर्द्रा नामक नक्षत्र। पलुहंत=पल्लवित, हरे-भरे। नंसा=नाश।

संदर्भ—नागमती की विरह अनुभूतियों का वर्णन किया गया है।

नोट

व्याख्या—नागमती को समाश्वासन देते हुए उसकी सखियां कहने लगीं कि हे रानी। आप इस प्रकार हिम्मत मत हारिए अपितु हृदय में सोच-विचार कर अपने चैतन्य की रक्षा कीजिए अर्थात् अपने होश-हवास मत खोइये। हे महारानी! आप यह विश्वास रखिए कि जिस प्रकार भ्रमर कमल के समीप जाकर भी अंततः मालती के प्रेम का स्मरण करके उसके समीप लौट आता है उसी प्रकार आपके प्राणेश्वर भी पद्मावती-रूपी कमल के पास जाकर भी अंततः आपके समीप लौट आएंगे। सुप्राणेश्वर रूपी स्वाति-नक्षत्र के प्रति आपका जैसा दृढ़ प्रेम-भाव है, उसको ध्यान में रखते हुए अपनी काम-पिपासा को वशवर्तिनी रखिए, और प्रियतम के लौटने की आशा का सहारा लेकर अपने हृदय में धैर्य धारण रखिए। जिस प्रकार पृथ्वी आकाश के प्रेम भाव में निमग्न रहती है तो आकाश उसको वर्षा ऋतु में जल से ओत-प्रोत कर देता है— उस पर स्नेह की वर्षा करता है, उसी प्रकार तुम भी अंततः स्व-पति का स्नेह प्राप्त करोगी। इसी प्रकार तुम्हारे जीवन में पुनः वही वसन्त ऋतु आएगी, जिसमें समस्त प्रकार के सुख-भोग, होंगे, और तुम्हारे पति-रूप भ्रमर द्वारा लता-रूप तुम्हारा मकरन्द पान किया जाएगा। हे महारानी! आप अपना हृदय इस प्रकार क्यों दुखी और खट्टा कर रही हैं। आप यह सोचकर धैर्य क्यों नहीं धरा करतीं कि ग्रीष्म ऋतु में दग्ध हुए वृक्ष वसन्त ऋतु के आगमन से पुनः हरे हो उठते हैं— उनमें नयी नयी कोंपल फूट पड़ती हैं। यदि दस दिवस तक जल सूख भी जाता है, अर्थात् यदि आपका स्व-पति से कुछ दिनों के लिए मिलन नहीं भी हो पाता है, तो क्या हुआ, क्योंकि बाद में तो वही सरोवर और वे ही हंस होंगे अर्थात् तुम्हारा मिलन होकर ही रहेगा।

हे महारानी आप इस तथ्य को भी विस्मृत मत कीजिए कि वियोग के पश्चात् मिलन की आशा बहुत अधिक बढ़ जाया करती है और बिछुड़े हुए पति बड़े ही उल्लासपूर्वक मिलते और आलिंगन करते हैं— वे ही आर्द्रा नक्षत्र की घोर वर्षा में पल्लवित पुष्पित हुआ करते हैं— उन्हीं पर पति-प्रेम की घोर वर्षा हुआ करती है।

साहित्यिक सौन्दर्य— रूपक, अर्थान्तरन्यास और उपमा अलंकार।

चढ़ा असाढ़ गंगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा। 1।

धूम स्याम धौरे घघ धाए। सेत धुजा बगु-पांति देखाए। 2।

खरग बीज चमक चहुं ओरा। बुद बान बरिसै घन घोरा। 3।

अद्रा लाग बीज भुइं लेई। मोहि पिय बिनु को आदर देई। 4।

ओनै घटा आई चहुं फेरी। कंत उबारु मदन हौ घरी। 5।

दादुर मोर कोकिला पीऊ। करहिं बेझ घूट रहै न जीऊ। 6।

पुख नखत्र सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नादं मंदिर को छावा। 7।

जिन्ह घर कंता ते सुखी तिन्ह गारौ तिन्ह गर्ब।

कंत पियारा बाहिरें हम सुख भूला सर्व॥ 30/4॥

शब्दार्थ—गाजा=गरजने लगे। दुंद=युद्ध। धूम=धुंए के रंग के। धौरे=श्वेत। धुजा=ध्वजा। बगु=बगुला। बीज=बिजली। ओनै=झुक आई, उमड़ उठी। फेरी=ओर। उबारु=रक्षा करो। दादुर=मेढक। बेझ=वेध, निशाना लगाना। पुख=पुष्प, नक्षत्र। नांह=पति। मन्दिर=भवन। गारौं= गौरव।

संदर्भ—नागमती की विरहावस्था का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—आषाढ़ का महीना आया तो आकाश में बादलों की गर्जन होने लगी, जो नागमती को ऐसी प्रतीत हुई कि विरह ने युद्ध की तैयारी की है और उसकी सेना ने कूच का नगाड़ा बजाया है। धुमैले, काले और भूरे रंग के बादल आकाश में दौड़ने लगे और उनमें उड़ती हुई बगुलों की पंक्तियां उनकी ध्वजाओं जैसी प्रतीत होने लगीं। खड्ग रूपी बिजली चारों ओर चमकने लगी और वर्षा की बूंद रूपी बाणों की घनघोर वर्षा होने लगी। आर्द्रा नक्षत्र के लगते ही बिजली चमककर भूमि को छूने लगी। नागमती सोचने लगी कि ऐसे विरहोत्तेजक वातावरण में प्रियतम की अनुपस्थिति में मुझको कौन समादर देगा— अर्थात् मेरी कुछ भी पूछ नहीं रही है जबकि पति के यहां होने पर ऐसे उन्मादक वातावरण में वे अवश्य ही काम के लिए मेरी मनुहार करते। चारों ओर उमड़ी हुई घटाएं पृथ्वी पर झुकी-सी प्रतीत होती हैं, जिन्हें देखकर मेरी कामोत्तेजना और भी अधिक बढ़ उठी है। हे प्राणनाथ! आप शीघ्र ही आकर मेरी रक्षा कीजिए क्योंकि मुझको कामदेव की सेना ने घेरा हुआ है। मेढक, मयूर और कोयल के शब्द तो मुझे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो मेरे हृदय को बेधे डाल रहे हैं, और मेरे प्राण निकले जा रहे हैं। अब तो पुष्प नखत्र सिर पर आ गया

नोट

है जो इस बात का द्योतक है कि और अधिक वर्षा होगी। मेरे तो पति भी यहां नहीं हैं अतः मेरे भवन पर छप्पर कौन छवाएगा।

स्व-प्रियतम की स्मृति में निमग्न होते हुए नागमती रुदन करने लगी कि हे प्राणेश्वर जिन स्त्रियों के पति उनके घर में हैं वे गर्व और गौरव की भावना से अभिभूत हैं, जबकि आपके परदेश में होने के कारण मेरा पति-प्रेम संबंधी गर्व और गौरव तो मिट्टी में मिल ही गया है, मैं अपने समस्त प्रकार के सुखों को भी भूल चुकी हूं।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. जायसी के वियोग-वर्णन की यह विशेषता ही कही जाएगी कि उनकी नागमती अपने रानीपन को भूलकर किसी सामान्य नारी की भांति यह कहकर विषादमग्न हो उठती है कि इस घोर वर्षा-काल में, पति की अनुपस्थिति में मेरे भवन पर कौन छप्पर डालेगा।

2. सांगरूपक अलंकार।

सावन बरिस मेह अति पानी। भरनि भरई हौं बिरह झुरानी। 1।

लागु पुनर्वसु पीउ न देखा। भै बाउरि कहं कंत सरेखा। 2।

रक्त क आंसु परे भुईं टूटी। रेंगि चली जनु बीर बहूटी। 3।

सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियर भुईं कुसुंभि तन चोला। 4।

हिय हिंडोल जस डोलै मोरा। बिरह झुलावै देइ झंकोरा। 5।

बाट असूझ अथाह गंभीरा। जिउ बाउर भा भवै भंभीरा। 6।

जग जल बूड़ि जहां लगि ताकी। मोर नाव खेवक बिनु थाकी। 7।

परबत समुंद अगम बिच बन बेहड़ घन ढंख।

किमि करि भेटौं कंत तोहि ना मोहि पावं न पंख ॥30/5॥

शब्दार्थ—अति पानी=अत्यधिक। भरनि=मूसलाधार वृष्टि। पुनर्वसु=नक्षत्र, विशेष। बाउरि=बावली। सरेखा=समान। रक्त=रुधिर। असूझ=जहां कुछ दिखाई न दे। ताकी=देखना। खेवक=मल्लाह। बूड़ि=डूबना। ढंख=ढाक। किमि करि=किस प्रकार। बेहड़=कठिन।

संदर्भ—बारहमास-वर्णन में नागमती की विरहावस्था का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—बारहमास-वर्णन के अंतर्गत विरहिणी नागमती की विरहावस्था का वर्णन करते हुए जायसी कहते हैं कि सावन के महीने में जोरदार वर्षा होने लगी। एक ओर तो मूसलाधार वृष्टि हो रही थी जबकि बेचारी नागमती विरहाग्नि में झूलसती जा रही थी। नागमती सोचने लगी कि पुनर्वसु नामक नक्षत्र लग गया है किन्तु मैं अब तक स्व-पति के दर्शन प्राप्त करने में असफल रही हूं। यह सोच-सोचकर मैं बावली हो चुकी हूं कि न जाने मेरे चतुर प्रियतम कहां रह रहे हैं— अथवा यह कि प्रियतम के समान और कौन सुखदायक हो सकता है। मेरे नेत्रों से रक्त के आंसू भूमि पर टूट-टूटकर गिरते रहते हैं, जो ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो बीर बहूटियां रेंग रही हों। मेरी सखियों ने अपने-अपने प्रियतमों के साथ हिंडोले डाले हुए हैं। वसुन्धरा पर चारों ओर हरितिमा छाई हुई है जबकि उन्होंने भी कुसुम्भी रंग के चोले धारण किए हुए हैं। सखियों को अपने प्रियतमों के साथ हिंडोलों पर झूलते देखकर मेरा हृदय भी विरह-भाव के हिंडोले पर झूमने लगता है और विरह मुझको झोंटे और झंकोरे देता हुआ इस झूले पर झुला रहा है। झंकोर-झंकोर कर झुला रहा है। झूलने वाले को ठीक प्रकार से झोंटे न देकर इस प्रकार के झोंटे देना कि वह झूले से गिर जाए झंकोरे देना कहलाता है। मुझे अपने पति से सम्मिलन का मार्ग बड़ा ही असूझ, अथाह और अत्यधिक गंभीर लग रहा है और मेरा हृदय बावला होकर भंभीरी की भांति घूम रहा है। जहां तक भी पृथ्वी दिखाई पड़ती है, वह जल में डूबी हुई है। ऐसे घनघोर-वर्षा काल में जहां चारों ओर पानी-ही-पानी दृष्टिगत होता है मेरी जीवन रूपी नौका को पार लगाने वाला मल्लाह, पति के अभाव में और कौन हो सकता है।

स्व-प्रियतम को संबोधित करती हुई नागमती कहने लगी कि हे प्राणनाथ मेरे और तुम्हारे मध्य अनेक अगम्य पर्वत और समुद्र तथा बीहड़ वनों और सघन ढाक के वनों का अन्तराल (दूरी) है। मैं आपसे कैसे आकर मिलूं क्योंकि न तो मेरे पैर ही हैं और न पंख ही हैं जिनकी सहायता से मैं उड़कर आपसे आ मिलूं।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. दोहे में व्यक्त विरह-भाव बड़ा ही मार्मिक और करुणोत्तेजक है।

2. 'भरनि झुरानी' में विरोधाभास अलंकार।

नोट

3. 'रेंगि बहूटी' में उत्प्रेक्षा अलंकार।

4. 'हिय मोरा' में उपमा अलंकार।

5. 'मोर थाकी' में रूपक अलंकार।

भर भादों दूभर अति भारी। कैसें भरों रैन अधियारी। 1।

मंदिल सून पिय अनतै बसा। सेज नाग भै धै धै डसा। 2।

रहों अकेलि गहें एक पाटी। नैन पसारि मरों हिय फाटी। 3।

चमकि बीज घन गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा। 4।

बरिसै मघा झंकोरि झंकोरी। मोर दुइ नैन चुवहिं जसि ओरी। 5।

पुरबा लाग पुहुमि जल पूरी। आक जवासा भई हों झूरी। 6।

धनि सूखी भर भादों माहां। अबहुं आइ न सींचति नाहां। 7।

जल थल भरे अपूरि सब गंगन धरति मिलि एक।

धनि जोबन औगाह मंह दे बूड़त पिय टेक ॥ 30/6 ॥

शब्दार्थ—दूभर=कठिन। रैन=रात्रि। मंदिल=भवन। अनतै=अन्यत्र। तरासा=त्रस्त करता है। ओरी=छप्पर के सिरे से टपकती बूंद। पुहुमि=पृथ्वी। मघा और पुरवा=नक्षत्रों के नाम हैं। नाहां=पति। औगाह=अवगाह, अगाध जल।

संदर्भ—वर्षा ऋतु में नागमती अपने प्राणनाथ का स्मरण कर रही है।

व्याख्या—विरहिणी नागमती के लिए भाद्र माह की झर की लड़ी अर्थात् निरन्तर वर्षा अतीव कष्टकर सिद्ध हो रही है। वह इस चिन्ता में दुःखी है कि इस महीने की अंधेरी रात्रियों को मैं कैसे व्यतीत करूं। मेरा गृह सुनसान है क्योंकि मेरे पति कहीं अन्यत्र रह रहे हैं। पति के वियोग के कारण मेरी शैया मुझ पर नागिन बन कर बार-बार काटने दौड़ती-सी प्रतीत होती है। हे प्राणनाथ! तुम्हारी अनुपस्थिति में मैं अपनी चारपाई अथवा पलंग की पाटी पकड़े पड़ी रहती हूं। आपके आने की प्रतीक्षा में मेरे नेत्र फटे के फटे रह जाते हैं जबकि मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हो उठता है। बार-बार बिजली चमकती है जबकि बादल अपनी गर्जना से मुझे त्रस्त करते हैं। विरह तो काल-रूप होकर मेरे जीवन को हड़पना चाहता है। मघा नक्षत्र में घनघोर वर्षा हो रही है— वर्षा के झोंके पर झोंके आते रहते हैं और मेरे नेत्रों से भी आसुओं की ऐसी झड़ी लगी रहती है, मानों ओलती टपक रही हो (वर्षा के उपरान्त छप्परों के सिरो से जो बूंदें टपकती रहती हैं उन्हें अलीगढ़ के समीपवर्ती भागों में ओलवाती कहते हैं) मघा नक्षत्र के बाद पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्र लग गया है, जिसमें और भी अधिक वर्षा होने के कारण पृथ्वी जल से परिपूर्ण हो उठी है। मेरा शरीर विरहाग्नि में उसी प्रकार सूखा जा रहा है जैसे वर्षा-काल में आक और जवासा सूख जाते हैं। हे नाथ आपकी स्त्री भरे भादों के महीने में सूखती जा रही है आप अब भी आकर इसको सींचते क्यों नहीं हो— इसे अपनी उपस्थिति-रूपी जल से सूखने से बचा लीजिए।

हे प्राणेश्वर! भर-भादों के महीने में इतनी घनघोर वर्षा हुई कि चारों ओर जल ही दिखाई पड़ता है तथा पृथ्वी और आकाश मिलकर एक हो गए हैं। आपकी प्रियतमा यौवन-रूपी अगाध जल में डूबती जा रही है, आप इस डूबती को शीघ्र ही आकर सहारा क्यों नहीं देते।

साहित्यिक सौन्दर्य — 1. वर्षा-ऋतु में आक और जवासे के पत्रहीन हो जाने का अर्थात् सूखने का वर्णन गोस्वामी तुलसीदास ने भी किया है।

“अर्क जवासा पात बिन भयऊ।”

2. पुनरुक्ति, विरोधाभास अलंकार।

लाग कुआर नीर जग घटा। अबहुं आउ पिउ परभुमि लटा। 1।

तोहि देखे पिउ पलहै काया। उतरा चित्त फेरि करु माया। 2।

उए अगस्ति हस्ति घन गाजा। तुरै पलानि चढ़े रन राजा। 3।

चित्रा भिंत मीन घर आवा। कोकिल पीउ पुकारत पावा। 4।

स्वाति बूंद चातिक मुख परे। सीप समुंद्र मोति लै भरे। 5।

सरवर संवरि हंस चलि आए। सारस कुरुरहिं खंजन देखाए। 6।

भए अवगास कास बने फूले। कतं न फिरे बिदेसहि भूले। 7।

बिरह हस्ति तन सालै खाइ करै तन चूर।

बेगि आइ पिय बाजहु गाजहु होइ सदूर ॥ 30/7 ॥

शब्दार्थ – परभूमि=दूसरे देश में। लटा=अनुरक्त। पलुहै=पुष्पित। माया=दया। उए=निकलने पर। हस्ति=हाथी। तुरै=घोड़ा। पलानि=भाग गए। अवगास=स्थान, मैदान। सालै=कष्ट देता है। बाजहु=गरजो। सदूर=सिंह।

संदर्भ—कुवार के महीने में विरहिणी नागमती की हृदयगत भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है।

व्याख्या—कवि वर्णन करता है कि अब कुवार का महीना लग गया और जगत से पानी की मात्रा कुछ कम हो गई तो विरहिणी नागमती कातर स्वर में याचना करने लगी कि अरे मेरे परदेशी प्रियतम! तुम अब भी लौट आओ। हे प्राणेश्वर! मेरा यह सूखकर अस्थिपंजर मात्र शरीर आपको देखकर ही पुनःहरा-भरा हो उठेगा। आपका मेरी ओर से इस प्रकार मन क्यों फिर गया है, आप मुझ पर पुनः अनुकम्पा कीजिए। अगस्त्य तारे के उदय होने पर हस्ति नक्षत्र मेघ-गर्जन करने लगा है अथवा मेघरूपी हाथी गर्जने लगे हैं और राजाओं ने अपने अश्वों पर सवार होकर युद्धों की तैयारी कर दी हैं— भाव यह है कि अब तो आने-जाने के मार्ग खुल गए हैं, अतः यदि आप वर्षा के जल के कारण नहीं आ पा रहे थे तो अब तो आ जाइए। हे प्राणेश्वर अब तो चित्रा नक्षत्र का स्वामी(मित्र) चन्द्रमा मीन राशि में आ गया है तथा कोयल भी पिउ-पिउ पुकारती हुई अपने स्वामी को पुकारती हुई उसको प्राप्त कर चुकी है— भाव यह है कि जब चित्रा का सम्मिलन चन्द्रमा से और कोयल का सम्मिलन अपने प्रियतम से हो चुका है तो फिर आप भी मुझसे आकर क्यों नहीं मिलते। यही नहीं चातक के मुख में भी स्वाति-नक्षत्र की बूंदें पड़ गई हैं और सीपी का मुख भी स्वाति-नक्षत्र की बूंदें पड़ने के कारण मोती से भर गया है। पुराने सरोवरों को याद करते हुए वे हंस पुनः उन सरोवरों में लौट आए हैं जो वर्षाकाल में उनको छोड़ गए थे। सारस के जोड़े कुलेलें करने लगे हैं जबकि खंजन पक्षियों के भी जोड़े दिखाई पड़ने लगे हैं। जब सभी ओर मिलन की व्याप्ति है तो फिर आप भी आकर मुझसे क्यों नहीं मिलते हो। सभी ओर मैदानों में कास के वन फूल उठे हैं, फिर भी न जाने मेरे पति विदेश में रहते हुए मुझको भूलकर अभी तक क्यों नहीं लौटे हैं।

हे प्राणनाथ! विरह-रूपी हाथी मेरे शरीर को चूर-चूर करके कष्ट दे रहा है। आप शीघ्र ही शार्दूल के रूप में मेरे समीप आकर गर्जना क्यों नहीं करते, जिससे मुझे विरह-रूपी हाथी से छुटकारा मिल सके— शार्दूल-रूपी आपके आते ही विरह-रूपी हाथी डरकर पलायन कर जाएगा।

साहित्यिक सौन्दर्य – सांगरूपक अलंकार।

कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल हौं बिरहैं जारी। 1।

चौदह करा कीन्ह परगासू। जानहूँ जरें सब धरति अकासू। 2।

तन मन सेज करै अगिडाहू। सब कहं चांद मोहिं होइ राहू। 3।

चहूँ खंड लागै अंधियारा। जौं घर नाहिंन कंत पियारा। 4।

अबहुं निदुर आव एहि बारा। परब देवारी होइ संसारा। 5।

सखि झूमक गावहिं अंग मोरी। हौं झूरौं बिछुरी जेहि जोरी। 6।

जेहि घर पिउ सो मुनिवरा पूजा। मो कहं बिरह सवति दुख दूजा। 7।

सखि मानहिं तेवहार सब गाइ देवारी खेलि।

हौं का खेलौं कंत बिनु तेहिं रही छार सिर मेलि ॥ 30/8 ॥

शब्दार्थ – जारी=जलना। करा=कला। अकासू=आकाश। परगासू=प्रकाश। अगिडाहू=अग्निदाह। नाहिंन=नहीं है। झूमक=एक गीत विशेष। अंग मोरी=अंगों को मोड़कर। बिछुरी=बिछुड़ी। सवति=सौत। मानहिं=मानती है। छार सिर मेलि=सिर में धूल डाल रही हूँ।

संदर्भ—नागमती के विरह का वर्णन किया गया है।

नोट

व्याख्या—कार्तिक के महीने में दिवाली के त्यौहार पर नागमती की विरह-व्यथा के और भी बढ़ जाने का वर्णन करते हुए कवि कहता है कार्तिक के महीने में शरद-चन्द्र की उज्ज्वलता अर्थात् चांदनी व्याप्त रहने लगी। विरहाकुल नागमती सोचती है कि एक ओर तो समस्त जगत में शीतलता परिव्याप्त है जबकि मैं विरह-अग्नि में झुलसी जा रही हूँ। चन्द्रमा अपनी चौदह-कलाओं से युक्त होकर चमक रहा है, किन्तु मुझे ऐसी अनुभूति होती है मानो चन्द्रमा की चांदनी में पृथ्वी और आकाश दग्ध हो रहे हैं। मेरे शरीर, अंतर्मन और शैया सभी में अग्निदाह-सा प्रतीत होता है। सारे संसार को ही चन्द्रमा की सुशीतलता आनन्दकर है जबकि मुझको राहू के समान कष्टकर सिद्ध हो रही है। मुझे तो चारों ही खंडों में अंधकार छाया लगता है, क्योंकि मेरे प्राणेश्वर गृह में विद्यमान नहीं हैं। अरे निष्ठुर प्रियतम! तुम अब भी एक बार लौटकर आ जाओ। क्योंकि सम्पूर्ण जगत् में दिवाली का त्यौहार मनाया जा रहा है। मेरी समस्त सखियां अपने अंगों को मरोड़ती हुई उल्लासपूर्वक झूमक गा रही हैं, क्योंकि मेरी जोड़ी बिछुड़ी होने के कारण, प्रियतम से बिछोह के कारण मैं आनन्दित होने के स्थान पर विरह में झुलसती-झुरती रहती हूँ। जिन नारियों के गृह में उनके पति हैं वे मुनियों की पूजा कर रही हैं जबकि मेरे अंतर्मन में दुहरे कष्ट साल रहे हैं— एक ओर तो मुझको प्रियतम से बिछोह का दुःख मारे डालता है। जबकि उसके साथ ही सपत्नी (सौत) का दुःख तो मुझे मारे ही डाल रहा है।

मेरी समस्त सखियां (तथा अन्य नारियां) हंसते-खेलते हुए दिवाली का त्यौहार मना रही हैं, जबकि अपने प्रियतम के अभाव में मैं इस प्रकार की खुशियां कैसे मना सकती हूँ, अतः अपने सिर में धूल डाल रही हूँ— मेरा दुःख पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ है क्योंकि तभी व्यक्ति ऐसा आचरण करता है।

साहित्यिक सौन्दर्य — उत्प्रेक्षा और उपमा अलंकार।

अगहन देवस घटा निसि बाढ़ी। दूभर दुख सो जाइ किमि काढ़ी।।।

अब धनि देवस बिरह भा राती। जरै बिरह ज्यों दीपक बाती।२।

कांपा हिया जनावा सीऊ। तौ पै जाइ होइ संग पीऊ।३।

घर घर चीर रचा सब काहूँ। मोर रूप रंग लै गा नाहूँ।४।

पलटि न बहुरा गा जो बिछोई। अबहूँ फिरै, फिरै रंग सोई।५।

सियरि अगिनि बिरहिनि हिय जारा। सुलगि सुलगि दगधै भै छारा।६।

यह दुख दगध न जानै कंतू। जोबन जरम करै भसमंतू।७।

पिय सौं कहेहूँ संदेसरा ऐ भंवरा ऐ काग।

सो धनि बिरहें जरि गई तेहिक धुआं हम लाग ॥३०/९॥

शब्दार्थ—दूभर=कठिन। किमि=कैसे। काढ़ी=निकालना, दूर करना। देवस=दिन। हिया=हृदय। पीऊ=पति। पलटि न बहुरा=लौटकर नहीं आया। सियरि=ठंडी। सीऊ=सीत। बहुरा=लौटा।

संदर्भ—नागमती की विरहाकुल मनोव्यथा का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—अगहन के महीने में जब दिन छोटे और रातें लम्बी हो गईं तो विरहिनी नागमती की व्यथा और भी अधिक बढ़ गई क्योंकि वह समझ नहीं पाती थी कि पति के विछोह के असह्य दुःख को कैसे दूर किया जाए— लम्बी रातों का काटना उसके लिए और भी अधिक कष्टकर हो गया था। अब तो विरह के कारण नागमती को दिवस भी रात्रि जैसा कष्ट कर प्रतीत होता था और वह वियोग में दीपक की वर्तिका की तरह तिल-तिल करके जलती रहती थी। शीत के कारण उसका हृदय विकंपित रहने लगा था और यह कम्प तभी दूर हो सकता था जबकि उसके प्राणेश्वर उसके समीप होते। प्रत्येक घर में नारियों ने शरद काल के अनुरूप नए-नए वस्त्रों की रचना कर ली थी, किन्तु नागमती ऐसा भी नहीं कर सकी क्योंकि वह सोचती थी कि मेरे तो रूप और रंग को मेरे प्राणेश्वर ही अपने साथ ले गए हैं— भाव यह है कि उसकी खाने-पहनने की ओर अभिरुचि ही नहीं रह गई थी। वह बार-बार सोचती थी कि मेरे पति यहां से किसी ऐसी अशुभ घड़ी में गए हैं कि एक बार जाकर उन्होंने लौटने का नाम तक नहीं लिया है। यदि वे अब भी लौट आएंगे, तो सुहावने दिवस लौट आएंगे। शीत आग बनकर उस विरहिणी के अंतर्मन को निरन्तर दग्ध करता रहता था और वह विरहाग्नि में सुलग कर जलकर राख हो चुकी थी। उसके अंतर्मन में टीस थी कि मेरी विरहावस्था के दुःख से मेरे प्रियतम सर्वथा अनभिज्ञ हैं और उसकी इस अज्ञानता के कारण ही मेरा यौवन और जीवन जलकर भस्म होते जा रहे हैं— निस्तार होते जा रहे हैं।

विरहिणी नागमती भ्रमर और कागों को संबोधित करते हुए कहने लगी कि हे भ्रमरों! अरे कागों! तुम मेरे प्रियतम के समीप पहुंचकर उन्हें यह संदेश (सूचना) पहुंचा देना कि आपकी प्रियतमा वियोगाग्नि में दग्ध हो-होकर मर गई है, और उसका धुआं लगने के कारण ही हमारे शरीर काले पड़ गए हैं।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. प्रस्तुत पंक्तियों के अन्त में नियोजित दोहे की आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि समीक्षकों ने मुक्त-कंठ से सराहना की है, क्योंकि इसमें विरहिणी नायिका की मनोव्यथा साकार हो उठी है।

2. नागमती के शरीर में लगी विरहाग्नि के धुएं से भ्रमरों और कागों का काला होना इस तथ्य का व्यंजक है कि वह विरहाग्नि में शीघ्र ही जलकर विरहयातना से छुटकारा नहीं पा गई है अपितु लम्बे अंतराल तक घुट-घुट कर, सुलग-सुलग कर जलती रहती है। धुआं तभी तक अधिक निकला करता है जब तक आग भभक कर जल नहीं उठती।

3. विरोधाभास और हेतुप्रेक्षा अलंकार।

पूस जाड़ धरथर तन कांपा। सुरुज जड़ाइ लंक दिसि तापा। 1।

बिरह बाढ़ि भा दारुन सीऊ। कंपि कंपि मरौं लेहि हरि जीऊ। 2।

कंत कहां हौं लागौं हियरें। पंथ अपार सूझ नहि नियरें। 3।

सौर सुपेती आवै जूड़ी। जानहुं सेज हिवंचल बूड़ी। 4।

चकई निसि बिछुरै दिन मिला। हौं निसि बासर बिरह कोकिला। 5।

रैन अकेलि साथ नहि सखी। कैसैं जिऔं बिछोही पंखी। 6।

बिरह सैचान भवै तन चाड़ा। जीयत खाइ मुएं नहिं छाड़ा। 7।

रक्त ढरा मांसू गरा हाड़ मए सब संख।

धनि सारस होइ ररि मुई आइ समेटहु पंख ॥30/10॥

शब्दार्थ—सुरुज=सूर्य। जड़ाइ=जाड़े से पीड़ित होकर। हियरें=हृदय से। नियरें=समीप। हिवंचल=हिमाचल, बर्फ में। बूड़ी=डूबी। बासर=दिन। पंखी=पक्षिणी, चिड़िया। सैचान=बाज। भवै=चक्कर काटता हैं। मुएं=मरने पर। चाड़ा=भयंकर। ढरा=ढल गया। गरा=गल गया। ररि मुई=मर गई है।

संदर्भ—विगत छन्द की भांति प्रस्तुत पंक्तियाँ भी जायसी के वियोग वर्णन की बड़ी ही मार्मिक पंक्तियाँ हैं, जिनमें विरहिणी नागमती की पूस के महीने में होने वाली दुर्दशा का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कवि कहता है कि पूस के महीने में ठंडक इतनी अधिक बढ़ गई कि सभी नर-नारी धर-धर कांपने लगे। यही नहीं स्वयं सूर्य भी जाड़े से पीड़ित होकर लंका की ओर तापने लगा (आग सेकने को तापना कहते हैं) अर्थात् वह उत्तरायण से दक्षिणायन हो गया। बेचारी नागमती की विरह-व्यथा और भी बढ़ गई और उसको शीत भयंकर प्रतीत होने लगी। अपने प्रियतम को स्मरण करते हुए वह सोचने लगी कि उनके अभाव में मैं कांप-कांप कर मरी जा रही हूं और जाड़ा तो मेरी जान लेकर ही पीछा छोड़ेगा। हे प्राणनाथ! आप कहां हो? यदि आप यहां होते तो मैं आपके कंठ से लगकर इस मारक शीत से परित्राण पा सकती थी। आपके और मेरे मध्य तो असीम असूझ मार्ग की दूरी है, आप कहीं समीप भी तो नहीं हैं जिससे मैं ही आकर आपसे मिल लेती। मुझे तो अब ऐसी जूड़ी आने लगी है कि कई-कई रजाइयां ओढ़ने पर भी मेरे अंतर्मन का जाड़ा नहीं मिट पाता। अपनी शैया मुझे इतनी ठंडी प्रतीत होती है, मानों उसको बर्फ में डुबो दिया गया है। मुझसे तो चकई बहुत अच्छी होती है जो अपने प्रियतम से रात्रि को बिछुड़कर उससे प्रातःकाल मिल जाती है। इसके सर्वथा मैं अहिर्निशि आपके वियोग में कोयल की भांति तड़पती रहती हूं। रात्रि में मैं अकेली रह जाती हूं। मेरे साथ कोई सखी तक नहीं होती, ऐसी दशा में मैं वियोगिनी पक्षिणी क्योंकि जीवित रह सकती हूं? हे प्राणनाथ! विरह-रूपी भयंकर बाज मुझ पक्षिणी के चतुर्दिक चक्कर काट रहा है। यह मुझको जीवित ही खाना चाहता है और मरने पर तो मुझे किसी प्रकार भी नहीं छोड़ेगा।

सारस-सारसी की अटूट जोड़ी की भांति साथ निभाने की याचना करती हुई नागमती स्व-प्राणेश्वर को संबोधित करते हुए कहती है कि हे प्राणनाथ! मेरे शरीर का सम्पूर्ण रुधिर ढलक गया है। मेरे शरीरांगों का मांस गल गया है जबकि मेरी हड्डियां सूखकर शंख जैसी निष्प्राण-नीरस हो गई हैं, और आपकी पत्नी सारसी की भांति आपका नाम रटते-रटते मर रही है— आप इतनी कृपा तो कीजिए कि उस मरी हुई के पंखों को समेट दीजिए।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. 'रक्त पंख' में व्यक्त मार्मिक विरह की जितनी भी प्रशंसा की जाए कम है।

नोट

2. उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार।

लागेउ मांह परै अब पाला। बिरहा काले भएउ जड़काला। 1।

पहल पहल तन रुई जो झापै। हहलि अधिकौ हिय कापै। 2।

आइ सूर होइ तपु रे नाहां। तेहि बिनु जाइ न छूटै माहां। 3।

एहि मास उपजै रस मूलू। तूं सो भंवर मोर जोबन फूलू। 4।

नैन चुवहिं जस माहुट नीरू। तेहि जल अंग लाग सर चीरू। 5।

टुटहिं बुंद परहिं जस ओला। बिरह पवन होइ मारै झोला। 6।

केहिक सिंगार को पहिर पटोरा। गियं नहिं हार रही होइ डोरा। 7।

तुम्ह बिनु कंता धनि हरुई तन तिनुवर भा डोल।

तेहि पर बिरह जराइ कै चहै उड़ावा झोल ॥ 30/11 ॥

शब्दार्थ—अब पाला=जाड़े का समय। जड़काला=जाड़ा। पहल पहल=शरीर का प्रत्येक पहलू। झोल=राख। हहलि-हहलि=थरथराना, कंपकंपी छटना। मांहा=माघ का महीना। रस मूलू=वनस्पतियों में रस उत्पन्न होने का मूलकारण अर्थात् वसन्त। माहुट=माहौट, माघ की वर्षा। पटोरा=रेशमी वस्त्र। गियं=गर्दन में। हरुई=हल्की। तिनुवर=तिनके के समान। झापै=छिपाना।

संदर्भ—नागमती की विरहावस्था का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—माघ का महीना लग गया है और पाला पड़ गया है। विरहावस्था में तो जाड़ा काल बन गया है। शरीर के प्रत्येक पहलू को रूई से ढकने पर प्रयत्न करने पर हृदय और भी थर-थर कांपने लगता है। अथवा जाड़ा इतना अधिक है कि जब शुरू-शुरू में रूई के वस्त्रों से भी शरीर को ढकने का प्रयत्न करते हैं तो वस्त्रों के ठंडे होने के कारण शरीर और भी अधिक कांपने लगता है। अरे प्रियतम! तुम मेरे समीप सूर्य बनकर आ तपिए— अर्थात् यदि आप मेरे समीप आ जाओगे तो मुझे सूर्य के समान सुखद प्रतीत होंगे। तुम्हारे अभाव में मेरा यह माघ महीने का शीत नहीं छूट सकता। इसी माघ में वनस्पतियों में रस का उद्रेक होता है अर्थात् उनमें रस पड़ना प्रारम्भ होता है। तुम ही वह भ्रमर हो जो मेरे यौवन-रूप का उपभोग कर सकता है। मेरे नेत्रों से माघ महीने की वर्षा अर्थात् माहौट की भांति वर्षा की-सी झड़ी लगी रहती है— अश्रुपात होता रहता है। आंसुओं से भीगे हुए ठंडे वस्त्र मुझको बाणों की तरह चुभते और रिसते रहते हैं। तुम्हारे अभाव में मुझे माहौट की वर्षा की बूंदें ओलों की भांति कष्टकर प्रतीत होती हैं, जबकि विरह-रूपी पवन के झोंकों के कारण मेरी व्यथा और भी बढ़ जाती है— भाव यह है कि हवा के झोंकों के कारण ओले और भी अधिक जोर से लगा करते हैं, उसी प्रकार आपके विरह में मुझे माघ की वर्षा की बूंदें और भी अधिक संतापित करती हैं। अब मैं किसके लिए शृंगार करूं और किसके हेतु स्वयं को रेशमी वस्त्रों से सुसज्जित करूं? मैं अपनी ग्रीवा में हार भी नहीं धारण कर सकती क्योंकि मेरी गर्दन सूख-सूखकर डोरे जैसे हो गई है। **डॉ. अग्रवाल** के अनुसार — “मेरे कंठ में हार नहीं रहा। मैं उस हार का डोरा मात्र हो गई हूँ।”

हे प्राणनाथ! आपके विरह में सूख-सूखकर मैं अत्यधिक हल्की रह गई हूँ और मेरा शरीर तिनकों के ढेर के तुल्य हो गया है। इस पर भी विरह की आग मुझको जलाकर राख की भांति उड़ाने को तत्पर है।

साहित्यिक सौन्दर्य — रूपक और उपमा अलंकार।

फागुन पवन झंकोरै बहा। चौगुन सीउ जाइ किमि सहा। 1।

तन जस पियरे पात भा मोरा। बिरह न रहै पवन होइ झोरा। 2।

तरिवर झरै झरै बन ढांखा। भइ अनपत्त फूल फर साखा। 3।

करिन्ह बनाफति कीन्ह हुलासू। मो कंह भा जग दून उदासू। 4।

फाग करहि सब चांचरि जोरी। मोहिं जिय लाइ दीन्हि जसि होरी। 5।

जौं पै पियहि जरत अस भावा। जरत मरत मोहि रोस न आवा। 6।

रातिहु देवस इहै मन मोरें। लागीं कंत थार जेउं तोरें। 7।

यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाउ ।

मकु तेहि मारग होइ परौं कंत धरै जहं पाउ ॥ 30/12 ॥

शब्दार्थ – किमि= कैसे। छार=राख। पियर=पीला। झोरा=झकझोरना। ढांखा=वृक्ष। पात=पत्र। अनपत्त=पत्रहीन। बनाफति=वनस्पतियां। भा=हो गया है। चांचरि=शृंगारपरक स्वांग। जसि=जैसे। मकु=शायद।

संदर्भ—पूर्ववत्।

व्याख्या—हे प्राणेश्वर फागुन के महीने में हवा झकझोरों के साथ प्रवाहित हो रही है, जिसमें शीत का प्रकोप चौगुना हो उठा है, उसे मैं अकेली और विरहिणी किस प्रकार सहन करूं? मेरी काया पत्ते के तुल्य हो गई है। विरह के कारण यह पीले पत्ते जैसा शरीर भी सुरक्षित नहीं रह पाएगा, क्योंकि विरह के झकझोरे उसे तोड़ डालेंगे अर्थात् मेरे प्राणांत होने की आशंका है। अब सभी वृक्षों के पत्ते झड़ने लगे हैं, ढाक-वनी के ढाकों के भी पत्ते झड़ रहे हैं। जितनी भी लताएं हैं वे फल-फूल और पत्रों से शून्य हो गई हैं। हां अब वनस्पतियों से नई कोंपलें फूटने लगी हैं मानो वे इन कोंपलों के द्वारा अपना उल्लास व्यक्त कर रही हैं। एक ओर तो लताएँ हैं जो अपने प्रियतम बसन्त से मिलकर नवोल्लास से परिपूर्ण हो चुकी हैं, दूसरी ओर विरहिणी मैं हूँ, जो आपके न लौटने के कारण और भी अधिक उदास हो उठी हूँ। मेरी सभी सखियां चांचरि जोड़कर फाग मना रही हैं। सखियों को स्व-प्रियतमों के साथ रास-रंग मनाते देखकर मेरे अंतर्मन में विरह की आग इस प्रकार भड़क उठती है मानो उसमें होली जला दी गई हो। हे नाथ! यदि आपको मेरा इस प्रकार विरह की आग में जलना अच्छा लगता (भाता) है, तो मैं सहर्ष इस प्रकार जलते हुए मर जाऊंगी और मुझको क्रोध नहीं आएगा। हे प्रियतम मैं तो अहर्निश यही सोचती रहती हूँ कि तुम्हारे थाल जैसे हृदय से लग जाऊँ— अथवा मैं स्वयं को तेरे समक्ष उस प्रकार भोग रूप में प्रस्तुत करूँ, जैसे उपभोक्ता (खाने वाले को) थाल में सामग्री सज्जित करके प्रदान की जाती है।

हे प्राणेश्वर! मेरी अभिलाषा तो यह है कि मैं आपकी वियोगाग्नि में अपने शरीर को जलाकर राख कर दूँ और पवन से निवेदन करूँ कि वह मुझको उड़ा ले जाए। ऐसा करने पर शायद मेरी राख उस मार्ग पर भी गिर पड़े जहां पर आप अपने चरण रखेंगे— भाव यह है कि मैं तो राख बन कर भी आपके चरण चूमना चाहती हूँ।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. चांचरि उस शृंगार-प्रधान नृत्य-गान को कहते हैं जिसकी योजना विशेषतः फागुन के महीने में होती है।

2. 'तन मोरा' में उपमा अलंकार।

3. 'लागौं तोरें में उपमा अलंकार।

4. दोहे में अभिलाषा-संचारी की बड़ी ही मनोरम व्यंजना की गई है।

चैत बसंता होइ धमारी। मोहि लेखें संसार उजारी। 1।

पंचम बिरह पंच सर मारै। रक्त रोइ सगरौ बन ढारै। 2।

बूड़ि उठे सब तरिवर पाता। भीज मंजीठ टेसू बन राता। 3।

मौरैं आंब फरैं अब लागे। अबहुं संवरि घर आउ सभागे। 4।

सहस भाव फूली बनफती। मधुकर फिरे संवरि मालती। 5।

मो कहं फूल भए जस कांटे। दिस्टि परत तन लागहिं चांटे। 6।

भर जोबन एहु नारंग साखा। सावा बिरह अब जाइ न राखा। 7।

धिरिनि परेवा आव जस आइ परहु पिय दूटि।

नारि पराएं हाथ है तुम्ह बिनु पाव न छूटि ॥ 30/13 ॥

शब्दार्थ – धमारी=एक राग विशेष। लेखें=लिए। उजारी=बीरान। पंच सर=पंच बाणों वाला अर्थात् कामदेव। रक्त=रक्त। सगरौ=सारा। बूड़ि=डूब। राता=लाल। मौरैं=बौर से लदे। फरैं=फलों से युक्त होना, फलना। संवरि=याद करके। बनफती=वनस्पती। मधुकर=भ्रमर। सोवा=तोता। धिरिनि परेवा=लोहन कबूतर। नारि=स्त्री।

संदर्भ – पूर्ववत्

नोट

व्याख्या—अपने परदेशी प्रियतम को स्मरण करती हुई नागमती कहती है कि चैत्र का महीना आ गया है जिसमें चारों ओर धमार का आयोजन हो रहा है। चारों ओर उल्लास और आनन्द छाया हुआ है जबकि मेरे लिए तो यह संसार प्रियतम के अभाव में वीरान और सुनसान लग रहा है। जब कोयल पंचम स्वर में कुहकती है तो उसकी बोली मेरे हृदय में कामदेव के बाणों की भांति लगती है और मेरे रुधिर के आसुओं से सम्पूर्ण वन ओत-प्रोत हो गया है— वसंत-ऋतु में कोयल का रुदन उपयुक्त नहीं लगता यहां यही अर्थ अधिक उचित है कि नागमती के रक्त पूर्ण आंसू सारे वन में ढुलकते रहते हैं, अन्यथा इन पंक्तियों का अधिकांश टीकाकारों ने यह अर्थ किया है— “कोयल अपने पंचम राग में विरह के कारण पिउ-पिउ रटती हुई कामदेव के पंचबाण मारती है और रक्त के आंसू रोकर सारे वन में गिराती है (डॉ. वा. शरण अग्रवाल)। “कोयल अपने पंचम स्वर में विरह के कारण पिउ-पिउ रटती हुई कामदेव के पंचबाण मारती है और रक्त के आंसू रोकर सारे वन में गिराती है।” (राकेश)। इन दोनों ही अर्थों में कोयल द्वारा कामदेव को बाण मारने का अभिप्राय ग्रहण किया गया है, जबकि कवि का अभिव्यंग्यार्थ यह है कि कोयल की कुहक सुनकर नागमती के हृदय पर काम-बाणों का प्रहार होता है— उसकी कामोत्तेजना बढ़ उठती है। उन रुधिरमय आंसुओं में भीगकर वृक्षों के पत्ते लाल हो उठे हैं, जबकि मंजीठ और टेसू उनमें भीगकर लाल हो गए हैं। हे सभागे प्राणेश्वर! अब तो बौर आए हुए आम्रवृक्षों पर फल भी लगने लगे हैं, अतः आप भी मुझको याद करके घर क्यों नहीं लौट आते। वसुन्धरा की समस्त वनस्पतियाँ सहस्रों रूपों में पुष्पित हो उठी हैं और भ्रमर अपनी मालती की स्मृति करके उसके चक्कर काटने लगा है। हे नाथ! आपके अभाव में मेरे लिए पुष्प भी कंटक तुल्य बन गए हैं और जब मैं पुष्पों को देखती हूँ तो मेरे शरीर में उसी प्रकार का कष्टानुभव होने लगता है, जैसा चांटे (चपत) मारने पर हुआ करता है। मेरे इस नारंगी के वृक्ष रूपी शरीर में यौवन भर उठा है, नारंगी वृक्ष पर नारंगिया आने की भांति मेरी शरीर-लता भी यौवन से परिपूर्ण है (स्तन-रूपी फल लगे हुए हैं) किन्तु अब विरह-रूपी तोता इसको कुतरे डाल रहा है और मुझसे उसकी रक्षा नहीं हो पा रही है— भाव यह है कि आप स्वयं ही किसी प्रकार इसकी रक्षा कीजिए।

हे प्रियतम! आप मुझसे अचानक ही उस प्रकार आ मिलिए जैसे लोटन कबूतर अचानक ही आकाश से टूटकर अपनी प्रियतमा से आ मिलता है। तुम्हारी स्त्री (अथवा मेरी नाड़ी) अब विरह-रूपी पर-पुरुष के हाथों फंसी हुई है, इसको आपके अतिविक्रि और कौन छुड़ा पाएगा।

साहित्यिक — 1. दोहे की अंतिम पंक्ति में नियोजित “नारि पराए हाथ है”— बड़ी ही अर्थगर्भित है। इसके द्वारा नागमती प्रकारान्तर से इस तथ्य का आश्रय लेती है कि शायद मेरा पति ईर्ष्या से ही शीघ्र लौट आए कि उसकी स्त्री पर कोई अन्य व्यक्ति अधिकार करना चाहता है।

2. ‘नारि’ शब्द का श्लेष से ‘नाड़ी’ अर्थ लेने पर इन पंक्तियों का भाव यह है कि अब मेरी नाड़ी छूटने वाली है, मेरी नाड़ी यमराज के अधिकार में है अतः आप शीघ्रातिशीघ्र आकर मेरी प्राण-रक्षा कीजिए।

3. उपमा, रूपक और श्लेष अलंकार।

भा बैसाख तपनि अति लागी। चोला चीर चंदन भौ आगी। 1।

सूरुज जरत हिवंचल ताका। बिरह बजागि सौहं रथ हांका। 2।

जरत बजागिनि होउ पिय छाहां। आइ बुझाउ अंगारन्ह माहां। 3।

तोहि दरसन होइ नारी। आइ आगि सों करु फुलवारी। 4।

लागिउं जरे जरे जस भारू। बहुरि जो भूँ जसि तजौं न बारू। 5।

सरवर हिया घटत निति जाई। दूक दूक होइ होइ बिहराई। 6।

बिहरत हिया करहु पिया टेका। दिस्ति दवंगरा मेरवहु एका। 7।

कंवल जो बिगसा मानसर छारहिं मिलै सुखाइ।

अबहुं बेलि फिरि पलुहै जौं पिय सींचहु आइ ॥ 30/14 ॥

शब्दार्थ — हिवंचल=हिमाचल। बजागि=वज्राग्नि। सौहं=सम्मुख। भारू=भाड़ा। बहुरि=दुबारा। बिहराई=बिखर जाना, फैल जाना। टेका=सहारा। दिस्ति दवंगरा=दृष्टि रूपी दौंगरा अर्थात् हल्की वर्षा। मेरवहु=मिलओ, प्रदान करो। छारहिं=राख।

संदर्भ—विरहिणी नागमती के हृदय में उठने वाली भावनाओं का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कवि वर्णन करता है कि बैसाख का महीना आ जाने के कारण चारों ओर भयंकर ताप पड़ने लगा है। विरहिणी नागमती को चन्दनी चीर और चोला आग जैसा दाहक प्रतीत होता है। वह सूर्य जो इससे पूर्व लंका की ओर चला गया था। अब तपते हुए हिमाचल की ओर ताकने (देखने) लगा है और उसने मेरी विरह-रूपी वज्राग्नि की ओर अपने रथ को हांक दिया है अथवा सूर्य जलता हुआ हिमाचल की ओर जाना चाहता था (वहां तो वह नहीं गया) विरह की वज्राग्नि में तपती हुई मेरी ओर ही उसने रथ हांक दिया है (मैं और तपने लगी)। हे प्रियतम! मैं विरह-रूपी वज्राग्नि में प्रज्वलित हो रही हूँ आप इससे मेरी रक्षा कीजिए — मुझे अपने सम्मिलन की छाया प्रदान कीजिए। मैं विरहाग्नि के अंगारों में झुलसी जा रही हूँ, इनसे आप मेरी रक्षा कीजिए अपने आगमन-रूपी जल से इन अंगारों को बुझाए। आपकी पत्नी आपके दर्शनों से ही सुशीतल हो सकती है। वे प्राणनाथ! शीघ्र ही आइए और मुझको अंगारों से फुलवाड़ी में परिणत कर दीजिए। आपके विरह की आग में मैं सदैव भाड़ की तरह जलती रहती हूँ और यदि आप मुझको फिर भी जलाएंगे तो भी आपका द्वार (बारू) न छोड़ूंगी। अथवा जिस प्रकार भाड़ की आग में भूने जाने पर जौ की बौहरिया (भुने हुए जौ को लोक शब्दावली में बौहरी कहते हैं) जिस प्रकार तीव्र ताप के कारण बार-बार उछल-उछल कर भी बालू में ही आ गिरती है— तप्त बालू को नहीं छोड़ती— उसी प्रकार मैं भी आपके द्वारा नाना प्रकार के कष्ट-संताप दिए जाने पर भी आपका साथ नहीं छोड़ सकती। हे प्रिय! मेरा सरोवर-रूपी हृदय नित्यप्रति घटता जा रहा है— जैसे गर्मी से तालाब का जल सूखता जाता है उसी प्रकार विरह ताप के कारण मेरे हृदय की भावनाएं शुद्ध-नीरस होती जा रही हैं। स्थिति यहां तक आ पहुंची है कि मेरा हृदय पूर्णतः सूखकर छिन्न-भिन्न हो उठा है जैसे सूखे हुए तालाब का तल (मिट्टी) अनेक खण्डों में विभक्त हो जाती है। हे प्राणेश्वर! मेरे फटते हुए हृदय को सहारा दीजिए और अपनी दृष्टि-रूपी दौंगरे से उसके छिन्न-भिन्न टुकड़ों को मिलाकर एक कर दीजिए।

हे नाथ! वह कमल जो मेरे हृदय-रूपी मानसरोवर में खिला हुआ था— अर्थात् मेरा प्रफुल्लित हृदय— आपके दर्शन-रूपी जल के अभाव में सूख-सूखकर मिट्टी में मिल रहा है। उसकी सूखी हुई बेल (कमलनाल) अब भी पुनः हरी-भरी हो सकती है यदि आप उसको अपनी दृष्टि-रूपी जल (वर्षा) से सींचने की अनुकम्पा करेंगे।

साहित्यिक सौन्दर्य — 1. जायसी ने देशज शब्दों का बड़ा ही सार्थक प्रयोग किया है। प्रस्तुत पंक्तियों में प्रयुक्त दवंगरा शब्द ऐसा ही है। वर्षा होने से पूर्व ग्रामों में तालाब पूर्णतः सूख जाते हैं और उनकी चिकनी मिट्टी सूखकर बड़े-बड़े टुकड़ों में विभक्त हो जाती है, जिनको लोक शब्दावली में 'कीलें' कहते हैं। जब हल्की-सी भी वर्षा होती है और तालाब में ढुलककर पानी भर जाता है तो ये टुकड़े मिलकर एक हो जाते हैं। प्रस्तुत पंक्तियों में नागमती भी स्वपति से दृष्टि-रूपी दौंगरे की याचना करती है जिससे उसके भग्न हुए हृदय के टुकड़े मिलकर एक हो जाएं।

2. रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा और सांगरूपक अलंकार।

जेठ जै जग बहै लुवारा। उठै बवंडर धिकै पहारा। 1।

विरह गाजि हनिवंत होइ जागा। लंका डाह करै तन लागा। 2।

चारिहुं पवन झंकोरै आगी। लंका डाहि पलंका लागी। 3।

दहि भइ स्याम नदी कालिंदी। विरह कि आगि कठिन असि मंदी। 4।

उठै आगि औ आवै आंधी। नैन न सूझ मरौं दुख बांधी। 5।

अधजर भई मांसु तन सूखा। लागेउ विरह काग होइ भूखा। 6।

मांसु खाइ अब हाइन्ह लागा। अबहुं आउ आवत सुनि भागा। 7।

परबत समुंद्र मेघ ससि दिनअर सहि न सकहिं सुनि भाग।

मुहमद सती सराहिजै जै जो अस पिय लागि ॥30/15॥

शब्दार्थ—लुवारा=लू। धिकै=दहकने लगे। गाजि=गरजकर। हनिवंत=हनुमान। डाह=जलाना। कालिंदी=यमुना। दिनअर=दिनकर, सूर्य। जै=तपना।

संदर्भ—ज्येष्ठ के महीने में नागमती को अनुभव होने वाली विरहाग्नि का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—ज्येष्ठ के महीने में सारी पृथ्वी जलने लगी। आंधी के बवंडर उठने लगे और तीव्र ताप के कारण पहाड़ भी दहकने लगे। विरह हनुमान की भांति गर्जन करते हुए जागृत हो गया और लोगों के (नागमती के) शरीरों को लंका की भांति दग्ध करने लगा। चारों पवन अपने झोंकों से इस विरह की आग को विवर्धित करने लगे और उससे

नोट

लंका ही नहीं अपितु पलका तक जल उठी। इस विरहाग्नि में जलकर ही यमुना नदी का जल काला हो गया है। विरह की अग्नि धीमी-धीमी सुलगती आग की तरह अत्यधिक दुस्सह हुआ करती है। आग भड़क उठी है, जबकि अंधड़ भी चल रहा है। नागमती कहती है कि ऐसे में मुझको हाथों-हाथ नहीं दिखाई पड़ रहा है और इस दुःख में ग्रस्त होकर मैं मरी जा रही हूँ। विरहाग्नि में जलकर मैं अधमरी (अधजली) हो उठी हूँ और मेरे शरीर का सारा मांस सूख गया है। विरह-रूपी काग मेरे मांस को उसी प्रकार खाए डालता है, जैसे बुभिक्षित कौआ मांस पर झपटा करता है। विरह-रूपी कौवे ने मेरे मांस का भक्षण करने के पश्चात् अब मेरी हड्डियों को खाना आरम्भ कर दिया है। हे प्राणनाथ! आप अब भी आकर मुझे जीवित बचा लीजिए क्योंकि यह आपके आने का नाम सुनते ही भाग खड़ा होगा।

नागमती की यह विरहाग्नि जो ज्येष्ठ माह की लुओं के रूप में प्रकट हो रही है, इसको पर्वत, समुद्र, बादल, चन्द्रमा और सूर्य में से कोई भी नहीं सहन कर सकता। कवि मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं कि सती-साध्वी नागमती की सराहना करनी चाहिए जो अपने प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा में इस विरहाग्नि को सहन कर रही है।

साहित्यिक सौन्दर्य 1. 'लंका डाहि पलंका' – इस पंक्ति का डॉ. वासुदेवशरण ने यह अर्थ दिया है कि 'वह अग्नि लंका को जलाकर अब पलंग में लग गई' – जो इस दृष्टि से अनुपयुक्त है कि इस पंक्ति में जायसी ने 'लंका छोड़कर पलंका जा पहुंचने' की लोकोक्ति का प्रयोग किया है और इसका भाव है कि वह दूर-दूर तक फैली हुई है।

2. उपमा और रूपक अलंकार।



क्या आप जानते हैं जायसी ने नागमती की वियोग अवस्था का बारह मासा शैली में वर्णन किया है।

तपै लाग अब जेठ असाढ़ी। भै मोकहं यह छाजनि गाढ़ी। 1।
 तन तिनुर भा झूरीं खरी। मैं बिरहा आगरि सिर परी। 2।
 सांठि नाहिं लगी बात को पूंछा। बिनु जिय भएउ मूज तन छूछा। 3।
 बंध नाहिं और कंध न कोई। बाक न आव कहीं केहि रोई। 4।
 ररि दूबरि भई टेक बिहूनी। थंभ नाहि उठि सकै न थूनी। 5।
 बरसहिं नैन चुअहिं घर माहां। तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाहां। 6।
 कोरे कहां ठाट नव साजा। तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाजा। 7।
 अबहूँ दिस्टि मया करु छान्हिन तजु घर आउ।
 मंदिल उजार होत है नव कै आनि बसाउ॥ 30/16॥

शब्दार्थ—भै=हो गई। मोकहं=मेरे लिए। छाजनि=छूत का एक रोग विशेष। तिनुर=तिनके के समान। आगरि=अर्गला। सांठि नाहिं=गांठ की पूंजी नष्ट हो गई है। बंध=भाई, बंधु। कंध=कंधा। मूज=एक विशेष प्रकार की घास। टेक=आश्रम, सहारे की लकड़ी। ररि=रटकर। थंभ=स्तंभ, खम्बा। थूनी=छप्पर को साधने के लिए लगाई जाने वाली लकड़ी जो दीवार में गाड़कर बंडेरा में फंसा दी जाती है (बंडेरा उस मोटी बल्ली को कहते हैं जिस पर दो पहलू छप्पर का मध्य भाग टिका रहता है)। दिस्टि=दृष्टि। मया=दया। मंदिल=मंदिर, भवन। नव कै= नया करके। छाजन=छप्पर।

संदर्भ—नागमती द्वारा विरह में अपने प्राणेश्वर का स्मरण किया गया है।

व्याख्या—नागमती अपने परदेशी प्रियतम को याद करते हुए कहती है कि प्राणेश्वर अब मेरे शरीरांगों में विरह जेठ-अषाढ़ की तरह तपने लगा है और यह तपन मेरे शरीर को छाजन (एक रोग विशेष) की तरह व्यथित करने लगा है। मेरा शरीर सूख-सूखकर कांटा हो गया है और मैं खड़ी झूरती रहती हूँ। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है मानो विरह की खान (आगरी) ही मेरे सिर पर टूट पड़ी है। अब मेरी गांठ में पूंजी नहीं है अर्थात् मेरा पति-रूपी धन मुझसे दूर है अतः मेरी बात कौन पूछेगा। अपने प्रियतम के अभाव में मेरा शरीर मूज की भांति निस्सार हो गया है (मूज के बान से चारपाई बुनी जाती है)। इस समय न तो कोई मेरा बंधु-बंधव है और न ही कोई कंधा अर्थात् सहारा देने वाला है। मेरे मुंह से शब्द ही नहीं निकल पाते अतः मैं किसको रोकर बातें सुनाऊँ। रो-रोकर मैं अत्यधिक दुर्बल हो गई

नोट

हूँ और सभी प्रकार के आश्रयों से विहीन हूँ। जब पति-रूपी स्तंभ ही न हो तो जीवन-रूपी छप्पर धूनीयों (छोटे-छोटे सहारों) पर कैसे टिका रह सकता है। मेरे नेत्रों से अविरल रूप में आसुओं की वर्षा होती रहती है जो घर में ही टपकते रहते हैं। हे नाथ! आपके अभाव में न तो मेरे भवन पर छप्पर (छाजन) ही है और न छाया ही है। अब कौन है जो नए ठाठ सजाएगा अथवा “अरे, कौन कहां अब नया साज सजाएगा?” हे नाथ आपके अभाव में तो अब वस्त्र अथवा छप्पर कुछ भी तो अच्छा नहीं लगता।

हे प्राणेश्वर! आप अब भी मेरी ओर अपनी कृपा दृष्टि कीजिए और उस स्थान को छोड़कर जहां पर आप किसी अन्य को आश्रय प्रदान कर रहे हैं, अर्थात् जिस स्त्री के जीवन-रूपी घर में आपने अपनी उपस्थिति-रूपी छान छायाई हुई है, से छोड़कर मेरे समीप लौट आइए आपकी पत्नी का यह शरीर-रूपी घर उजाड़ होता जा रहा है आप आकर इसको नए रूप में बसा लीजिए।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. इन पंक्तियों का डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने निम्नांकित अर्थ दिया है—

“अब जेठ-आषाढ़ी तपने लगी है। मेरे लिए छाजन दुखदायी हो गई है। इसका तान या फैलाव समिटकर ढेर हो गया है। मैं उसके नीचे खड़ी सूखती हूँ। उसकी अर्गला निकल गई है और द्वार खोलने वाले के सिर पर आ गिरती है। इसमें सेंठे नहीं लगे पत्ते का तो कहना ही क्या? डोरी के न रह जाने (लपेट खुल जाने) से मूँज की ताने छूँछी हो गई हैं। बंद भी नहीं रहे और दीवार (कंध) भी कोई नहीं है। धुड़िया (बॉक) भी नहीं है। किससे रोककर व्यथा कहूँ? यह दुपलिया छान (दूबरि) अपने स्थान से सरक कर (ररि) टेक विहीन हो गई है। इसमें जो थंभ था वह नहीं रह गया। सहारे के लिए धूनी भी नहीं लग सकती। इसके ऊपर धुआ निकलने के लिए जो धमाले या धूमनेत्र बने थे, वे पानी बरसने पर अब घर में ही टपकते हैं। हे कत, तुम्हारे बिना अब छाजन छांह नहीं करती। पूरे बांस (कोरे) कहां हैं जिनसे छान को नया बनाया जाए? हे कंत, तुम्हारे बिना छाजन नहीं छाई जा सकती।

अब भी कृपा दृष्टि करो और बिजन छोड़ो, घर में आओ। यह राज मंदिर उजाड़ हो रहा है, आकर नया बसाओ।”

2. उपमा और रूपक अलंकार।



नोट्स

कवि जायसी रानी नागमती की विरह दशा के वर्णन में एक पतिव्रता साधारण स्त्री का रूप चित्रित करते हैं। नागमती वियोग के माध्यम से वह साधारण भारतीय स्त्री की चिंता व्यक्त करते हैं, जिसका पति बाहर है वह बरसात में घर की छाजन कैसे ठीक करे!

रोड़ गंवाएउ बारह मासा। सहस सहस दुख एक एक सांसा। 1।

तिल तिल बरिस बरिस बरु जाई। पहर पहर जुग जुग न सिराई। 2।

सो न आउ पिउ रूप मुरारी। जासों पाव सोहाग सो नारी। 3।

सांझ भए झुरि झुरि पंथ हेरा। कौनु सो घरी करै पिउ फेरा। 4।

दहि कोइल भै कंत सनेहा। तोला मांस रहा नहिं देहा ॥30/17॥

शब्दार्थ—गंवाएउ=खो दिया। सहस=सहस्र। सिराई=ठंडा। हेरा=देखा। दहि= जलकर। पाव लागि= चरण स्पर्श करने के लिए। चेरी=दासी। निसरी=निकलकर। गरा=गल गया। झांखि=पछता गया। पांखि=पक्षी।

संदर्भ—नागमती ने अपने प्रियतम के वियोग में किस प्रकार बारह महीने व्यतीत किए उसी विरह का वर्णन यहां किया गया है।

व्याख्या—कवि कहता है कि पीछे वर्णित रीति से विरहिणी नागमती ने रो-रोकर बारह महीने जैसे-तैसे व्यतीत किए। उसकी एक-एक सांस में भी उसको हजारों प्रकार का दुःखानुभव होता था। उसके लिए एक-एक क्षण का समय काटना वर्षों की भांति लम्बा हो गया था। इसी प्रकार एक-एक पहर की कालावधि युगों के समान लम्बी प्रतीत होती थी। फिर भी उसका कृष्ण की भांति सुन्दर पति लौटकर नहीं आया था जिससे उसको सौभाग्यवती कहलाने का

नोट

सुअवसर मिल सकता। संध्या होते ही वह बड़ी उत्सुकतापूर्वक पति के प्रत्यागमन के मार्ग की ओर देखने लगती थी और सोचती रहती थी कि न जाने वह शुभ घड़ी कब आएगी जब उसके पति उसके समीप आएंगे। वह अपने प्रियतम के प्रेम में जलकर कोयल की भांति काली पड़ गई थी और उसके शरीर में एक तोला तक मांस अवशिष्ट नहीं बचा था। उसके शरीर में रक्त भी शेष नहीं बचा था और विरह ने उसके शरीर को गला दिया था। उसके शरीर का रुधिर उसके आंसुओं के रूप में रती-रती की मात्रा तक शरीर से निकल गया था। बड़े ही कातर स्वर में वह कहने लगी कि हे प्राणेश्वर मैं हा! हा! खाते हुए आपके चरणों में गिरती हूँ। आप अपने उस स्नेह-संबंध को पुनः जोड़ लीजिए जो इस समय आपने तोड़ रखा है।

कवि कहता है कि इस प्रकार एक वर्ष तक नाना प्रकार से विलाप करती हुई नागमती अंततः झख मारकर रह गई अर्थात् उसकी अभिलाषा सफल नहीं हो पाई। उसने स्व-पति के विषय में लोगों से घर-घर जाकर, पूछताछ की और जब उनसे कुछ भी पता न चला तो वह हारकर वन के पक्षियों से पूछने के लिए राजमहल से निकल पड़ी।

साहित्यिक सौन्दर्य – ‘हा! हा! खाना’, लोक-जीवन में दीनता की चरमावस्था होती है।

2. श्लेष, पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार।



टास्क

बारहमासा वर्णन शैली से आप क्या समझते हैं? इसकी परंपरा का उल्लेख कीजिए।

भई पुछारि लीन्ह बनबासू। बैरिनि सवति दीन्ह चिल्हवांसू। 1।

कै खर बान कसै पिय लागा। जौं घर आवै अबहुं कागा। 2।

हारिल भई पंथ में सेवा। अब तहं पठवौं कौनु परेवा। 3।

धौरी पंडुक कहु पिय ठाऊं। जौ चित रोख न दोसर नाऊं। 4।

जाहि बया गाहि पिय कंठ लवा। करे मेराउ सोई गौरवा। 5।

कोइलि भई पुकारत रही। महरि पुकारि लेहु रे दही। 6।

पियरि तिलोरि आव जलहंसा। बिरहा पैठि हिंए कत नंसा। 7।

जेहि पंखी कहं अढ़वौं कहि सो बिरह कै बात।

सोई पंखि जाइ डहि तरिवर होइ निपात ॥ 30/18 ॥

शब्दार्थ – पुछारि=मोरनी, पूछने वाली। सवति=सौत। चिल्हवांसू=चिड़ियां फंसाने का एक फन्दा। खर=तीव्र। परेवा=पक्षी। पंडुक=पीला। चित रोख=एक पक्षी। रोख=रोष। दोसर नाऊं= किसी दूसरे का नाम लेना। गहि=पकड़कर। मेराउ=मिला। महरि=ग्वालिन नामक चिड़िया। तिलोरि=तेलिया मैना। कत नंसा=नीलकंठ, काटना और नाश करना। अढ़वौं=आज्ञा देना, काम में नियुक्त करना। डहि=जल। निपात=पत्रहीन।

संदर्भ—नागमती द्वारा पति की खोज का वर्णन।

व्याख्या—स्वपति की खोज में घर से निकली नागमती का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि अब वह विरह में व्याकुल होकर मोरनी बनकर बन-बन में मारी-मारी फिर रही थी। उसको उसकी सौत (पद्मावती) ने चिड़िया फंसाने के जाल रूपी विरह में फंसा रखा था। विरह की तीव्रता उसको जलाए डालती थी, जो उसके हृदय में तीव्र बाण की भांति चुभ रहा था। कौवे को बैठा देखकर वह उससे कह उठती थी कि अरे कौवे! यदि आज मेरे प्रियतम घर लौट रहे हों तो तू उड़ जा। मैं लम्बे समय से हारिल बनी हुई स्व-प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा कर रही हूँ और अब किसी पक्षी को संदेश देकर अपने प्राणेश्वर के समीप प्रेषित करूँ। नागमती धौरी और पंडुक चिड़ियों से कहने लगी कि अरी तुम्हीं मुझको प्रियतम का स्थान बता दो। यदि मेरे प्रियतम अपने हृदय में मुझसे रुष्ट हुए हैं तो फिर मेरे लिए दूसरा स्थान ही कौन-सा है? हे बया पक्षी! तू ही जाकर मुझको कंठ से लगाने वाले प्रियतम को लिवा ला। मेरे लिए तो उसी पक्षी का गौरवपूर्ण स्थान रहेगा जो मेरा स्व-प्रियतम से सम्मिलन कराएगा। मैं तो अपने प्रियतम को कोयल बनकर पुकारती हूँ। कवि कहता है कि वह नारी ग्वालिन नामक चिड़िया की तरह दही लो, दही लो चिल्लाती फिरती थी

नोट

अथवा नागमती यह कहते हुए कि मैं विरहाग्नि में जली जा ही हूँ, दया के लिए (महरि) पुकारती फिर रही थी। बिना किसी ओर ध्यान दिए, एक वृक्ष पर तिलौरी, मैना पक्षी और सरोवर में हंस क्रीड़ा करते रहे। नागमती के हृदय में तो अब विरह-रूपी नीलकण्ठ का निवास हो गया है जो बराबर उसके शरीर को कचोटता रहता है।

कवि कहता है कि विरह-दग्धा नागमती जिस किसी भी वृक्ष के समीप पहुंचकर उस पर बैठे हुए पक्षियों को अपनी विरह-व्यथा सुनाने का प्रयास करती थी, उसकी विरहाग्नि की लपटों से वही पक्षी जल जाता था और वृक्ष पत्रहीन हो जाते थे।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. प्रस्तुत पंक्तियों के डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने दो अर्थ दिए हैं उनमें से एक इस प्रकार है—

“पूछने वाली बनकर उसने बनवास लिया कि पक्षियों से प्रिय का समाचार पूछूंगी पर कोई पक्षी वहां पहुंचता ही नहीं क्योंकि, बैरिन सौत ने पक्षियों को फंसाने के लिए चिल्लावासा लगा रखे हैं। इतने पर भी कोई कौवा यदि घर पहुंच जाता है, तो प्रियतम, (भी उसी षड्यंत्र में मिलकर) तीक्ष्ण बाण चढ़ाकर उसकी ओर खींचने लगता है। अथवा पहली दो पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार होगा— “पूछने वाली बनकर उसने बनवास लिया। बैरिन सौत ने पति को छल फंदे में फंसा रखा है (या अपने चुहल में फंसा रखा है)। प्रियतम ने पहले अपनी कंचन काया को तपाकर उत्तम बना लिया और अब उसको कसौटी पर कस कर देख रहा है। अब भी वह घर लौट आए तो क्या बिगड़ा?”

2. उस मार्ग पर चलती-चलती मैं थक गई हूँ। अब संदेश पाने के लिए वहां किस पक्षी (या संदेश वाहक) को भेजूं।

3. श्वेत और पीली पड़ी हुई अब मेरे लिए प्रिय का ही ठांव है। यद्यपि चित्त में रोष है, फिर भी दूसरा नाम नहीं जानती।

4. जो जाकर आए, प्रिय को कंठ पकड़कर ले आए और मुझसे मिला दे, वही गौरवशाली (बड़े पद वाला) है।

5. आम की गुठली की कोइली (पपैया) जैसी बनकर मैं पुकारती रही। मेरी सास जी को बुलाओ। हाथ में जली। पियरी और तिलौरी आती है, तो मेरा जी (हंस) जलता है। विरह हृदय में घुलकर क्यों मुझे काट और मार रहा है?

जायसी की श्लेषार्थक शब्दावली द्वारा विविध वस्तुओं का नाम गिनाने की शैली इन पंक्तियों में भी है।

6. मुद्रा, श्लेष और अतिशयोक्ति अलंकार।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—

1. अषाढ़ का महीना आते ही शुरू हो गई।
2. भादों के महीने में वर्षा होने के बाद भी नागमती से सुख गई है।
3. जब नागमती की सखियाँ दीवाली मना रही हैं तब पति की अनुपस्थिति में वह अपने में धूल डाल रही है।
4. नागमती कहती है कि पक्षी मेरी विरह की अग्नि से जलकर काला हो गया है।

कुहुकि कुहुकि जसि कोइलि रोई। रक्त आंसु घुंघुची बन बोई। 1।

पै करमुखी नैन तन राती। को सिराव बिरहा दुख ताती। 2।

जहं जहं ठाढ़ि होइ बनबासी। तहं तहं होइ घुंघुचिन्ह कै रासी। 3।

बुंद बुंद महं जानहुं जीऊ। कुंजा गुंजि करहिं पिउ पिऊ। 4।

तेहि दुख डहे परास निपाते। लोहू बूढ़ि उठे परभाते। 5।

राते बिंब भए तेहि लोहू। परवर पाक फाट हिय गोहू। 6।

देखिअ जहां सोइ होई राता। जहां सो रतन कहै को बाता। 7।

ना पावस ओहि देसरें ना हेवंत बसंत ।

नोट

ना कोकिल न पपीहरा केहि सुनि आवहि कंत ॥ 30 / 19 ॥

शब्दार्थ—राती=लाल । करमुखी=काले मुंह की । सिराव=शीतल करे । रासी=ढेर । कुंजा=क्रौंच पक्षी । गुंजि=गूंजकर । डहे= जल गए । परास=पलाश अथवा फरास के वृक्ष । निपाते=पत्रहीन । बूड़ि=डूब । गोंहू=गेहूं । परवर=परवल । ओहि=उस ।

संदर्भ—नागमती की विरहावस्था का वर्णन ।

व्याख्या—विरहिणी नागमती की विरहावस्था का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि नागमती वनों में कोयल की भांति कुहुक-कुहुक कर अर्थात् हूँ भरती हुई, रुदन करती फिर रही थी और उसके रुधिरमय अश्रु लाल रंग की घुंघचियों के रूप में चारों ओर बिखर गए थे । विरहाग्नि में सुलगते रहने के कारण उसका मुख काला पड़ गया था जबकि उसके नेत्र तथा शरीर लाल रंग के हो रहे थे । रक्ताश्रुओं में भीगने के कारण शरीर का लाल हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है । वह विरह की जिस तीव्र अग्नि में जल रही थी उसको शीतल करने वाला कोई भी नहीं था । वह वन में जहां कहीं भी जाकर खड़ी हो जाती थी वहीं पर उसके नेत्रों से गिरे रक्ताश्रुओं के कारण घुंघचियों का ढेर-सा लग जाता था, उसके आसुओं की एक-एक बूंद मानो जान ही टपकी पड़ रही थी, इसीलिए प्रत्येक कुंज में से 'पिउ-पिउ' की अनुगूंज उठ रही थी । उसके दुःख में विदग्ध होकर पलाश-वृक्ष पत्रहीन हो गए थे । (परास का प्रयोग फरास के वृक्ष के लिए भी माना जा सकता है, जिसको पत्ते नहीं आते) और फिर प्रातः काल लाल-लाल पुष्पों से लदकर ऐसे प्रतीत होते थे, मानो नागमती के रक्त में डूबने के कारण ही उनके फूल लाल रंग के हो गए हैं । बिम्बफल भी नागमती के रुधिर में डूबकर लाल हो गए, जबकि परवल पक कर पीले पड़ गए और गेंहू का हृदय फट गया । जिस किसी को भी और जहां कहीं भी देखिए, वही लाल दिखाई पड़ता था— अथवा नागमती जिस किसी पर भी अपनी दृष्टि डालती थी, वही लाल हो जाता था— इसलिए जहां रत्नसेन रूपी लाल विद्यमान था, वहां इस बात को जाकर कौन कहता ?

अपने प्रियतम के वियोग में कलपती हुई नागमती कहने लगी कि मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मेरा प्रियतम जिस देश में निवास कर रहा है उस देश में न तो वर्षा-ऋतु होती है और न हेमंत और वसंत ऋतु का ही अस्तित्व है । वहां पर कोयल और पपीहे भी नहीं होते । यही कारण है कि मेरे प्राणेश्वर न तो ऋतुओं के प्रभाव-स्वरूप मुझको याद करके लौट पाते हैं और न कोयल और पपीहे की आवाज से ही उनको यह याद आती है कि मेरी वियुक्ता पत्नी मुझको इसी प्रकार तड़प-तड़प कर याद कर रही होगी ।

साहित्यिक सौन्दर्य—1. वियोगियों के लिए तीन ही ऋतुएं कवियों ने अधिक संतापदायक सिद्ध की हैं— वर्षा, हेमन्त और वसंत । अतः नागमती सोचती है कि उस देश में, जहां मेरा पति निवास करता है, ये ऋतुएं होती ही नहीं हैं । इसी प्रकार कोयल और पपीहा भी बिछुड़े प्रियतम की स्मृति दिलाने के लिए प्रसिद्ध हैं । नागमती अपने अंतर्मन को यह सोचकर समाश्वासन देना चाहती है कि जब ये बातें वहां होती नहीं हैं, तो मेरे प्रियतम को मुझ वियुक्ता की स्मृति आ ही कैसे सकती है ?

2. उत्प्रेक्षा अलंकार ।

8.2 सारांश (Summary)

रत्नसेन के घर छोड़कर चले जाने के पश्चात् उसकी विवाहिता नागमती चित्तौड़गढ़ में अकेली हो जाती है । पति की विरह में उसे प्रकृति भी दुःखदायी प्रतीत होती है । जो सावन उसे सुख देता था, आज वहीं उसे जला रहा है । जायसी नागमती के आसुओं की तुलना भादों मास की वर्षा से करते हैं । रानी नागमती को एक साधारण स्त्री की तरह अपने घर की चिंता सता रही है कि मेरा घर नहीं है । मेरे घर की छाजन (मिट्टी की दीवारों पर डाली गई फूस की छत) ठीक नहीं है । वर्षा होते ही घर टपकने लगेगा । नागमती अपने प्रिय को संबोधित करके कहती है कि हे कंत जहाँ तुम हो उस देश में क्या ऋतुएं नहीं होतीं जो तुम्हें मेरा ध्यान आए और तुम घर लौट आओ ।

8.3 शब्दकोश (Keywords)

1. **धमारी:** एक राग विशेष।
2. **बारहमासा वर्णन:** इसके अंतर्गत कविगण साल के बारह महीनों की अलग-अलग दशाओं का वर्णन करते हैं।
3. **माघ-पूस:** हिंदी महीनों के नाम, जिनमें सर्दी अपने चरम पर होती है।

8.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. 'नागमती वियोग वर्णन हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है।' स्पष्ट कीजिए।
2. नागमती वियोग वर्णन की विशेषताएँ बताइए।
3. 'जायसी नागमती के वियोग वर्णन के माध्यम से नागमती को राजसी वैभव से हटाकर एक साधारण स्त्री के रूप में चित्रित करने में सफल रहे हैं' नागमती वियोग वर्णन के आधार पर समझाइए।

उत्तर-स्वमूल्यांकन (Answer-Self Assessment)

- | | |
|---------------------|--------------|
| 1. बादलों की गर्जना | 2. विरहाग्नि |
| 3. सिर | 4. काग |

8.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



- पुस्तकें
1. पद्मावत—मलिक मुहम्मद जायसी कृत।
 2. जायसी ग्रन्थावली—शुक्ल रामचंद्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
 3. मलिक मुहम्मद जायसी—बी.सी. पाण्डेय, विनोद प्रकाशन।

इकाई 9

नोट

पद्मावत-गोरा-बादल युद्ध खंड: व्याख्या भाग**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

9.1 गोरा-बादल युद्ध खण्ड: सप्रसंग व्याख्या

9.2 सारांश (Summary)

9.3 शब्दकोश (Keywords)

9.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

9.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- पद्मावत में वर्णित गोरा-बादल की कथा से परिचित होंगे।

प्रस्तावना (Introduction)

महाराजा रत्नसेन दिल्ली सुल्तान द्वारा छल से बन्दी बना लिए गए। उन्हें कैद से छुड़ाने के लिए गोरा और बादल ने आपस में परामर्श करके छल का प्रत्युत्तर छल से देने का निश्चय किया। उन्होंने सोलह सौ पालकियाँ सज्जित करवाकर उनमें हथियारों से लैस योद्धा बिठा दिए। एक पालकी में पद्मावती के नाम से सजाकर लोहार बैठा दिया गया और यह कहते हुए दिल्ली की ओर चल पड़े कि रानी पद्मावती दिल्ली जा रही है। दिल्ली पहुँचकर उन्होंने बन्दीगृह के रक्षक को दस लाख मुद्राएँ देकर अपनी ओर मिला लिया और उसके माध्यम से सुल्तान को यह सन्देश पहुँचाया कि पद्मावती आपके पास आने से पूर्व स्वपति से मिलकर उसे दुर्ग की चाबियाँ सौंपने की आज्ञा चाहती है। सुल्तान की ओर से यह आज्ञा मिल जाने पर लोहार ने राजा के बन्धन काट दिये और पूर्व-नियोजित कार्यक्रम के अनुसार रत्नसेन बादल की संरक्षता में चित्तौड़ की ओर रवाना हो गया। उस षड्यंत्र का रहस्य खुलने पर शाह की सेना ने रत्नसेन को बन्दी बनाने के लिए पीछा करना चाहा किन्तु बादल का चाचा गोरा अपने साथियों के साथ उसे तब तक आगे बढ़ने से रोकता रहा जब तक कि रत्नसेन चित्तौड़ नहीं पहुँच गया। अंततः गोरा वीरगति को प्राप्त हो गया।

9.1. गोरा-बादल युद्ध खण्ड : सप्रसंग व्याख्या

मंते बैठे बादल औ गोरा। सो मत कीज परै नहिं भोरा। 1।

पुरुख न करहिं नारि मति कांची। जस नौसाबैं कीन्ह न बांची। 2।

हाथ चढ़ा इसिकंदर बरी। सकति छांड़ि कै भै बंदि परी। 3।

सजग जो नाहिं काह बर कांधा। बधिक हुते हस्ती गा बांधा। 4।

देवन्ह चलि आई असि आंटी। सुजन कंचन दुर्जन भा मांटी। 5।

कंचन जुरै भए दस खंडा। फुटि न मिलै मांटी कर भंडा। 6।

जस तुरुकन्ह राजहिं छर साजा। तस हम साजि छड़ावहिं राजा। 7।

पूरुख तहां करै छर जहं बर कीन्हें न आंट।

जहां फूल तहां फूल होइ जहां कांट तहां कांट॥ 53/1॥

शब्दार्थ—मंते=सलाह करने के लिए। भोरा=भूल, धोखा। कांची=कच्ची। नौसाबैं=नौशाबा। इसिकंदर=सिकन्दर। हुते=होते हुए। गा बांधा=बन्दी बनाना। आंटी=परम्परा। भंडा=बरतन। छर=छल। साजा=किया है। आंट=पूरा करना।

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियां गोरा-बादल युद्ध खण्ड की आरंभिक पंक्तियां हैं। इससे पूर्ववर्ती खण्ड में कवि इस तथ्य का वर्णन कर चुका है कि शाह अलाउद्दीन की कैद से अपने पति को छुड़ाकर लाने का उत्तरदायित्व पद्मावती गोरा और बादल को सौंप चुकी। इन पंक्तियों में गोरा और बादल यह मंत्रणा करते दिखाए गए हैं कि चूंकि शाह अलाउद्दीन द्वारा रत्नसेन को छलपूर्वक बन्दी बनाया गया था अतः हमें भी अलाउद्दीन के साथ छल करते हुए राजा को कैद से छुड़ाना चाहिए।

व्याख्या—कविवर जायसी वर्णन करते हैं कि गोरा और बादल ने बैठकर मंत्रणा की। वे सोचने लगे कि हमें कोई ऐसी मंत्रणा (युक्ति) करनी चाहिए कि उसमें धोखा न खाना पड़े। पुरुषों को ऐसी कच्ची बुद्धि नहीं रखनी चाहिए जैसी कच्ची बुद्धि स्त्रियों की हुआ करती है। क्योंकि जिस प्रकार नौशाबा ने कच्ची बुद्धि से काम लिया था उसके कारण वह बच नहीं सकी थी। सिकन्दर उसके हाथ पड़ गया था। किन्तु उसकी कच्ची बुद्धि के कारण उसके चंगुल से छूट ही नहीं गया था अपितु उसको सिकन्दर का बन्दी होना पड़ा था। यदि कोई व्यक्ति असावधान हो तो उसके कंधों के बल का क्या लाभ है?—भाव यह है कि बलवान व्यक्ति भी यदि सावधान नहीं रहता तो वह ताकत के होते हुए भी चक्कर में पड़ जाता है। उदाहरण के लिए हाथी अत्यधिक बलवान होते हुए शिकारी द्वारा बन्धन ग्रस्त कर लिया जाता है। इस प्रकार की बहुत-सी उक्तियां देवों से ही चली आई हैं कि सज्जन सोने के समान होते हैं और दुर्जन मिट्टी के घड़े के समान। सोना अनेक टुकड़े होने पर भी जुड़ जाता है किन्तु मिट्टी का घड़ा एक बार टूट जाने पर फिर नहीं जुड़ पाता। जैसा तुर्कों ने राजा के साथ छल किया है वैसा ही छल करके हमको राजा को उनके बन्धन से छुड़ाना चाहिए।

पुरुष उस स्थान पर छल किया करता है जहां उसकी शक्ति उसका साथ नहीं दिया करती। जहां पुष्प हों वहां पुष्प बनकर रहना चाहिए और जहां कांटें हों वहां कांटा बनकर रहना चाहिए। भाव यह है कि भले लोगों के साथ भला जबकि दुष्टों के साथ दुष्टतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

साहित्यिक सौन्दर्य — 1. ‘नारि मति कांची’ से गोरा बादल का संकेत पद्मावती के उस कथन से है जिसमें उसने जोगिन बनकर बन्दी गृह से रत्नसेन को छुड़ा लाने की बात कही थी—

**“पिय जहं बन्दी जोगिन होइ धावौ,
हौं होइ बंदि पियहि मोंकरावौ।”**

पद्मावती, गोरा और बादल तीनों प्राणियों द्वारा रत्नसेन को बन्धन से मुक्त कराने के उपाय के संदर्भ में गोरा बादल को पद्मावती की यह मति कच्ची प्रतीत होती है वह स्वयं योगिनी के वेश में दिल्ली जाए।

2. जस नौसाबैं कीन्ह न बांची— इस पंक्ति में उस अंतर्कथा का उल्लेख जिसका निजामीकृत सिकन्दरनामा में उल्लेख मिलता है। सिकन्दरनामा के अनुसार नौशाबा बुर्द देश की अविवाहित रानी थी। वह उसके यहां वेश बदलकर दूत के रूप गया था। रानी सिकन्दर को पहचान गई थी किन्तु इस प्रकार पहचानकर भी सिकन्दर को छोड़ दिया था। बाद में सिकन्दर ने इस रानी पर अधिकार करके उसको अपने अधीन मित्र बनाया था।

3. “हाथ चढ़ा बन्दी परी” — इस पंक्ति का मूल तात्पर्य यह है कि जैसे नौशाबा ने हाथ पड़े सिकन्दर को छोड़ दिया था उसी प्रकार अलाउद्दीन भी दुर्ग में आने पर रानी पद्मावती के कब्जे में आ गया था, किन्तु तब इसने उसको उसी प्रकार छोड़ दिया था या दुर्ग में निकल जाने दिया था जैसे नौशाबा ने सिकन्दर को निकल जाने दिया था।

4. बधिक हुते हस्ती गा बांधा— **डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल** ने इस संदर्भ में निम्नांकित लोककथा (पंचतंत्र के आधार पर) दी है।

“किसी प्रदेश में बहुत से चूहे बिल बनाकर रहते थे। वहां से हाथियों का राजा झुंड के साथ पानी पीने के लिए निकला। बहुत से चूहे कुचल गए। जो बचे उन्होंने एक उपाय सोचा और जाकर हाथियों के राजा से कहा, आप हम पर दया कीजिए तो हम भी किसी दिन आपकी सेवा करेंगे ताल पर जाने के लिए कोई दूसरा मार्ग चुन लें। उसने यह बात मान ली। कभी एक राजा ने अपने बहेलिए को हाथी पकड़ने का आदेश दिया। उन्होंने हाथियों के राजा को

नोट

झुंड के साथ पकड़ लिया और मोटे रस्सों से पेड़ से बांध दिया। तब हाथियों के राजा ने चूहों के पास समाचार भेज कर उन्हें बुलवाया और बन्धन से मुक्ति पाई।”

5. ‘पुरुख बांची’ में दृष्टांत अलंकार।

6. ‘सजग जो बांधा’ में दृष्टांत अलंकार।

7. ‘सुजन मांटी’ में उपमा अलंकार।

8. ‘कंचन भंडा’ में लोकोक्ति अलंकार।

9. ‘जस तुरुकन्ह राजा’ में उदाहरण अलंकार।

10. दोहे में इस लोकोक्ति का प्रयोग किया गया है— Tit for tat अथवा जैसे को तैसा व्यवहार करना चाहिए।

सोरह सौ चंडोल संवारे। कुंवर संजोइल कै बैसारे। 1।

साजा पदुमावति क बेवानू। बैठ लोहार न जानै भानू। 2।

रचि बेवान तस साजि संवारा। चहुं दिसि चंवर करहिं सब ढारा। 3।

साजि सबै चंडोल चलाए। सुरंग ओढ़ाए मोति तिन्ह लाए। 4।

भै संग गोरा बादिल बली। कहत चले पदुमावति चली। 5।

हीरा रतन पदारथ झूलहिं। देखि बेवान देवता भूलहि। 6।

सोरह सै संग चलीं सहेली। कंवल न रहा औरु को बेली। 7।

रानी चली छड़ावै राजहिं आपु होइ तेहि ओल।

बतिस सहस संग तुरिअ खिंचावहि सोरह सै चंडोल॥11/2॥

शब्दार्थ—चंडोल=एक प्रकार की पालकी जो हाथी के हौदे अथवा अंबारी के आकर की होती थी और उसको चार आदमी उठाकर ले जाते थे। संजोइल=सजाकर। बैसारे=बिठाए। बेवानू=विमान, रथ। न जानै भानू= इस बात का रहस्य सूर्य भी नहीं जानता था। तस=उस प्रकार का। ढारा=डुबाना। सुरंग ओढ़ाइ= लाल वस्त्रों से ढककर। बतिस सहस=बत्तीस हजार।

संदर्भ—गोरा और बादल को पद्मावती की यह युक्ति तो अच्छी नहीं लगी कि वह योगिनी के वेष में जाकर राजा रत्नसेन को अलाउद्दीन के बंदीगृह से छुड़ा कर लाएं। हां उन्होंने यह निश्चय किया कि जब अलाउद्दीन ने रत्नसेन को धोखे से बन्दी बनाया है तो हमें भी उसके साथ धोखे का व्यवहार करना चाहिए। इस बात का निश्चय करके उन्होंने सोलह सौ पालकियां सजाकर उनमें सरदारों को गुप्त रीति से बिठाया, तथा एक पालकी जिसमें लोहार बैठा हुआ था, उसके विषय में यह प्रचार करते हुए कि इसमें बैठकर पद्मावती दिल्ली जा रही है, वे दिल्ली की ओर चल पड़े। प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने इसी तथ्य का वर्णन किया है।

व्याख्या—कवि जायसी कहते हैं कि सोलह सौ पालकियां सजाई गईं और उनमें राजपूत सरदारों को शस्त्रों से सज्जित करके बिठाया गया। पद्मावती के लिए भी एक विमान तैयार किया गया और उसमें एक लोहार को इतनी गुप्त रीति से बिठाया गया कि स्वयं सूर्य को भी इस बात की भनक नहीं मिल सकी कि उसमें लोहार बैठा है— भाव यह है कि जब सर्वज्ञ सूर्य को भी इस भेद का ज्ञान न हो सका तो किसी अन्य व्यक्ति को इस तथ्य का ज्ञान होने का प्रश्न नहीं उठता। वह विमान उसी प्रकार सज्जित किया गया था जैसा पद्मावती का विमान सज्जित होना चाहिए और उस पर चारों ओर से चंवर ढाले जा रहे थे। इस प्रकार पालकियों और विमान को सजाकर उन्हें दिल्ली की ओर रवाना कर दिया गया। उनके ऊपर लाल पर्दे पड़े हुए थे और उन पर मोती टंके हुए थे। उन पालकियों और विमानों के साथ-साथ गोरा और बादल चलने लगे और वे यह प्रचार करते जा रहे थे कि पद्मावती दिल्ली जा रही है। पद्मावती के विमान में हीरा, मोती और उत्तम रत्न लटक रहे थे, जिनकी शोभा को देखकर देवता भी मोहित हो उठते थे। यह भी प्रचार किया गया कि पद्मावती के साथ उसकी सोलह हजार सखियां भी जा रही हैं। जब पद्मावती ही न रही तो फिर उसकी सखियां ही (चित्तौड़ में) रुककर क्या करतीं? जब कमल ही न रहा तो दूसरी बेल या लताएं उस (फुलवाड़ी) में ठहरकर क्या करतीं?

नोट

गोरा और बादल यह कहते जाते थे कि रानी पद्मावती स्वयं को बन्धक रखकर राजा को छुड़ाने के लिए जा रही है। वह अपने साथ बत्तीस हजार घोड़े और सोलह सौ चंडोल ले जा रही है।

साहित्यिक सौन्दर्य—1. जायसी ने चंडोल का स्त्रियों की बढ़िया सवारी के रूप में वर्णन किया है।

2. 'सुरंग ओढ़ाई मोति तिन्ह लाए'— के संदर्भ में डॉ. अग्रवाल ने स्पष्ट किया है कि — “चंडोल के ऊपर कीमती ओहार ओढ़ाने की प्रथा थी जिसमें मोतियों की झालरें लगी रहती थीं। चित्रावली में भी वर्णन है।

“अपुरब एक ओहार सुहावा।

बिबिध भांति कै आनि ओढ़ावा।

झूलहिं चहुं दिसि झालर मोती।

छिटकि रही जग जगमग जोती।”

3. 'बैठ लोहार भानू' में अतिशयोक्ति अलंकार।

4. 'हीरा झूलहिं' में अतिशयोक्ति अलंकार।

5. 'कंवल बेली' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

राजा बंदि जेहि की सौंपना। गा गोरा ता पहं अगुमना। 1।

टका लाख दस दीन्ह अंकोरा। बिनती कीन्ह पाय गहि गोरा। 2।

बिनवहु पातसाहि पहं जाई। अब रानी पदुमावति आई। 3।

बिनै करै आई हौं डीली। चितउर की मो सिउं है कीली। 4।

एक घरी जौं अग्यां पावौं। राजहिं सौंपि मंदिल कहं आवौं। 5।

बिनवहु पातसाहि के आगें। एक बात दीजै मोहिं मांगे। 6।

हते रखवार आगें सुलतानी। देखि अंकोर भए जस पानी। 7।

लीन्ह अंकोर हाथ जेईं जाकर जीव दीन्ह तेहि हांथ।

जो वहु कहै सरै सो कीन्हे कनउड़ झार न मांथ ॥ 53/3 ॥

शब्दार्थ—अगुमना=आगे होकर। टका=टका नामक चांदी का रुपया जो उस काल में चला करता था। अंकोरा=भेंट, रिश्वत। डीली= दिल्ली। कीली=पुराने ढंग के तालों में लगने वाली कीली या मेखनुमा चाबी। मंदिल=भवन। आगें=अत्यंत क्रोधी। अंकोर=घूस। सरै सो कीन्हे=वह करते ही बनता है। कनउड़=कनौड़ा, अहसानमन्द।

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में कविवर जायसी ने इस तथ्य का वर्णन किया है कि उन पालकियों और विमान के आगे जाकर गोरा शाह अलाउद्दीन के रक्षकों से मिला और उनको दस लाख टके की भेंट देकर यह प्रार्थना की कि आप शाह से जाकर यह निवेदन कीजिए कि चित्तौड़ के दुर्ग की चाबी देने के लिए रानी पद्मावती महाराजा रत्नसेन से एकांत में भेंट करना चाहती है।

व्याख्या—कवि मलिक मोहम्मद जायसी वर्णन करते हैं कि राजा रत्नसेन जिस बन्दीगृह में था, गोरा उस बन्दीगृह के मालिक से मिला और उसको दस लाख टके की भेंट (रिश्वत) प्रदान की। यह भेंट देकर उसने उसके चरण पकड़कर बिनती की कि आप बादशाह के समीप जाकर यह निवेदन कीजिए कि रानी पद्मावती आ गई हैं और वह आपके सम्मुख यह प्रार्थना करती हैं कि मैं दिल्ली में आ पहुंची हूं। हां, चित्तौड़ के दुर्ग की चाबी मेरे पास है। यदि एक घड़ी के लिए आपकी आज्ञा मिल जाए तो मैं उस चाबी को रत्नसेन को सौंपकर आपके महल में आ जाऊं। गोरा ने बन्दीगृह के रक्षक से मनुहार करते हुए कहा कि मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप मुझको यह बात मांगे दीजिए— अर्थात् मेरी प्रार्थना स्वीकार करके शाह अलाउद्दीन से यह आज्ञा प्राप्त कर लीजिए कि रानी राजा से घड़ी भर के लिए मिल सके। कवि जायसी कहते हैं कि शाह के रक्षक आग के बने हुए थे, किन्तु उस रिश्वत को देखकर वे पानी हो गए।

रिश्वत के दुष्प्रभाव का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि जिसने जिसके हाथ से रिश्वत ले ली उसने उसके हाथ में अपने प्राण दे दिए समझना चाहिए— अभिप्राय यह है कि रिश्वत लेकर व्यक्ति रिश्वत देने वाले के हाथों अपनी

नोट

जान बेच देता है। उससे वही करते बनता है जो रिश्वत देने वाला चाहता है। जो एहसान से दबा हुआ हो वह एहसान करने वाले की गर्दन नहीं काट सकता। अभिप्राय यह है कि उससे रिश्वत देने वाले का अहित करते नहीं बनता और वह उसकी इच्छापूर्ति के लिए विवश हो जाता है।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. रिश्वत की दुष्प्रथा भेंट आदि के रूप में प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है। कवि जायसी ने प्रस्तुत पंक्तियों में अलाउद्दीन के पहरदारों को रिश्वतखोर चित्रित किया है।

2. 'कनउड़ झार न माथ' में इस लोकोक्ति का प्रयोग किया गया है कि जो जिसका दबैल है वह उसे हलाल नहीं कर सकता।

3. प्रस्तुत पंक्तियों से गोरा की कूटनीतिज्ञता पर भी प्रकाश पड़ता है। वैसे वह क्षत्रिय है किन्तु अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए अलाउद्दीन के पहरदारों के समक्ष गिड़गिड़ाना अनुचित नहीं समझता।

4. 'हते जस पानी' में उपमा अलंकार।

5. दोहे में लोकोक्ति अलंकार।



क्या आप जानते हैं

'टका लाख दस दीन्ह अंकोश। बिनती कीन्ह पाय गहि गोरा'। इन पंक्तियों के माध्यम से जायसी ने तत्कालीन समाज में रिश्वतखोरी की ओर इशारा किया है। गोरा द्वारा बंदीगृह के दरबान को भेंट स्वरूप मुद्रा देना रिश्वत का ही रूप है।

लोभ पाप कै नदी अंकोरा। सत्तु न रहै हाथ जस बोरा। 1।

जहं अंकोर तहं नेगिन्ह राजू। ठाकुर केर बिनासहिं काजू। 2।

भा जिउ धिउ रखवारन्ह केरा। दरब लोभ चंडोल न हेरा। 3।

जाइ साहि आगें सिर नावा। ऐ जग सूर चांद चलि आवा। 4।

औ जावंत संग नखत तराई। सोरह सै चंडोल सो आई। 5।

चितउर जेति राज कै पूंजी। लै सो आई पदुमावति कूंजी। 6।

बिनति करै कर जोरें खरी। लै सौंपौं राजहिं एक घरी। 7।

इहां उहां के स्वामी दुहू जगह मोहि आस।

पहिलें दरस देखावहु तौ आवौं कबिलास॥53/4॥

शब्दार्थ – सत्तु=सत्य, आचरण। अंकोर=भेंट करके, डूबकर। नेगिन्ह=सेवकों। ठाकुर केर=स्वामी का। बिनासहिं=बिगाड़ते हैं। धिउ=धी, पिघल जाना। चांद चलि आवा=पद्मावती रूपी चन्द्रमा आ गया है। जावंत=जितनी। नखत तराई=नक्षत्रों और तारों रूपी सखियां। जेति=जितनी। आस=आशा। कूंजी=चाबी। कबिलास=स्वर्ग, महल।

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में कविवर जायसी ने शाह अलाउद्दीन के रिश्वतखोर रक्षकों द्वारा उससे जाकर यह प्रार्थना करने का वर्णन किया है कि चन्द्रमा रूपी पद्मावती अपनी नक्षत्र और तारों रूपी सखियों के साथ दिल्ली आ पहुंची है और एक घड़ी के लिए स्व-पति से मिलकर उसको दुर्ग की चाबियां सौंप देने की आज्ञा चाहती है।

व्याख्या—कवि कहता है लोभ और रिश्वत पाप की नदी है— भाव यह है कि रिश्वत की नदी लोभ से उत्पन्न होकर पाप की ओर बहती है। इस नदी में कोई प्राणी जैसे ही अपना हाथ डुबाता है उसका सत्याचरण खंडित हो जाता है। जहां घूस चलती है वहां नौकर-चाकरों का ही राज हो जाता है और वे मालिक का कार्य बिगाड़ने लगते हैं— रिश्वतखोर कर्मचारी विविध कार्यों को रिश्वत लेने के आधार पर ही देखते हैं, उन्हें न्याय-अन्याय की चिन्ता नहीं रहती। बन्दीगृह के रक्षकों का हृदय गोरा की भेंट (रिश्वत) पाकर घी की तरह पिघल गया। धन के लोभ के वशीभूत होकर उन्होंने चंडोलों की तलाशी नहीं ली। उन्होंने बादशाह के सम्मुख जाकर प्रणाम करते हुए कहा कि हे जगत् के सूर्य! चन्द्रमा रूपी पद्मावती चलकर आपके समीप आ पहुंची। उसके साथ बहुत-सी नक्षत्रों और तारों रूपी उसकी सखियां भी सोलह-सौ चंडोलों में दिल्ली आ पहुंची हैं। चित्तौड़ राज्य की जितनी पूंजी है, उस सरकारी खजाने की चाबी

पद्मावती के पास है। वह हाथ जोड़े खड़ी होकर आपसे प्रार्थना करती है कि यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं घड़ी भर के लिए राजा से मिलकर, चाबियों को स्व-पति को सौंप आऊँ।

पद्मावती के द्वारा प्रेषित प्रार्थना का वर्णन करते हुए बन्दीगृह का रक्षक आगे कहने लगा कि हे सुल्तान! पद्मावती ने निवेदन किया है कि जो मेरे लिए यहां अर्थात् पृथ्वी और वहां के अर्थात् परलोक के स्वामी हैं और दोनों ही लोकों में मुझको जिनकी आशा थी, पहले मुझे उनके अर्थात् मेरे पति के दर्शन करा दें तो फिर मैं आपके महल में आऊँ। श्री शिरेफ साहब ने यहां-वहां के स्वामी का अलाउद्दीन परक अर्थ लिया है जिसके अनुसार पद्मावती की प्रार्थना का उन्होंने यह अभिप्राय ग्रहण किया है कि हे शाह! आप ही मेरे इस लोक तथा परलोक के स्वामी हैं। आप मुझको मेरे पूर्व पति के एक बार दर्शन करा दीजिए जिससे मैं उनको दुर्ग की चाबी सौंपकर शीघ्र ही आपके समीप आ सकूँ।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. रिश्वत को लोभ और पाप की नदी बताना सर्वथा उचित है।

2. रिश्वतखोर कर्मचारियों द्वारा राज्यकार्य पहले से ही बिगाड़े जाते रहे हैं और अब भी बिगाड़े जाते हैं। धन के लोभ में बहुत से कर्मचारी अपने देश के गुप्त रहस्य दूसरे देशों के जासूसों को बता देते हैं। रिश्वतखोर कर्मचारियों वाले शासन में रहने वाले लोग उस प्रकार की व्यवस्था के लिए शासन को ही दोष दिया करते हैं।

3. दोहे में 'इहां-उहां के स्वामी' का श्री शिरेफ साहब द्वारा अलाउद्दीन परक अर्थ करना उचित नहीं प्रतीत होता। उसकी संगति इस दृष्टि से तो किन्हीं अंशों में बैठती है कि वह अलाउद्दीन को मूर्ख बनाने के लिए इस प्रकार की बातें कह रही है (वास्तव में पद्मावती तो आई ही नहीं थी, ये बातें तो गोरा द्वारा सुझाने पर कही गई थीं)। किन्तु एक हिन्दू रानी के मुख से इस प्रकार की बातें शोभा नहीं देतीं, इसीलिए तो डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने इनका सम्बन्ध राजा रत्नसेन के साथ स्थापित किया है। हमारी धारणा यह है कि गोरा द्वारा सुझाई गई बातों का संबंध यदि अलाउद्दीन से भी जोड़ लिया जाए तो अनुचित नहीं है। इसके साथ ही यह तथ्य भी विस्मृत नहीं करना चाहिए कि यह उक्ति षड्यंत्र का अंश है, अतः—

"Everything is fair in love and war"

की उक्ति के अनुसार इनका संबंध अलाउद्दीन से जोड़ना ही संगत है।

4. 'लोभ पाप.... अंकोरा' में रूपक अलंकार।

5. 'भा जिउ केरा' में उपमा अलंकार।

6. 'ऐ जग आवा' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

7. दोहे में वृत्यानुप्रास अलंकार।

अग्यां भई जाउ एक घरी। छूँछि जो घरी फेरि बिधि भरी। 1।

चलि बेवान राजा पहं आवा। संग चंडोल जगत गा छावा। 2।

पदुमावति मिस हुत जो लोहारू। निकसि काटि बंदि कीन्ह जोहारू। 3।

उठेउ कोपि जब छूटेउ राजा। चढ़ा तुरंग सिंघ अस गाजा। 4।

गोरा बादिल खांडा काढ़े। निकसि कुंवर चढ़ि चढ़ि भए ठाढ़े। 5।

तीख तुरंग गंगन सिर लागा। केहु जुगुति को टेकै बागा। 6।

जौं जिउ ऊपर खरग संभारा। मरनिहार सो सहसन्हि मारा। 7।

भई पुकार साहि सौं ससियर नखत सो नाहिं।

छर कै गहन गरासा गहन गरासे जाहिं॥ 53/5॥

शब्दार्थ—अग्यां=आज्ञा। छूँछि=निस्सार, व्यर्थ। मिस=बहाने से। हुत=था। काटि बंदि=बन्धन काटकर। जोहारू=प्रणाम। सिंघ अस=शेर की भांति। गाजा=गर्जना का। काढ़े=निकाल लिए। जुगुति=युक्ति, उपाय। बागा=लगाम। मरनिहार=करने वाले ने। सहसन्हि=सहस्रों को। ससियर=चन्द्रमा। नखत=नक्षत्र। छर कै=छल करके। गरासा=ग्रसा।

नोट

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने इस तथ्य का वर्णन किया है कि शाह अलाउद्दीन ने अपने रिश्तखोर अधिकारी की प्रार्थना सुनकर यह आज्ञा प्रदान कर दी की पद्मावती एक घड़ी के लिए स्व-पति से मिल कर उसको चाबी दे सकती है। यह आज्ञा मिलने पर विमान में बैठे लोहार ने राजा की हथकड़ियां और बेड़ियां काट डालीं।

व्याख्या—कवि कहता है कि शाह अलाउद्दीन की ओर से यह आज्ञा दे दी गई कि जाओ एक घड़ी के लिए राजा से मिल आओ। इस प्रकार जो घड़ी रीति या निस्सार थी वह शाह की आज्ञा द्वारा फिर से भर गई— भाव यह है कि उस एक घड़ी का अत्यधिक महत्त्व था। इस आज्ञा को पाकर वह विमान जिसमें पद्मावती के रूप में एक लोहार बैठा हुआ था राजा रत्नसेन के समीप लाया गया और उस विमान के साथ-साथ वे चंडोल भी लाए गए जिनके विषय में यह कहा गया था कि उसमें पद्मावती की सखियां बैठी हुई हैं। कवि कहता है कि उस विमान में पद्मावती के बहाने से जो लोहार बैठा हुआ था, उसने विमान में से निकल कर राजा रत्नसेन की हथकड़ी और बेड़ियां काट दीं और राजा को प्रणाम किया। कवि कहता है कि बन्धनमुक्त होने पर राजा रत्नसेन क्रोध करते हुए उठ कर खड़ा हो गया और वह घोड़े पर सवार होकर सिंह के समान गर्जना करने लगा। गोरा और बादल ने भी अपने-अपने खांडे निकाल लिए तथा चंडोलों से निकल-निकल कर सभी सामंत या कुमार भी अश्वों पर सवार हो गए। तीव्रगामी अश्वों के सिर आकाश को छूने लगे। किस उपाय द्वारा और कैसे कोई उनको बाग पकड़कर रोक सकता था? — भाव यह है कि वे घोड़े इतने बलशाली और तेज थे कि लगाम कसने का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था और वे आकाश की ओर उड़ जा रहे थे। जब कोई योद्धा अपने जीवन का मोह त्यागकर तलवार संभालता है तो वह मरते हुए भी हजारों को मार जाता है। कवि की इस उक्ति का संकेत इस तथ्य की ओर है कि गोरा और बादल के साथ आए हुए वे कुमार अपने मन में मरण-व्रत लेकर आए थे। उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगाने का निश्चय कर रखा था। यही कारण है कि उनमें से एक-एक योद्धा मुस्लिम सेना के हजारों सैनिकों के तुल्य था।

राजा रत्नसेन और उसके सैनिकों को इस प्रकार सज्जित होते देखकर चारों ओर यह पुकार मच गई कि विमान और चंडोलों में पद्मावती रूपी चन्द्रमा तथा तारिकाओं रूपी उसकी सखियां नहीं आई हैं, अपितु जिनको हमने छलपूर्वक ग्रहण में ग्रसा था अर्थात् रत्नसेन को छलपूर्वक बन्दी बनाया था वे अब हमको ग्रहण लगाकर अर्थात् छल द्वारा उल्लू बनाकर जा रहे हैं अथवा सूर्य-रूप शाह अलाउद्दीन को छल से ग्रहण ने ग्रस लिया है और राजपूत छल द्वारा बन्दी रत्नसेन को छुड़ाए लिए जा रहे हैं।

साहित्यिक सौन्दर्य — 1. गोरा और बादल द्वारा छल का जवाब छल से देने में अच्छी सूझबूझ दिखाई जाती है।

2. 'मरनिहार सो सहसन्ह मारा' के द्वारा जायसी ने इस तथ्य की ओर संकेत कर दिया है कि गोरा और बादल के साथ आए योद्धा सामान्य योद्धा नहीं थे अपितु उन सहस्र भटों जैसे थे, जिनमें से एक-एक योद्धा हजारों वीरों के समान होता है।

3. राजा रत्नसेन के बन्दीगृह से छूटते समय सिंह की भांति गरजने की कल्पना प्रसंग की भयंकरता की दृष्टि से उचित नहीं प्रतीत होती क्योंकि उसे छलपूर्वक बन्धन मुक्त कराया गया था। फिर भी शत्रु की राजधानी में रत्नसेन की सिंह गर्जना उसके अप्रतिम वीरत्व की परिचायक है।

4. 'छूछि भरी' में वृत्त्यानुप्रास अलंकार।

5. 'चढ़ा..... गाजा' में उपमा अलंकार।

6. 'तीख लागा' में अतिशयोक्ति अलंकार।

7. दोहे में रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

8. अन्तिम पंक्ति में वृत्त्यानुप्रास अलंकार।



नोट्स

कवि ने गोरा-बादल द्वारा सुल्तान अलाउद्दीन से छल किए जाने की योजना करके महाभारत काल से चली आ रही 'युद्ध और प्रेम में छल' की परंपरा का निर्वाह किया है और इसी आधार पर जायसी गोरा-बादल के छल को सूझ-बूझ मानते हैं।

लै राजहिं चितउर कहं चले। छूटेउ मिरिग सिंध कलमले। 1।
 चढ़ा साहि चढ़ि लागि गोहारी। कटक असूझ पारि जग कारी। 2।
 फिरि बादिल गोरा सौं कहा। गहन छूट पुनि जाइहि गहा। 3।
 चहुं दिसि आइ अलोपत भानू। अब यह गोइ इहै मैदानू। 4।
 तूं अब राजहिं लै चलो गोरा। हीं अब उलटि जुरौं भा जोरा। 5।
 दहुं चौगान तुरुक कस खेला। होइ खेलार रन जुरौं अकेला। 6।
 तब पावौं बादिल अस नाऊं। जीति मैदान गोइ लै जाऊं। 7।
 आजु खरग चौगान गहि करौं सीस रन गोइ।
 खेलौं सौंह साहि सों हाल जगत महं होई ॥53/6॥

शब्दार्थ – मिरिग=हिरण। कलमले=कुलबुलाए, खलबली मची। गोहारी=पुकार। कटक=दल। यह असूझ=जहां कुछ समझ में न आए या दिखाई न दे। छूटेउ मिरिग=डॉ. अग्रवाल के शब्दों में असंख्य तुर्कों के बीच में राजा मृग के समान असहाय था। उसके छूटते ही बड़े-बड़े तीसमारखां तुर्कों में खलबली पड़ गई अथवा मृग जाति का एक हाथी जिसकी आंखें बड़ी-बड़ी होती हैं। राजा रूपी हाथी के छूटने से तुर्क रूपी शेरों में खलबली पड़ गई। गहा=पकड़ा। अलोपत=लुप्त करते हुए। गोइ=छिप लेगा। जुरौं भा जोरा=संग्राम करूंगा। खेलार=खिलाड़ी। चौगान=एक खेल विशेष। गोइ=गेंद। हाल=गोल करने का स्थान।

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में इस तथ्य का वर्णन किया गया है कि यह ज्ञात होने पर कि गोरा और बादल छलपूर्वक राजा रत्नसेन को बन्दीगृह से छुड़ा कर लिए जा रहे हैं, सुल्तान की सेना उसको पुनः बन्दी बनाने के लिए निकल पड़ी।

व्याख्या—कवि कहता है कि गोरा-बादल और उनके साथी राजा रत्नसेन को बन्धनमुक्त करके, उसको साथ लेकर चित्तौड़ की ओर चल पड़े। रत्नसेन रूपी मृग के दूर जाने पर सिंह रूपी अलाउद्दीन कुलबुलाने लगा अथवा रत्नसेन रूपी मृग जाति के हाथी के छूटने पर तुर्क रूपी शेरों में खलबली मच गई। सेना को तैयार होने का आदेश देते हुए स्वयं शाह भी आक्रमण के लिए तैयार हो गया। उसकी असंख्य सेना के कारण सारे संसार में अंधकार व्याप्त हो गया। अभिप्राय यह है कि उसकी असंख्य सेना के चलने के कारण उड़ी हुई धूल ने आकाश को अन्धकारपूर्ण कर दिया। तब घूमकर गोरा बादल के समीप आकर कहने लगा कि हम स्वामी को जैसे-तैसे ग्रहण-रूपी सुल्तान की कैद से छुड़ाकर लाए थे जबकि वह ग्रहण अब पुनः लगना चाहता है—

भाव यह है कि सुल्तान राजा को पुनः बन्दी बनाना चाहता है। सूर्य-रूप अलाउद्दीन हमें घेरता चला आ रहा है। अब यह मेरा सिर ही मेरे लिए गेंद के तुल्य होगा जबकि यह युद्ध-क्षेत्र मेरे लिए खेल का मैदान होगा। हे गोरा तू यहां से राजा को सुरक्षित चित्तौड़ की ओर ले जा, जबकि अब मैं पीछे की ओर लौट कर शाह की सेना से भिड़ूंगा। अब मुझे यह देखना है कि तुर्क-सैनिक और उनका बादशाह युद्ध-रूपी चौगान को किस प्रकार खेलते हैं। मैं खिलाड़ी बनकर शाह अलाउद्दीन से संग्राम में अकेला भिड़ूंगा— भाव यह है कि मुझे युद्ध रूपी चौगान में शाह अलाउद्दीन को परास्त करना है।

गोरा बादल को समझाते हुए आगे कहने लगा कि आज मैं तलवार रूपी चौगान का बल्ला हाथ में लेकर युद्ध-क्षेत्र में शत्रु के सिर की गेंद बनाऊंगा। मैं शाह अलाउद्दीन के सामने पड़कर उसके साथ युद्ध-रूपी चौगान खेलूंगा, तभी संसार में हलचल मचेगी— मेरी कीर्ति छाएगी। मैं इस संसार को हाल बनाना चाहता हूँ— भाव यह है कि जैसे हाल में गेंद जाने पर खिलाड़ी की प्रशंसा होती है उसी प्रकार मैं भी शीश रूपी गेंद को हाल में पहुंचा कर अर्थात् उसको काटकर कीर्ति प्राप्त करूंगा।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. गोइ लै जाऊं— गेंद को विपक्षी खिलाड़ियों से बचाकर हाल पर गोल करने के स्थान तक ले जाना।

हाल— चौगान के मैदान के दोनों ओर बने गुमटीनुमा खम्भे, जिनके बीच में से गेंद निकलने पर गोल हुआ स्वीकार किया जाता था।

नोट

2. 'हाल जगत महं होइ'— के विषय में डॉ. 'अग्रवाल ने यह टिप्पणी दी है— "इसका यह भी संकेत है कि मेरे इस खेल का हाल या अन्तिम छोर यह संसार होगा। मुझे अपने मस्तक रूपी गेंद से उसके पार तक खेलना है।"

3. **चौगान**— चौगान के खेल के विषय में डॉ. राजपाल शर्मा ने अपने 'हिन्दी वीर काव्य' में 'सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति' शीर्षक शोध प्रबन्ध में निम्नांकित विवरण दिया है।

“कवि केशव-प्रदत्त विवरण से मध्यकाल में चौगान के अधोलिखित स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है— खेल के मैदान की लम्बाई सवा कोस होती थी। केशव के अनुसार इसके दोनों सिरों पर हाल बने होते थे जबकि भूषण ने उन्हें मीनारों की संज्ञा प्रदान की है। ब्लौखमैन ने आर्इन-ए-अकबरी का अनुवाद करते हुए हालों को क्रीड़ा-क्षेत्र के सिरों पर लगे हुए दो-दो खम्भों का द्योतक बताया है, जिसके बीच में गेंद निकाल देने पर गोल हो जाता था। प्रतीत होता है कि भूषण ने मुस्लिम शैली पर बने हुए हालों को ही मिनारें कहकर अभिहित किया है, जो कदाचित् हालों के लिए उस समय दूसरा प्रचलित शब्द था।

विभिन्न रंगों की (केशव ने काली, पीली, नीली और हरे रंग की छड़ियों का उल्लेख किया है) छड़ियां (हाकी स्टिक जैसी) लिए हुए अश्वारोही खिलाड़ी दो दलों में विभक्त हो जाते थे। गेंद जिस किसी खिलाड़ी की पहुंच में आ जाती थी वही उसे छड़ी मार कर हाल (गोल) की ओर ले जाने की चेष्टा करता था। जबकि विपक्षी उसके प्रयास को विफल करते हुए गेंद को दूसरी ओर ले जाने की चेष्टा करते थे। इस खेल की तीव्र गति के कारण अश्व और सवार सम्भवतः शीघ्र ही थकान अनुभव करने लगते थे, अतः प्रति बीस मिनट के पश्चात् दो पुराने खिलाड़ियों का स्थान नवीन खिलाड़ी ग्रहण कर लेते थे। यह पता अवश्य चलता है कि चौगान में दस से अधिक खिलाड़ी नहीं होते थे।

4. 'छुटेउ.... कलमले' में रूपक अलंकार।

5. 'चहुं भानू' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

6. 'अब मैदानू' में रूपक अलंकार।

7. 'दहुं खेला' में रूपक अलंकार।

8. दोहे में सांगरूपक।



टास्क गोरा-बादल को जायसी ने किस रूप में चित्रित किया है?

तब अंकम दै गोरा मिला। तूं राजहिं लै चलु बादिला। 1।

पिता मरै जो सारैं साथैं। मींचु न देइ पूत के मांथे। 2।

मैं अब आउ भरी औ भूजी। का पछिताउ आइ जौं पूजी। 3।

बहुतन्ह मारि मरौं जौं जूझी। ताकहं जनि रोवहु मन बूझी। 4।

कुंवर सहस संग गोरीं लीन्हें। औरु बीर संग बादिल दीन्हें। 5।

गोरहि समदि बादिला गाजा। चला लीन्ह आगें कै राजा। 6।

गोरा उलटि खेत भा ठाढ़ा। पुरुखन्ह देखि चाउ मन बाढ़ा। 7।

आउ कटक सुलतानी गंगन छपा मसि मांझ।

परत आव जग कारी होत आव दिन सांझ ॥ 53/7 ॥

शब्दार्थ—अंकम दै=आलिङ्गन करके। सारैं=रक्षा करना। साथैं=साथ वालों की। मींचु=मृत्यु। भरी=पूरी की। भूजी=भोगा। जूझी=युद्ध करते हुए। जनि=नहीं। बूझी=समझ कर। समदि=विदा करके। पुरुखन्ह=पूर्वज को (गोरा बूढ़ा था अतः चित्तौड़ के वीरों का पुरखा ही था)

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में कविवर जायसी ने इस तथ्य का वर्णन किया है कि गोरा ने गले मिलकर बादल को राजा के साथ चित्तौड़ जाने के लिए विदा कर दिया और स्वयं शाह अलाउद्दीन की सेना का सामना करने के लिए रुक गया।

नोट

व्याख्या—जायसी वर्णन करते हैं कि तदन्तर गोरा ने बादल को अपने गले से लगाकर कहा कि हे बादल! तू तो राजा को लेकर चित्तौड़ चला जा। सार्थ की रक्षा करते हुए पिता चाहे मारा जाए, किन्तु वह पुत्र के मस्तक पर संकट नहीं आने देता (इस पंक्ति का अभिप्राय यह है कि गोरा चाचा होने के कारण यह नहीं चाहता है कि उसके जीवित रहते हुए उसके भतीजे बादल का बाल भी बांका हो, इसीलिए वह हठ करके बादल को चित्तौड़ भेजना चाहता है)। मैंने अब अपनी पूरी आयु प्राप्त कर ली है और अनेक प्रकार के भोग भी भोग लिए हैं, अतः यदि मेरी आयु समाप्त भी हो जाती है अर्थात् यदि मैं युद्ध में मारा भी जाता हूँ तो भी पश्चाताप की कोई बात नहीं है। यदि मैं युद्ध में मारा भी जाऊंगा तो भी अपार तुर्क सैनिकों को मार कर मरूंगा— यह सोचकर तुम मेरे लिए अपने मन में विलाप मत करना।

कवि कहता है कि गोरा ने बादल को इस प्रकार समझा-बुझाकर अपने साथ एक हजार सैनिक रख लिए तथा अन्य वीरों को बादल के साथ कर दिया। गोरा के साथ अन्तिम भेंट करके बादल गर्जन लगा और राजा को अपने आगे करके चित्तौड़ की ओर चल पड़ा। गोरा पीछे की ओर लौटकर शाह अलाउद्दीन की सेना के सम्मुख अड़ गया। उसे देखकर वीर पुरुषों के हृदय में युद्ध का चौगुना उत्साह बढ़ गया।

शाह अलाउद्दीन की सेना की विशालता का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उसके चलने से उड़ी धूल के कारण आकाश अंधकार से ढक गया। संसार में काली घटा घिरी आ रही थी और दिन में ही संध्या होती जा रही थी। इस प्रकार का अन्धकार छाता जा रहा था जैसे संध्या के समय हुआ करता है।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. पिता मरै— मांथे— के संदर्भ में इस तथ्य का परिज्ञान आवश्यक है कि गोरा और बादल का संबंध चाचा और भतीजे का है।

2. दोहे में अतिशयोक्ति अलंकार।

होइ मैदान परी अब गोई। खेल हाल दहुं काकरि होई। 1।

जोबन तुरै सो रानी। चली जीति अति खेल सयानी। 2।

लट चौगान गोइ कुच साजी। हिम मैदान चली लै बाजी। 3।

हाल सो करै गोइ लै बाढ़ा। कूरी दुहूं बीच कै काढ़ा। 4।

भए पहार दुवौ वै कूरी। दिस्टि नियर पहुंचत सुठि दूरी। 5।

ठाढ़ बान अस जानसुं दोऊ। सालहिं हिए कि काढ़ै कोऊ। 6।

सालहिं तेहि न जासु हियं ठाढ़े। सालहिं तासु चहै ओन्ह काढ़े। 7।

मुहमद खेल पिरैम का घरी कठिन चौगान।

सीस न दीजै गोई जौं हाल न होइ मैदान ॥ 53/8 ॥

शब्दार्थ—गोई=गेंद। हाल=गेंद को कुड़ियों के बीच से निकाल देना, गोल, जीत, आनंद। दहुं=न जाने। काकरि=किसका। जोबन तुरै=यौवन रूपी घोड़ा। चौगान=चौगान नामक खेलने की छड़ी। कूरी=फारसी हाल के लिए यह संस्कृत परम्परा का शब्द था। नियर=समीप। सुठि दूरी=बहुत दूर। अस=समान। बान=बाण, धुनकी मूठ। घरी=खेल की एक पाली का समय। सालहिं=कष्ट देता है।

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में मलिक मोहम्मद जायसी ने ऐसी श्लिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया है कि इन पंक्तियों के चौगान खेलपरक, श्रृंगार परक तथा युद्ध परक तीन अर्थ निकलते हैं। इन तीनों अर्थों के लिए हम डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के ऋणी हैं, जिन्होंने इन पंक्तियों के निम्नांकित प्रकार के अर्थ दिए हैं—

चौगानपरक अर्थ—1. अब गेंद मैदान में आकर पड़ी है। खेल में न जाने हाल किसका होगा (विजय किसकी रहेगी)?

2. जीवन में भरी वह रानी तुरंग पर चढ़ी है। खेल में अति सयानी वह जीतकर चली है (या जीतने के लिए खेल आरम्भ किया है)।

3. वक्षस्थल पर लोटती हुई, लट चौगान के खेल का बल्ला है। गेंद कुच के समान सजाई है। वह रानी उमंग से मैदान में बाजी लेने चली है।

नोट

4. जो गेंद लेकर बढ़ता है और उसे दोनों खम्भों के बीच से निकालता है, वही हाल करता है। उसी की विजय होती है।

5. खेल के मैदान के अन्त में बनी दोनों कूरियां पहाड़ के समान हो गईं जो देखने में पास लगती थीं पर वहां तक पहुंचने में दूर थीं।

6. वे दोनों कूरियां बाण की तरह खड़ी थीं। वे खिलाड़ियों का हृदय व्यथित कर रही थीं कि कोई उनके बीच से गेंद निकाल कर दिखाए।

7. वे कूरी रूप बाण जिसके हृदय पर हैं उसे नहीं सालते, उसका हृदय सालते हैं जो उनके बीच से गेंद निकालना चाहता है।

8. (मुहम्मद) यह खेल प्रेम से मिलकर खेलने का है। चौगान के खेल की एक घड़ी की अवधि बड़ी कठिन होती है।

9. जब तक गेंद के साथ सार भी न दिया जाए, मैदान में जीत नहीं होती।

अपने उपर्युक्त अर्थ की निष्पत्ति के लिए डॉ. अग्रवाल ने इन पंक्तियों में प्रयुक्त शब्दों के चौगान परक अर्थ इस प्रकार दिए हैं—

1. **मैदान**— वह खेती हुई भूमि जहां चौगान किया जाता है। अबुलफ़ज़ल ने भी इसी शब्द का प्रयोग किया है। चौगान का खेल हिन्दू युग में वाजिवा ह्याली विनोद कहा जाता था। इसमें दोनों दलों में आठ-आठ खिलाड़ी होते थे। हाल करे तोरणद्वय, चौगान या मैदान को वाह्याली हेंगुर या डंडे को गेदिका (या गेडिका) गेंद को कन्दुक कहा गया है। लकड़ी के गोले पर चमड़ा मढ़कर इसकी गेंद बनाई जाती थी। डंडा चमड़े से मढ़ा जाता था। वह अग्रभाग में मढ़े हुए बेंत से बनता था और छह फुट लम्बा होता था। गोई=गेंद। फारसी गूय, इसके लिए प्राचीन शब्द गोटा और कंदुक थे। हाल-चौगान के मैदान के अन्त में दोनों ओर दो गुमटनुमा खंभे, आजकल की भाषा में गोल। उनके बीच से गेंद मारकर निकालने पर बाजी होती थी। उन्हीं का भारतीय नाम कूरी था। गोल होना=खेल में जीत होना। हाल करना (पृ.-4)= गोल करना। लारेन्स विनयन कृत कोर्ट पेन्टर्स आव दी ग्रांड मुगल्स पुस्तक के पृष्ठ 18 के सामने फलक 7 पर छपे शाहजादी हुमा गूयबाजी करदन' चित्र में राजकुमारी घोड़े पर चढ़कर सिरे पर मुड़ी हुई लकड़ी से गेंद छीनती हुई चौगान खेल रही है। मैदान के दोनों सिरों पर गुमटनुमा दो-दो खम्भे हैं जिनमें से बाईं ओर के दोनों साफ हैं, दाहिनी ओर का एक कुछ टूटा हुआ चित्र में बचा है। सूर ने भी चौगान के प्रसंग में मैदान, गोइ, और हाल का उल्लेख किया है।

2. **चौगान**— चौगान के खेल का डंडा या बल्ला भी चौगान कहलाता था। अंग्रेजी पोलो स्टिक। लट चौगान=छाती पर झूलती हुई लट की भांति मुड़ा हुआ बल्ला। दो अलक भुंवगिनी तेहि पर लोटा। हेंगुरि एक खेल दुई गोटा। वहां चौगान के बल्ले को हेंगुरि कहा गया है और उसकी तुलना रोमावली तक झूमती हुई लट से की गई है। 5721 2 में अलक को अंकुश कहा गया है। बाजी (1) बाजी=खेल-खेल में अपनी बारी। (2) घोड़ा-रानी अपना घोड़ा मैदान में दौड़ाने लगी। हिय=हृदय से उत्साहपूर्वक।

3. **हाल सो करै=दे.** पं. 1, हाल करना, हाल जीतना, हाल होना, ये तीनों प्रयोग प्राचीन साहित्य में मिलते हैं, जो अब गोल शब्द के साथ प्रचलित हैं। कूरी=फारसी हाल के लिए यह संस्कृत परम्परा का शब्द था। पछाहीं बोली में कूड़ी शब्द हाल या गोल के अर्थ में अभी तक प्रचलित है।

4. **भए पहार**— दोनों कूरियों तक गेंद पहुंचना अति दुस्साध्य हो गया। पहार=अति कठिन कार्य, दुष्कर कार्य। दिस्ति नियर पहुंचत सुठिरी—अबुलफ़ज़ल ने चौगान के मैदान की नाप का उल्लेख नहीं किया। बदायूनी के अनुसार अकबर ने आगरा के पास नगरची नामक स्थान में चौड़ाई 200 गज (हाकी के मैदान से तिगुनी) होती है। दोनों ओर की कूरियां एक-दूसरे से 250 गज की दूरी पर रहती हैं।

5. **ठाढ़ बान अस-बान**—शब्द के यहां दो अर्थ हैं— बाण और धुनने की मुठिया। कूरी या हाल की गुमाटियां मैदान में बाण-सी चुभी हुई लगती हैं। शृंगार पक्ष में दोनों स्तन बाण या मुठिया के समान हैं।

6. **घरी**— माताप्रसाद जी ने इसका पाठ 'खरी' किया है। अर्थ की दृष्टि 'खरी' पाठ समीचीन है और वही मूल ज्ञात होता है। आईन के अनुसार चौगान के खेल में प्रत्येक दो खिलाड़ी एक घड़ी (24 मिनट) तक खेलकर हट जाते थे और दूसरे खिलाड़ी उनकी जगह ले लेते थे। इस समय प्रत्येक खिलाड़ी आठ से दस मिनट तक खेल कर बदल

नोट

जाता है। चौगान— अबुलफजल ने इस खेल का विशेष वर्णन दिया है। बादशाह को इस खेल का बहुत शौक है। यह खेल मैदान में खेला जाता है। इसमें एक साथ दस खिलाड़ी से अधिक नहीं होते, किन्तु और बहुत से खिलाड़ी तैयार बैठे रहते हैं। जब एक घड़ी बीत जाती है तो दो खिलाड़ी सुस्ताने चले जाते हैं और उनकी जगह दो नए खिलाड़ी आ जाते हैं। चौगान के बल्ले से गेंद को मारते हुए मैदान के बीच के हाल की ओर ले जाते हैं। खेल के इस ढंग को हिन्दी में 'रोल' कहते हैं। दूसरा ढंग 'बेला' कहलाता है।

शृंगारपरक अर्थ— डॉ. अग्रवाल ने इन पंक्तियों का निम्नांकित शृंगारपरक अर्थ दिया है—

1. हृदयरूपी मैदान में कुच-रूपी गेंद पड़ी थी। काम-क्रीड़ा में आज हाल (विभिन्न कामदशाएँ) किसका होगा अथवा, हाल का आनन्द का अनुभव किसे प्राप्त होगा?
2. वह रानी यौवन के तुरंग पर चढ़ी हुई काम-क्रीड़ा में अति चतुर विजय के लिए चली।
3. उसकी एक लट चौगान के बल्ले के समान झूम रही थी। दोनों कुच गेंद के समान थे। वह हृदय रूपी मैदान में बाजी खेलने चली (कामदशा करने चली)।
4. जो कुच रूपी गेंद से आरंभ करता है और इन दोनों कूरियों को बीच में करके खींचता है वही हाल (आनन्द) करता है।
5. वे दोनों स्तन पर्वत की चोटियों के समान थे। वे दृष्टि के निकट किन्तु हाथ की पहुंच के दूर थे। दोनों स्तन धुनकी की मुठिया की भांति उठे थे।
6. कामातुरों के हृदय में कसक उत्पन्न करते थे कि कोई उनको खींचे।
7. जिसके हृदय पर वे स्तन थे उसे तो न सालते थे, पर उसे व्यथित कर रहे थे, जो उन्हें भींचना चाहता था।
8. मुहम्मद— प्रेम की क्रीड़ा घड़ी भर के लिए भी चौगान की भांति कठिन है।
9. इस मार्ग में जब तक गेंद के समान सिर भी न दिया जाए आनन्द के स्थान में असली सुख नहीं मिलता।
10. इस पद में जायसी ने चौगान और गेंद के खेल को शृंगार या प्रेम का रूपक मानकर कल्पना की है। कवि ने इस कथानक में आध्यात्म प्रेम का ही वर्णन किया है।

युद्धपरक अर्थ—

1. युद्ध के लिए मैदान में रानी गुप्त रीति से उतरी थी। रण में हलचल किसके साथ रहेगी।
2. यौवन में भरी हुई वह घोड़े पर सवार थी। खेलने में चतुर वह जीत कर जा रही थी।
3. वह अपना घोड़ा लिए हुए रणक्षेत्र में आयी। उसके लिए चौगान का खेल जाता रहा, उसने कुचों की शोभा छिपा ली।
4. जो योद्धा उसके सिर को गेंद की तरह लेकर बढ़ता है और दोनों दलों के बीच से उसको निकाल ले जाता है वही जंग में हाल (हलचल या यश) करता है।
5. रण क्षेत्र में वे दोनों एक दूसरे के लिए चट्टान के समान हो गए। देखने में पास-पास थे पर अंत तक पहुंचते हुए अतिदूर तक विस्तृत थे।
6. दोनों ऐसे जान पड़ते थे कि बाण (गोले) तैयार हों। कोई भी यदि उन बाणों को खींचकर छोड़ देगा तो वे हृदय सालने लगेंगे।
7. जिस वीर के पास वे बाण थे वे उसको नहीं सालते थे। पर जिसका लक्ष्य करके उन्हें खींचा जाता था, उसे सालते थे।
8. (मुहम्मद) प्रेम का खेल खेलो। चौगान-रूपी युद्ध की तो एक घड़ी भी कठिन है।
9. जब तक गोलों की तरह सिर भी न दिया जाय, रणभूमि में हलचल नहीं होती (यश नहीं मिलता)।
10. पूरी चौपाइयों में श्लेष अलंकार।
11. पूरी पंक्तियों में सांगरूपक।
12. 'सालहिं काढ़े' में विरोधाभास अलंकार।

नोट

फिरि आगें गोरीं तब हांका। खेलौं आजु करौं रन साका। 1।
 हौं खेलौं धौलागिरि गोरा। टरीं न टारा बाग न मोरा। 2।
 सोहिल जैस इंद्र उपराहीं। मेघ घटा मोहि देखि बिलाहीं। 3।
 सहसौं सीसु सेस सरि लेखौं। सहसौं नैन इंद्र भा देखौं। 4।
 चारिउ भुजा चतुर्भुज आजू। कंस न रहा औरु को राजू। 5।
 हौं होइ भीवं आजु रन गाजा। पाछें घालि दंगवै राजा। 6।
 होइ हनिवंत जमकातरि ढाहीं। आजु स्यामि संकरें निरबाहीं। 7।
 होइ नल नील आजु हौं देउं समुंद महं मेंड़।
 कटक साहि कर टेकौं होइ सुमेरु रन बेंड़॥ 53/9॥

शब्दार्थ—फिरि=धूमकर, लौटकर। हांका=गर्जना की। साका=विशेष पराक्रम। सोहिल=अगस्त्य तारा। इंद्र उपराहीं=वर्षा समाप्त हो जाती है। बिलाहीं=छिप जाऊंगा। साहसौं=हजारों। सेस=शेषनाग। सरि लेखौं=समान दिखाई दूंगा। चतुर्भुज=भुजाओं वाले विष्णु का रूप। भीवं=भीमसेन। दंगवै=दंगव या दुंगपति नामक राजा। स्यामि=स्वामी को। सैकरें=संकट से। निरबाहीं=निर्वाह करूंगा, छुटकारा दिलाऊंगा। मेंड़=रोक लगाना। बेंड़=आड़ा डंडा।

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने शाह अलाउद्दीन की सेना का सामना करते समय वीर गोरा की दर्पोक्तियों का वर्णन किया है।

व्याख्या—कवि जायसी वर्णन करते हैं कि तदन्तर अर्थात् बादल को चित्तौड़ की ओर रवाना करके गोरा ने पीछे की ओर मुड़कर अर्थात् शाह अलाउद्दीन की सेना का सामना करते हुए वीरगर्जना करके कहा कि मैं आज युद्ध-स्थल में साका का खेल दिखाऊंगा अर्थात् विशेष पराक्रम प्रदर्शित करूंगा। आज मैं युद्धस्थल में हिमालय की भांति अडिग होकर युद्ध का खेल खेलूंगा और किसी के भी द्वारा हटाने की चेष्टा करने पर पीछे की ओर नहीं हटूंगा और अपने अश्व की बाग को नहीं मोड़ूंगा अर्थात् मेरा घोड़ा आगे ही बढ़ता जाएगा वह पीछे की ओर नहीं हटेगा। मैं सोहिल के समान अर्थात् अगस्त्य तारे की भांति वृष्टि के देवता इंद्र के ऊपर रहूंगा। मुझको देखकर ही शत्रु की मेघों के समान सेनाएं पीछे हट जाएंगी। अब मैं स्वयं को युद्धस्थल में हजार फण वाले शेषनाग के तुल्य समझूंगा अर्थात् अपने एक नहीं अपितु हजार शीश समझूंगा और दो नेत्रों के स्थान पर इंद्र के हजार नेत्रों की भांति शत्रु की सेना को देखूंगा। आज मैं स्वयं को चतुर्भुज विष्णु के समान समझूंगा। शाह अलाउद्दीन को अपनी वीरता पर अभिमान है किन्तु उसको यह नहीं भूलना चाहिए कि जब बलशाली कंस का ही अस्तित्व नहीं रहा है तो अन्य किसी के जीवित बचने का प्रश्न ही नहीं उठता। आज मैं कुन्ती-पुत्र भीमसेन की भांति राजा दंग को पीछे रखकर युद्ध करने की भांति, राजा रत्नसेन को अपने पीछे रखते हुए युद्ध करूंगा। मैं हनुमान के रूप में अहिरावनपुरी में लगी हुई जमकातरों को ढहा दूंगा और अपने स्वामी को संकट से पार लगाऊंगा।

युद्धस्थल में वीर गर्जना करते हुए गोरा आगे कहने लगा कि मैं आज नल-नील बनकर युद्धरूपी सागर में मेंड़ (दीवार) बांध दूंगा और सुमेरु पर्वत के रूप में अडिग रहकर शाह की सेना को रोक लूंगा।

साहित्यिक सौन्दर्य — वीर गोरा की दर्पोक्तियों से संबंधित इन पंक्तियों में जायसी ने अनेक अंतर्कथाओं का उल्लेख किया है, जिनमें से मुख्य ये हैं—

1. भीमसेन द्वारा राजा दंग की रक्षा किया जाना।
2. इंद्र के समान हजार आंखों से देखना।
3. हनुमान की भांति अहिरावण के दुर्ग में लगी जमकातरों को तोड़कर स्वामी की रक्षा करना।
4. नल और नील द्वारा समुद्र पर मेंड़ या पुल बनाना।

इन चारों अंतर्कथाओं को संक्षेप में आगे दिया जा रहा है।

1. भीम और दंग— यद्यपि डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने विभिन्न शब्दों के पाठ-शोधन तथा प्राचीन आख्यानों को देने में भागीरथ प्रयत्न किया है तो भी उनके ज्ञान की भी सीमाएं रही हैं। उदाहरण के लिए वे प्रस्तुत पंक्तियों में आए भीवं और दंगवै राजा का ठीक अर्थ नहीं समझ पाए हैं और उन्होंने इस पंक्ति का यह अर्थ दिया है—

“द्रंगपति राजा को पीछे डालकर मैं भीम बनकर आज रण में गरजूंगा।” उन्होंने जो शब्दार्थ और टिप्पणियाँ दी हैं उनमें भीम को उन्होंने गुजरात के राजा भीमदेव द्वितीय चालुक्य का वाचक बताते हुए कहा है—

“भीम (1173-1241) ने मोहम्मदगोरी के चित्तौड़ पर आक्रमण के समय वहाँ के राजा की सहायता की थी और गोरी की सेना को परास्त किया था। दंगवै-द्रंगपति-दंगवै।

इस संदर्भ में डॉ. राजपाल शर्मा की 15-1-77 के दैनिक हिन्दुस्तान में ‘लोकवाणी’ शीर्षक के अंतर्गत छपी शोधात्मक टिप्पणी को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। जिससे इस संबंध में नई सूचनाएं मिलती हैं—

“जायसी ने पद्मावत में कुंती-पुत्र भीम द्वारा पाटन-नरेश दंग को शरण प्रदान करके उसकी रक्षा में श्रीकृष्ण सहित 33 करोड़ देवों से युद्ध करने की लोककथा का अनेक बार उल्लेख किया है और युद्ध में अहुंठो (साढ़े तीन) वज्र एकत्र होते दिखाए हैं। **आचार्य शुक्ल** की जायसी ग्रंथावली में इन शब्दों के शुद्ध पाठ नहीं मिलते। उसमें अहुंठो का पाठ आठौं है जबकि दंगलै को उन्होंने ‘डूंगवै’ मानकर उसका टीका किया है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने इन शब्दों के शुद्ध पाठ तो दिए हैं किन्तु दंगवै और भीम के अर्थों में उन्होंने खींचातानी की है। दंगवै को उन्होंने संस्कृत में द्रंगपति से जोड़ते हुए उसका अर्थ दुर्गपति या राजा किया है जबकि भीम का संबंध उन्होंने गुजरात नरेश ‘भोलो भीम’ स्वीकार करते हुए भोलो भीम द्वारा किसी चित्तौड़ नरेश की रक्षा में युद्ध करने का अभिप्राय ग्रहण किया है। इस पंक्ति का परवर्ती टीकाकारों ने जैसे — डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत (पद्मावत का शास्त्रीय भाष्य) तथा डॉ. विजयेन्द्र स्नातक (काव्य पारिजात नामक काव्य-संकलन की पाद टिप्पणियों) ने डॉ. अग्रवाल की ही भांति अर्थों की उद्धरणा कर दी है।

वास्तव में जायसी ने इस संदर्भ में उस लोक कथा का आश्रय लिया है जो अवध में डंगव-पर्व और ब्रज प्रदेश में ‘दंगलीला’ के नाम से प्रचलित रही है। दंगलीला के अनुसार तिलोत्तमा नामक अप्सरा को दुर्वासा ने यह शाप दिया था कि वह घोड़ी बन जाए और उसकी शाप से मुक्ति तभी हो सकेगी जब साढ़े तीन वज्र एकत्र हो जाएंगे। घोड़ी बनी तिलोत्तमा को राजा दंग ने पकड़ लिया था और श्रीकृष्ण की ओर से युद्ध की चुनौती मिलने पर उसको द्रौपदी की प्रेरणा से भीम ने शरण प्रदान की थी। पांडव और कौरव सेना का श्रीकृष्ण सहित तैंतिस कोटि देवों से जो युद्ध हुआ था। उसमें श्रीकृष्ण का सुदर्शन चक्र और भीमसेन की गदा जब आकाश में आपस में टकराए तो उन्हें हनुमान ने छुड़ाने की चेष्टा की थी। चक्र, गदा और हनुमान ये तीनों वज्र आकाश से नीचे गिरते हुए (हनुमान ने उनको अपनी भुजाओं में भर रखा था) जब श्रीकृष्ण ने अपनी अर्द्ध वज्र-तुल्य जंघा पर संभाले थे, तो साढ़े तीन वज्र एकत्र हो जाने के कारण अप्सरा शापमुक्त होकर स्वर्ग की ओर उड़ गई थी।

2. इन्द्र की हजार आंखें— एक पौराणिक अनुमान के अनुसार इन्द्र को गौतम-पत्नी अहिल्या के साथ संभोग करने के कारण गौतम मुनि ने सहस्र-भग हो जाने का शाप दिया था किन्तु इन्द्र के द्वारा बहुत अनुनय-विनय करने पर सहस्र-भगों के स्थान पर सहस्र नेत्र हो जाने की छूट दे दी थी।

3. राम और लक्ष्मण को लंका से उसका पुत्र ‘अहिरावण’ चुराकर पातालपुरी ले गया था। उसके दुर्ग में जमकातर लगी होने के कारण राम-लक्ष्मण को वहाँ से छुड़ाकर लाना असंभव-सा था किन्तु हनुमान ने उसको तोड़कर अपने स्वामियों का उद्धार किया था। तुलसीदास के शब्दों में—

“पैठि पताल तोरि जमकातर,

अहिरावण के भुजा उखारे।”

4. ‘सोहिल बिलाहीं’ में दृष्टांत अलंकार।

5. ‘सहस्रौ देखौं’ में रूपक अलंकार।

6. ‘हौं हौई राजा’ में रूपक अलंकार।

7. दोहे में रूपक अलंकार।

ओनै घटा चहुं दिसि तहि आई। चमकहिं खरग बान झरि लाई। 1।

डोलै नाहिं देव जस आदी। पहुंचे तुरुक बादि कहं बादी। 2।

हाथन्ह गहे खरग हिरवानी। चमकहिं सेल बीज की बानी। 3।

सजे बान जानहुं ओइ गाजा। बासुकि डरै सीस जनि बाजा। 4।

नोट

नेजा उठा डरा मन इंदू। आइ न बाज जानि कै हिंदू। 5।

गोरें साथ लीन्ह सब साथी। जनु मैमंत सुंड बिनु हाथी। 6।

सब मिलि पहिलि उठौनी कीन्ही। आवत अनी हांकि सब लीन्ही। 7।

रुंड मुंड सब टूटहिं सिउ बकतर औ कुंडि।

तुरिउ होहिं बिनु कांधे हस्ति होहिं बिनु सुंडि ॥ 53/10 ॥

शब्दार्थ—ओनै=झुक गई। झरि=झड़ा। आदी=आरंभ में। कहं बादी= युद्ध करने के लिए। हिरवानी= हेरात की बनी तलवार। सेल= पूर्ण लोहे का बना बरछा या भाला। बीज की बानी=बिजली की तरह। नेजा=भाला। इंदू=इन्द्र। मैमंत=मस्त हाथी। उठौनी कीन्ही=धावा बोला। अनी=सेना। हांकि लीन्ही=गवाले की तरह उनको पीछे से मार-मारकर बढ़ाया। रुंड=धड़। मुंड=कटा हुआ सिर। सिउं=साथ। बकतर=लोहे की कड़ियों का बना कवच। कुंडि=सिर की रक्षा के लिए पहना जाने वाला शिरस्त्राण जो आजकल के हेलमेट जैसा होता था। तुरिअ=घोड़ा।

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने गोरा की वीरता का वर्णन करते हुए यह दिखाया है कि गोरा ने अपने सैनिकों की टुकड़ी के साथ शाह अलाउद्दीन की सेना पर धावा बोलकर उसे तितर-बितर कर डाला था।

व्याख्या—कविवर जायसी कहते हैं कि शाह अलाउद्दीन की घटा की भांति उमड़ी हुई सेना चारों दिशाओं में फैलती हुई चली आ रही थी। उस सेना के खड्ग चमक रहे थे जबकि बाणों की झड़ी लगी हुई थी। जिस प्रकार देवता राक्षसों के सम्मुख विचलित नहीं हुए थे उसी प्रकार गोरा भी विचलित नहीं हुआ और उससे युद्ध करने के लिए तुर्क सेना वहां आ पहुंची। अथवा डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में — “गोरा आदी नामक जिन की भांति आगे था (जायसी में आदी शब्द दो अर्थों में आया है। (1) बिल्कुल, एकदम, नितान्त (614)। मता न जानसि बालक आदी। (2) आदी नामक विशिष्ट पहलवान या वीर जिसे अमीर हमजा ने वश में किया था। उनके हाथों में हेरात के बने खड्ग विद्यमान थे और उनके हाथों में लगे हुए सेल बिजली की तरह चमक रहे थे। उन्होंने जो बाण सजा रखे थे वे इस प्रकार गर्जना कर रहे थे कि उनसे बासुकि नाग को यह भय प्रतीत हो रहा था कि कहीं वे उसके शीश में न आ लगे। जब शाह अलाउद्दीन के सैनिकों ने नेजा उठाए तो उन्हें देखकर इन्द्र भयभीत हो उठा। उसे भय था कि कहीं मुझको हिन्दू समझकर तुर्क सैनिक इन नेजाओं को मेरे सिर में न बजा दें। गोरा ने अपने साथ अपने सभी साथियों को ले लिया जो बिना सूंड वाले हाथियों की भांति मस्त हो रहे थे। उन सभी ने पहले ही मिलकर शाह अलाउद्दीन की सेना पर धावा बोल दिया और शाह अलाउद्दीन की सेना को पीछे की ओर खदेड़ दिया।

दोनों सेनाओं में जो भयंकर युद्ध होने लगा उसमें योद्धाओं के बख्तर और शिरस्त्राणों के सहित उनके धड़ और शीश कट-कट कर गिरने लगे। इतना भयंकर युद्ध होने लगा कि घोड़े बिना कंधों के और हाथी बिना सूंडों के होने लगे।

साहित्यिक सौन्दर्य—1. प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने तत्कालीन युद्धों में प्रयुक्त होने वाले विविध अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख किया है। इनमें से हम बान शब्द के विषय में डॉ. राजपाल शर्मा के शोध-ग्रंथ ‘हिन्दी वीर काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति’ में बान संबंधी यह विवरण देना चाहते हैं जो इस संदर्भ में एक नये अर्थ का उद्घाटन करता है।

“कुहुक या बान— कवि सूदन ने कुहुक या बान के चलाने के समय कुह-कुह का शब्द होने के साथ-साथ दिशाओं में चकाचौंध फैला जाना निश्चित किया है, तथा कवि जान ने उससे हाथी की पाखर में आग लग जाने का उल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि कुहुक-बान एक प्रकार का आग्नेयास्त्र होता था। हमें छत्र प्रकाश में दी गई यह टिप्पणी उपयुक्त प्रतीत होती है कि बान एक प्रकार का मिट्टी का नल होता था जिसकी लंबाई बीस इंच के लगभग और व्यास लगभग तीन इंच होता था। इसमें बारूद भरकर मिट्टी की डाट लगा दी जाती थी और बारूद से पलीता लगा रहता था। इसके साथ बांस की सात-आठ फुट लम्बी छड़ भी लगी रहती थी जो बान चलाते समय फाड़ दी जाती थी। पलीते के द्वारा आग के पहुंचते ही यह बान शत्रु-सेना में गिरकर चक्कर काटने लगता था। बांस की फटी हुई छड़ भी उसी के वेग से घूमती थी। जिसकी मार बड़ी घातक होती थी। इन बाणों के उड़ते समय उनसे कुह-कुह शब्द निकलता था। विलियम इरविन ने भी कुहुक-बान को राकेट बताते हुए मत व्यक्त किया है कि उनसे संहार तो अधिक नहीं होता था किन्तु शत्रु-सेना में बड़ी अव्यवस्था फैल जाती थी, क्योंकि उनसे हाथी घोड़े बहक (बिदक) उठते थे।”

‘सजे बान जानहुं ओइ गाजा। बासुकि डरै सीस जनु बाजा।’ बान का डॉ. शर्मा द्वारा प्रदत्त विवरण ही समीचीन है।

नोट

2. सेल – यह पूर्णतया लोहे का बना बरखा या भाला होता था। आल्हा खंड की निम्नांकित पंक्ति से यह बड़ा वजनी सिद्ध होता है—

सोलह मन को सेल सनीचर सो कडिया ने दियो चलाय।

3. 'औने लाई' में सांगरूपक अलंकार।

4. 'डोलै आदी' में उपमा अलंकार।

5. 'चमकहिं बानी' में उपमा अलंकार।

6. 'सजे बान बाजा' में उत्प्रेक्षा अलंकार।

7. 'नेजा हिंदू' में अतिशयोक्ति अलंकार।

8. गोरै हाथी' में उत्प्रेक्षा अलंकार।

ओनवत आव सैन सुलतानी। जानहुं पुरवाई अतिवानी। 1।

लोहें सैन सूझ सब कारी। तिल एक कतहुं न सूझ उघारी। 2।

खरग पोलाद निरंग सब काढ़े। हरे बिज्जु अस चमकहिं ठाढ़े। 3।

कनक बानि गजबेलि सो नांगी। जानहुं काल करहिं जिउ मांगी। 4।

जनु जमकात करहिं सब भवां। जिउ लै चहहिं सरंग उपसवो। 5।

सेल सांप जनु चाहहिं डसा। लेहिं काढ़ि जिउ मुख बिख बसा। 6।

तिन्ह सामुहं गोरा रन कोपा। अंगद सरिस पाउ रन रोपा। 7।

सुपुरुस भागि न जानै भएं भीर भुइं लेइ।

असि बर गहें दुहूं कर स्यामि काज जिउ देइ ॥ 53/11 ॥

शब्दार्थ—ओनवत=उमड़ती, झुकती। अतिवानी=बहुत जोरदार। सूझ= दिखाई देती थी। उघारी=प्रकाश। निरंग=म्यान से। गजबेलि=एक प्रकार का लोहा। पोलाद=फौलाद। बिज्जु=बिजली। जिउ मांगी=जान मांगना। भवां=चक्कर काटना। उपसवां=समीप पहुंचना। मुख बिख बसा=नोकें विष में बुझी हुई हैं। असि=तलवार। बर=श्रेष्ठ। सरिस=समान। स्यामि काज=स्वामी के लिए।

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने शाह अलाउद्दीन की उमड़ती हुई चली आने वाली सेना और उसके शस्त्रास्त्रों का वर्णन किया है।

व्याख्या—जायसी कहते हैं कि शाह अलाउद्दीन की सेना उमड़ती चल रही थी, मानो प्रचंड पुरुवा हवा के साथ मेघमालाएं उड़ती चली आ रही थीं। उन सैनिकों के पास जो शस्त्रास्त्र थे और लोहे के बने हुए जो कवच धारण कर रखे थे उसके कारण वह सेना काली दिखाई पड़ती थी और तिलभर भी स्थान ऐसा नहीं था जहां वह उघाड़ी दिखाई देती हो अर्थात् जहां अंधकार के स्थान पर प्रकाश दिखाई देता हो। सभी ने निरंग फौलाद की तलवारें म्यानो से निकाल रखी थीं। म्यान से निकली हुई तलवारों हरे रंग की बिजली के समान चमक रही थी। गजबेल लोहे की बनी हुई उन नांगी तलवारों में सोने जैसी चमक थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो काल उन तलवारों के रूप में अपने हाथ फैलाकर लोगों की जान मांग रहा हो। युद्धस्थल में जो अनेक जमकातें घूम रही थीं वे ऐसी प्रतीत होती थीं। मानों प्राण लेकर स्वर्ग जाना चाहती थीं। सांप के समान प्रतीत होने वाले सेल मानो डसने के लिए तत्पर थे। उनके मुंह पर विष लगा हुआ था। अर्थात् उनकी नोकें विष से बुझाई हुई थीं। जिससे वे तुरन्त ही प्राण हर लेते थे। कविवर जायसी कहते हैं कि इस प्रकार के शस्त्रों से सज्जित सेना के सम्मुख वीर गोरा क्रुद्ध होकर अड़ गया। उसने युद्धस्थल में अपना पैर अंगद के समान जमा दिया अर्थात् जिस प्रकार रावण की सीमा में अंगद द्वारा जमाए हुए पैर को कोई रावण-योद्धा डिंगा नहीं सकता था, उसी प्रकार शाह अलाउद्दीन की सेना उसको युद्धस्थल से डिंगा नहीं पा रही थी।

कवि जायसी कहते हैं कि सच्चे वीर पुरुष युद्ध से भागना नहीं जानते। संकट के समय वह युद्धस्थल में खेल सम्भाल लेता है— संकट के समय युद्धस्थल में अडिग रहता है। सच्चा वीर अपने स्वामी का कार्य सिद्ध करते हुए अपने दोनों हाथों में तलवार लेकर अपने प्राण न्यौछावर कर देता है।

साहित्यिक सौन्दर्य — गजबेलि के विषय में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल की यह टिप्पणी अवलोकनीय है—

एक प्रकार का ताप दिया हुआ लोहा। पुराने सिकलीगारों के अनुसार लोहा पांच प्रकार का बताया जाता था—

नोट

1. सकेला — कच्चा और पक्का लोहा मिला हुआ, वह तलवार जो नरम और कड़े लोहे के मेल से बनाई जाए।
2. खेड़ी — सकेले से उतराकर मुलायम लोहा।
3. नानपारचा — खेड़ी से मिलता हुआ लोहा।
4. गजबेल — फौलाद से कुछ नरम लोहा।
5. फौलाद — अत्यंत उत्तम तपाया हुआ लोहा। गजबेल और फौलाद में इतना ही अंतर है कि फौलाद का जौहर बड़ा और साफ होता है गजबेल का जौहर छोटा और अस्पष्ट होता है। गजबेल नाम संभवतः इसलिए पड़ा कि इस लोहे से हाथी की सिक्कड़ या जंजीर बनाई जाती थी।
6. 'ओनवंत अतिवानी' में उत्प्रेक्षा अलंकार।
7. 'लोहें उघारी' में अतिशयोक्ति अलंकार।
8. 'हरे ठाढे' में उपमा अलंकार।
9. 'जानहुं मांगी' में उत्प्रेक्षा अलंकार।
10. 'जनु उपसवां' में उत्प्रेक्षा अलंकार।
11. 'सेल सांप डसा' में उत्प्रेक्षा अलंकार।

भै बगमेल सेल घन घोरा। औ गज पेल अकेल सो गोरा। 1।

सहस कुंवर सहसहुं सत बांधा। भार पहार जूझि कहं कांधा। 2।

लागे मरै गोरा के आगें। बाग न मुरै घाव मुख लागें। 3।

जैस पतंग आगि धंसि लेहीं। एक मुएं दोसर जिउ देहीं। 4।

टूटहिं सीस अधर धर मारे। लोटहिं कंध कबंध निनारे। 5।

कोई परहिं रुहिर होइ राते। कोइ घायल घूमहिं जस मांते। 6।

कोई खुर खेह गए झरि भोगी। झसम चढ़ाइ परे जनु जोगी। 7।

घरी एक भा भारथ भा असवारन्ह मेल।

जूझि कुंवर सब बीते गोरा रहा अकेला ॥ 53/12 ॥

शब्दार्थ—बगमेल=मिलाकर घोड़ों का पंक्तियों में चलना। मुएं=मरने पर। दोसर=दूसरा। कबंध=धड़। निनारे=अलग-अलग। रुहिर=रुधिर। खेह=धूल। जनु जोगी=मानो जोगी हों।

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में कविवर जायसी ने गोरा के साथी सैनिकों के भयंकर युद्ध का वर्णन किया है जिसमें वे सभी योद्धा मारे जाते हैं और गोरा अकेला शेष बचता है।

व्याख्या—कवि कहता है कि शाह अलाउद्दीन की ओर से घुड़सवार सेना ने एक साथ धावा बोलते हुए सेलों का प्रहार किया जबकि इधर से गोरा ने भी अपना हाथी ठेल दिया अर्थात् शत्रु सेना की ओर बढ़ा दिया। उसके साथ कुल एक हजार सैनिक थे किन्तु उन सभी ने सत बांधा हुआ था अर्थात् अपने स्वामी पर प्राण न्यौछावर करने का प्रण ले रखा था। उनके कंधों पर शाही सेना से युद्ध करने का पहाड़ सा बोझ विद्यमान था। वे योद्धा गोरा के आगे बढ़कर अपने प्राण देने लगे— शाही सेना से युद्ध करते हुए मारे जाने लगे उनके मुख पर घाव लग जाने की दशा में भी उनके घोड़ों की बागें नहीं मुड़ती थीं— अर्थात् उन्होंने युद्ध स्थल से पलायन नहीं किया था। वे युद्ध की आग में पतिंगों की भांति घुसकर युद्ध कर रहे थे और एक के मारे जाने पर तुरन्त ही दूसरा आगे बढ़कर अपने प्राण दे रहा था। जब इन वीरों के सिर कटकर अलग गिर जाते थे तब भी उनके धड़ शत्रुओं से युद्ध करते रहते थे और तदन्तर उनके सिर और धड़ भूमि पर लोटने लगते थे। उनमें से कोई खून से लथपथ होकर गिर जाते थे जबकि दूसरे घायल होकर मतवालों के समान घूमने लगते थे। कोई-कोई योद्धा घोड़ों की रासों से लगी धूल फिर से लग जाने के कारण भस्म लगाए योगी से प्रतीत हो रहे थे।

कवि जायसी कहते हैं कि एक घड़ी तक भयंकर युद्ध होता रहा। सवारों के मध्य बगमेल भिड़न्त हुई। इस युद्ध में गोरा के पास के जितने भी वीर थे वे सब एक-एक करके मारे गए और गोरा अकेला रह गया।

साहित्यिक सौन्दर्य—1. खंडों द्वारा युद्ध करने का आल्हाखंड में इस प्रकार उल्लेख किया है—

“कटि-कटि मुंड परैं धरती पर उठि-उठि रुंड करैं तलवार।”

2. सत बांधने का अभिप्राय यह प्रतिज्ञा करने से है कि हम अंतिम श्वास रहने तक शत्रु का मुकाबला करेंगे।
3. ‘भार कांधा’ में रूपक अलंकार।
4. ‘जैस देहीं’ में दृष्टांत अलंकार।
5. ‘कोइ खुर जोगी’ में उत्प्रेक्षा अलंकार।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—

1. शाह अलाउद्दीन से युद्ध करने वाली सेना का नेतृत्व नामक योद्धा कर रहा था।
2. सुल्तान अलाउद्दीन से युद्ध के समय राजा बंदी था।
3. शाह अलाउद्दीन के पास भेजी गई पालकी में पद्मावती के स्थान पर को बिठाया गया था।
4. लोहार द्वारा रत्नसेन की बेड़ियाँ काटने के पश्चात् रत्नसेन को सुरक्षित लेकर चित्तौड़गढ़ पहुँचा।
5. युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ।

गोरैं देख साथ सब जूझा। आपन काल नियर भा बूझा। 1।

कोपि सिंघ सामुहं रन मेला। लाखन्ह सौं नहिं मुरै अकेला। 2।

लई हांकि हस्तिन्ह कै ठटा। जैसैं सिंघ बिडारै घटा। 3।

जेहि सिर देइ कोपि करवारू। सिउं घोरा दूटै असवारू। 4।

दूटहिं कंध कबंध निनारे। मांठ मंजीठि जानु रन डारे। 5।

खेलि फागु सेंदुर छिरिआवै। चांचरि खेलि आगि रन धावै। 6।

हस्ती घोर आइ जो दूका। उठै देह तिन्ह रुहिर भभूका। 7।

भै अग्यां सुलतानी बेगि करहु एहि हाथ।

रतन जात है आगें लिए पदारथ साथ ॥ 53/13॥

शब्दार्थ—साथ=साथी। विनियर=समीप। सामुहं=सामने। मुरै=मुड़ता था। ठटा=समूह। बिडारै=विदीर्ण कर देता है। करवारू=तलवार। सिउं=सहित। असवारू=घुड़सवार। मांठ=मटका। छिरिआवै=छिड़कना। दूका=झुका। भभूका=लपट। बेगि=शीघ्र। तिन्ह=उनके। रुहिर=रुधिर।

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में अकेले गोरा द्वारा ही शाह सेना में खलबली मचा देने का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कवि कहता है कि जब गोरा ने यह देखा कि उसके सभी साथी युद्ध में मारे जा चुके हैं तो उसको अपनी अंतिम घड़ी समीप दिखाई देने लगी। वह वीर सिंह क्रुद्ध होते हुए शत्रु सेना के सम्मुख युद्ध में पिल पड़ा। वह अकेला होते हुए भी शाही सेना के लाखों योद्धाओं द्वारा पीछे नहीं हटाया जा पा रहा था। उसने हाथियों के झुंड को अपने सामने इस प्रकार हांक लिया जैसे कि सिंह हाथियों की घटा अर्थात् समूह को विदीर्ण कर तितर-बितर कर डालता है। वह क्रोध करके जिस किसी भी योद्धा के सिर पर अपनी तलवार का प्रहार करता था वह घुड़सवार अपने घोड़े के साथ कट मरता था। उसके रुंड और मुंड कटकर पृथक् हो जाते थे और ऐसा प्रतीत होता था मानों युद्धस्थल में मंजीठ के मटके लुढ़काए हुए हैं। वह युद्धस्थल में फाग खेलकर सिंदूर (गुलाल) छिड़कता प्रतीत हो रहा था, अथवा चांचर खेलकर युद्धरूपी आग की ओर दौड़ रहा था। हाथी अथवा घोड़ा जो भी उसकी ओर आ झुकता था उसी के शरीर से इस प्रकार रक्त की फुहार निकलने लगती थी जैसे आग की लपटें निकला करती हैं। कवि कहता है कि गोरा के इस प्रकार भयंकर रीति से युद्ध करने से शाही आज्ञा हुई कि जैसे बने तैसे इसको शीघ्र ही कब्जे में करना चाहिए क्योंकि आगे-आगे रत्नसेन पद्मावती रूपी पदार्थ को साथ लेकर चित्तौड़ की ओर चला जा रहा है।

नोट

साहित्यिक सौन्दर्य—1. कवि ने युद्ध की होली के साथ अच्छी तुलना की है।

2. 'लई घटा' में दृष्टांत अलंकार।
3. 'जोहि असवारू' में अतिशयोक्ति अलंकार।
4. 'मांठ डारे' में उत्प्रेक्षा अलंकार।
5. 'खेल रन धावैं' में रूपक अलंकार।
6. दोहे में रूपकातिशयोक्ति।

सबहि कटक मिलि गोरा छंका। गुंजर सिंघ जाइ नहिं टेका।1।

जेहिं दिसि उठै सोइ जनु खाबा। पलटि सिंघ तेहिं टायन्ह आवा।2।

तुरुक बोलावहिं बोलहिं बाहां। गोरे मींचु धरा मन माहां।3।

मुए पुनि जूझि जाज जगदेऊ। जियत न रहा जगत महं केऊ।4।

जनि जानहु गोरा सो अकेला। सिंघ की मोंछ हाथ को मेला।5।

सिंघ जियत नहिं आपु धरावा। मुएं पार कोई घिसियावा।6।

करै सिंघ हठि सौंही डीठी। जब लगि जिअै देह नहिं पीठी।7।

रतनसेनि तुम्ह बांधा मसि गोरा के गात।

जब लगि रुहरि न धोवौं तब लगि होउं न रात ॥53/14॥

शब्दार्थ—छका=घेर लिया। गुंजर=गरजता हुआ। टायन्ह=जगह। मींचु=मृत्यु। केउं=कोई भी। जनि=नहीं। धरावा=पकड़ा जाना। घिसियावा=घसीटता। डीठी=दृष्टि। मुएं=मर जाने पर। मसि=कालौंच, कलंक।

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में शाह अलाउद्दीन की सेना द्वारा घेर लिए जाने पर वीर गोरा की इस वीर दर्पोक्ति का चित्रण किया गया है कि तुर्कों द्वारा राजा रतनसेन को बन्दी बनाए जाने का कलंक गोरा को लगा हुआ है। जिसको वह अपना रक्त बहाकर अर्थात् अपने प्राण देकर धो डालना चाहता है।

व्याख्या—कवि वर्णन करता है कि शाह अलाउद्दीन की पूरी सेना ने मिलकर गोरा को घेर लिया, किन्तु वह गरजता हुआ सिंह किसी के भी रोके नहीं रुक पा रहा था। वह जिस किसी भी दिशा की ओर उठ खड़ा होता था मानो उस दिशा को खा डालता था और लौटकर पुनः अपने स्थान पर आ जाता था। तुर्क उसको ललकारते थे तो उनकी ललकार का उत्तर वह अपनी भुजाओं से देता था। उसने समझ लिया था कि अब मेरा अन्तिम समय निकट आ पहुंचा है। वह सोचने लगा कि इस संसार में आकर कौन रहता है क्योंकि जाज और जगदेव जैसे योद्धा भी युद्ध में मर चुके हैं, अतः संसार में कोई जीवित नहीं रहता है। उस गोरा को अकेला नहीं समझना चाहिए क्योंकि इतना साहस किसको होता है कि वह सिंह की मूंछों को हाथ लगाए— भाव यह है कि जिस प्रकार कोई शेर की मूंछों को छूने का साहस नहीं कर सकता। उसी प्रकार तुर्क सैनिकों में से भी किसी की हिम्मत उसके समीप पहुंचने की नहीं पड़ रही थी। जब तक सिंह जीवित रहता है उसको कोई पकड़ नहीं सकता। हां मृत्यु हो जाने की दशा में जिसकी भी इच्छा हो वही उसको खींचे फिर सकता है। शेर तो जब तक जीवित रहता है वह हठपूर्वक नजर से नजर मिलाता है—सामने की ओर ही देखता है तथा कभी पीठ नहीं दिखाता। तुर्क सेना को ललकारते हुए गोरा कहने लगा कि अरे तुर्कों तुमने मेरे स्वामी राजा रतनसेन को बन्दी बनाया था, उसका कलंक मेरे शरीर को लगा हुआ है— अर्थात् मेरे लिए यह कलंक की ही बात थी कि मेरे जीवित रहते हुए मेरे स्वामी को बन्दी बना लिया गया था। जब तक इस कलंक को मैं अपने खून से नहीं धो देता तब तक मेरा मुख उज्ज्वल नहीं हो सकता।

साहित्यिक सौन्दर्य — 1. जगदेव के विषय में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने श्री मैथिलीशरण गुप्त के साक्ष्य पर परिशिष्ट में जो लम्बी कहानी दी है, उसका रूप यह है—

धार (उज्जैन) के परमार राजा उदयादित्य सो रहे थे। उनकी दो रानियों के दो पुत्र हुए— पहले बड़ी रानी के और कुछ समय पश्चात् छोटी रानी के। हां बड़ी रानी की दासी ने सोते हुए राजा को जगाना उचित न समझा था अतः उन्हें छोटी रानी के पुत्र होने की सूचना पहले मिली और छोटी रानी का पुत्र ही उत्तराधिकारी बनाया गया। उसी रानी के पुत्र का नाम जगद्देव या जगदेव था।

जगदेव को छोटी रानी ने ईर्ष्यावश अपने राज्य से भी निकलवा दिया और वह पाटन के सिंहराज जस सिंह के सामन्त के रूप में उनके आश्रय में रहने लगा। जगदेव ने अपनी तपस्या से दुर्गा को प्रसन्न करके यह वरदान प्राप्त कर लिया था कि वह जब चाहेगा तब उसकी सहायता करेगी। इस वरदान का लाभ उठाने का अवसर भी आ पहुँचा। हुआ यह कि सिंहराज की छोटी रानी पर शिव का एक भैरव आसक्त होकर उससे रमण के लिए आया करता था। सुहागरात्रि को सिंहराज जैसे ही इस रानी के महल में गए उस भैरव ने राजा को परास्त करके पलंग के नीचे दबा दिया और रानी के साथ रमण किया। यह क्रिया नित्यप्रति चलने लगी। राजा सिंहराज ने दरबार में आना छोड़ दिया तो जगदेव उनके महल में पहुँचा। बहुत पूछने पर सिंहराज ने जगदेव को सारी बात बतायी तो दुर्गा के वरदान का लाभ उठाते हुए जगदेव ने उस भैरव को मार भगाया।

उस भैरव ने जाकर रोते हुए देवी से प्रार्थना की कि जब तक मैं जगदेव कि सिर की गेंद बनाकर न खेलूंगा तब तक मुझको शान्ति न मिलेगी। उसकी इच्छा पूर्ति के लिए देवी ने चारिणी के रूप में जगदेव से उसका शीश मांगा। जगदेव ने अपना-शीश काट दिया और उसकी पतिव्रता रानी ने उसको थाल में रखकर उस चारिणी को सौंप दिया। हाँ अंततः उसके धड़ में से पुनः शीश निकल आया था और जगदेव जीवित हो गया था।

सरजा बीर सिंघ चढ़ि गाजा। आइ सौहं गोरा के बाजा। 1।

पहलवान सो बखाना बली। मदति मीर हमजा और अली। 2।

मदति अयूब सीस चढ़ि कोपे। राम लखन जिन्ह नाउं अलोपे। 3।

और ताया सालार सो आए। जिन्ह कौरौ पंडौ बंदि पाए। 4।

लिंधउर देव धरा जिन्ह आदी। और को माल बादि कहं बादी। 5।

पहुंचा आइ सिंघ असवारू। जहां सिंघ गोरा बरियारू। 6।

मारेसि सांगि पेट महं धंसी। काढ़ेसि हुमुकि आति भुइं खसी। 7।

भांट कहा धनि गोरा तू भोरा रन राउ।

आति सौति करि कांधे तुरै देत है पाउ। 153/15।।

शब्दार्थ—सौहं=सामने। बलिमदति = बलवान। अलोपे = मिटा दिया। कौरौ पंडौ = कौरव, पाण्डव। बरियारू = बलशाली। सांगि = सांग नामक एक लोहे का हथियार। हुमुकि = जोर लगाकर। भोरा राउ = भोला भीमदेव नामक चालुक्य राजा। सैति कर = इकट्ठी करके।

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने इस तथ्य का वर्णन किया है कि वीर गोरा का तुर्क सेना का अन्य कोई योद्धा तो मुकाबला नहीं कर रहा था, किन्तु वीर सरजा ने उस पर सांग का ऐसा प्रहार किया कि उसकी आँतें बाहर निकल आईं। फिर भी गोरा ने हार नहीं मानी और वह अपनी आँतों को एक हाथ से इकट्ठी करके पुनः घोड़े पर सवार हो गया।

व्याख्या—कवि कहता है कि वीर सरजा जो सिंह पर सवार होकर गरजता था, गोरा के सामने आकर उससे भिड़ गया। वह अत्यधिक बलशाली और पहलवान कहा जाता था। उसको अमीर हमजा और अली की मदद भी मिली हुई थी। उसकी मदद के लिए अयूब सिर पर चढ़ा हुआ क्रुद्ध जान पड़ता था — भाव यह है कि अत्यधिक क्रुद्ध अयूब भी उसकी मदद के लिए निकट ही था। वह इतना अधिक बलवान था कि उसने राम और लक्ष्मण का यश भी फीका कर दिया था। सरजा की सहायता के लिए वह ताया सालार भी आया हुआ था जिसने कौरव और पांडव जैसे वीरों को अपने बंधन में डाल लिया था। जिसने लिंधउर देव और आदी जैसे वीरों को पकड़ कर वश में कर लिया था। वीर सरजा इतना अधिक बलवान था कि और कौन ऐसा योद्धा था जो उसके जोड़ का स्वीकार किया जा सकता था। सिंह पर सवार होकर सरजा वहाँ आ पहुँचा जहाँ पर सिंह के समान वीर गोरा विद्यमान था। उसने आते ही गोरा पर सांग का प्रहार किया जो उसके पेट में फँस गई तदन्तर उसने जोर लगाकर सांग को खींच लिया जिससे गोरा की आँतें निकलकर धरती पर आ गिरीं।

युद्धस्थल में गोरा के पराक्रम को देखने वाले भाट ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा कि हे गोरा! तू धन्य है। तू युद्ध स्थल में भोला भीम के समान है। क्योंकि तू अपनी आँतों को समेटकर और उनको अपने कन्धे पर डाल कर घोड़े पर सवार हो रहा है।

साहित्यिक सौन्दर्य—इन पंक्तियों में आए वीरों के विषय में डॉ. अग्रवाल ने निम्नांकित टिप्पणियाँ दी हैं—

नोट

1. **मीर हमजा**—मीर हमजा मुहम्मद साहब के चाचा थे, जिनकी वीरता की बहुत-सी कल्पित कहानियां पीछे जोड़ी गई। (शुक्लजी), सोलहवीं शती में दास्तान अमीर हमजा की बड़ी प्रसिद्धि थी। अकबर ने इस पर आश्रित चौदह सौ चित्र कपड़े पर बनवाए थे जिसमें सौ से ऊपर अभी तक बच गए हैं।

2. **अली**—मुहम्मद साहब के चचाजात भाई और दामाद, मुसलमानों के चौथे खलीफ़ा थे। ये वीरता के उपमान हैं। इन्हें शेर शरज : अर्थात् कुपित सिंह कहा जाता है।

3. **अयूब**—बाइबिल में इन्हें जॉब कहा गया है (हिब्र इयोब)। शैतान ने सन्देह किया और उसे इनकी परीक्षा लेने की अनुमति मिली। हजरत अयूब पर अनेक विपत्तियां आईं, सम्पत्ति नष्ट हो गई, शरीर भी व्याधिग्रस्त हो गया। पर उन्होंने ईश्वर के प्रति कृतज्ञता का भाव न छोड़ा। अन्त में उनके दिन बहुरे।

4. **लिंघउर देव**—लंघौर देव नामक एक कल्पित हिन्दू राजा जिसे अमीर हमजा ने जीतकर अपना मित्र बनाया था। अमीर हमजा दास्तान में यह बड़े डील डौल का और बड़ा भारी वीर कहा गया है।

5. **आदी**—लिंघउर देव के समान आदी भी अमीर हमजा का एक बली सैनिक था जिसके चरित्र का वर्णन दास्तान अमीर हमजा में मिलता है। जैसे लिंघउर देव वारंगल के हिन्दू राजा प्रतापरुद्र देव थे, वैसे ही बहुत संभव है कि आदी भी चित्तौड़ के विक्रमादित्य उपाधि धारी हिन्दू राजा के आधार पर कल्पित कर लिया गया हो।

6. 'राम लखन अलोपे' में अत्युक्ति अलंकार।

7. 'ओ ताया पाए' में अत्युक्ति अलंकार।

8. 'जहां सिंह बरियारु' में रूपक अलंकार।

9. अंतिम पंक्तियों में वृत्यानुप्रास अलंकार।

कहेसि अंत अब भा भुइ परना। अंत सो तंत खेह सिर भरना। 1।

कहि कै गरजि सिंघ अस धावा। सरजा सारदूर पहं आवा। 2।

सरजैं कीन्ह सांगि सौं घाऊ। परा खरग जनु परा निहाऊ। 3।

बज्र सांगि ओ बज्र के डांडा। उठी आगि सिर बाजत खांडा। 4।

जानहुं बजर बजर सौं बाजा। सब हीं कहा परी अब गाजा। 5।

दोसर खरग कुंडि पर दीन्हा। सरजै धरि ओड़न पर लीन्हा। 6।

तीसर खरग कंध पर लावा। कांध गुरुज हत घाव न आवा। 7।

अस गौरैं हठि मारा उठी बजर की आगि।

कोइ न नियरें आवै सिंघ सदूरहि लागि ॥ 53/16 ॥

शब्दार्थ—भुइ परना=मरकर जमीन पर गिरता है। तंत=तत्व। खेह=धूल। सारदूर=महासिंह। निहाऊ=लोहे का घन। डांडा=डंडा। खांडा=तलवार। बजर=बज्र। गाजा=बिजली। ओड़न=ढाल। गुरुज=गुर्ज, गदा। नियरें=समीप।

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों के कवि ने वीर गोरा द्वारा सरजा पर भयंकर प्रहार करने का वर्णन किया है।

व्याख्या—कवि कहता है कि गोरा ने अपने मन में विचार कर लिया कि अब तो मुझको मर कर पृथ्वी पर गिरना ही है। जीवन का अन्तिम तत्व ही यह है कि वह अंततः मिट्टी में मिल जाता है। इस प्रकार कहकर गोरा ने गर्जना करते हुए सिंह की तरह धावा बोला और वहां आ पहुंचा जहां सरजा रूपी महासिंह विद्यमान था। उसने सरजा पर सांग का प्रहार किया। उसका खड्ग सरजा के इस प्रकार लगा जैसे लोहे का घन बज उठा हो—भाव यह है कि जैसे घन की चोट भयंकर होती है उसी प्रकार गोरा ने भयंकर रूप में सांग का प्रहार किया था। वह सांग फौलाद की बनी हुई थी और उसका डंडा भी फौलाद का बना हुआ था। सरजा के शीश पर गोरा का खांडा लगा तो उससे आग की चिनगारियां छिटकने लगीं। ऐसा प्रतीत होता था मानो बज्र से बज्र टकरा रहा है और सभी यह कहने लगे कि अब गाज गिरने वाली है। उसने अपने खड्ग का दूसरा प्रहार सरजा की कुंडी (सिर पर धरे लौह-कवच) पर किया, इस प्रहार को सरजा ने अपनी ढाल पर संभाल लिया अर्थात् इस प्रहार को ढाल पर लेते हुए उस प्रहार को बचा लिया। गोरा ने अपने खड्ग का तीसरा प्रहार सरजा के कंधे पर किया। चूंकि सरजा के कंधे पर गुर्ज था अतः उसको फर्क नहीं आया।

कविवर जायसी कहते हैं कि गोरा सरजा पर हठपूर्वक बड़े जोर-जोर से प्रहार कर रहा था। ये प्रहार इतने प्रचण्ड

नोट

थे कि उनसे वज्र की जैसी आग उत्पन्न हो रही थी। सिंह रूपी गोरा और शार्दूल रूपी सरजा के समीप आने का कोई भी योद्धा साहस नहीं कर पा रहा था।

साहित्यिक सौन्दर्य – 1. मरते हुए गोरा की अप्रतिम वीरता का अच्छा वर्णन है।

2. कहि कै धावा' में उपमा अलंकार।

3. 'सरजा आवा' में रूपक अलंकार।

4. 'परा निहाऊ' में उत्प्रेक्षा अलंकार।

5. 'जानहुं गाजा' में उत्प्रेक्षा अलंकार।

6. दोहे में रूपक अलंकार।

तब सरजा गरजा बरिवंडा। जानहुं सेर केर भुअडंडा। 1।

कोपि गुरुज मेलेसि तस बाजा। जनहुं परी परबत सिर गाजा। 2।

ठाठर टूट टूट सिर तासू। सिउं सुमेरु जनु टूट अकासू। 3।

धमकि उठा सब सरग पतारू। फिरि गै डीठि भवां संसारू। 4।

भा परलौ सबहुं अस जाना। काढ़ा खरग सरग नियराना। 5।

तस मारेसि सिउं घोरें काटा। धरती फाटि सेस फन फाटा। 6।

अति जौं सिंघ बरिअ होइ आई। सारदूर सौं कवनि बड़ाई। 7।

गोरा परा खेत महं सिर पहुँचावा बान।

बादिल लै गा राजहिं लै चितउर नियरान ॥ 53/17 ॥

शब्दार्थ—बरिवंडा=बलशाली। भुअडंडा=भुजदंड। मेलेसि=मारा। ठाठर=ठठरी, अस्थि-पंजर रसरग=आकाश। डीठि=दृष्टि। भवां=चकित। परलौ=प्रलय। नियराना=समीप पहुँचा। सिउं=सहित। बरिअ=बलवान। कवनि=कौन-सी। बान=टेक, प्रतिज्ञा।

संदर्भ—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने सरजा के हाथों अंततः वीर गोरा के मारे जाने का वर्णन किया है।

व्याख्या—कवि जायसी कहते हैं कि तब अर्थात् गोरा द्वारा एक के पश्चात् एक प्रहार किए जाने पर बलशाली सरजा गरज उठा। उसके भुजदंड शेर के समान बलशाली थे। उसने क्रुद्ध होकर गोरा पर गुर्ज का प्रहार किया। वह गुर्ज गोरा के इस प्रकार लगा जैसे पर्वत पर गाज (बिजली) गिरी हो। उस गुर्ज की मार से गोरा के सिर के साथ-साथ उसका अस्थि-पंजर भी टूट गया। ऐसा प्रतीत होता था जैसे सुमेरु पर्वत के साथ आकाश भी टूट पड़ा हो।

9.2 सारांश (Summary)

जायसी ने गोरा-बादल को वीर योद्धा के रूप में चित्रित किया है। वे पद्मावती के विश्वास-पात्र हैं। जायसी ने गोरा-बादल माध्यम से छल पूर्वक रत्नसेन को छुड़ाने की योजना कर युद्ध की रीति में छल को उचित ठहराते हैं। इस खण्ड में गोरा-बादल सोलह सौ पालकियाँ सजाकर सुल्तान अलाउद्दीन से मिलने दिल्ली जाते हैं किन्तु पालकियों में सुल्तान की शर्त के अनुसार रानी पद्मावती न होकर सैनिक बिठाए गए। पद्मावती की पालकी में लोहार को बिठाया जो दिल्ली पहुंचकर अवसर पाते ही रत्नसेन की बेड़ियाँ काट देता है और बादल रत्नसेन को लेकर चित्तौड़गढ़ की ओर चल देता है। अंत में गोरा को युद्धभूमि वीरगति प्राप्त होती है।

9.3 शब्दकोश (Keywords)

1. गातः शरीर, देह, यौवन।

2. हिरवानीः हेरात की बनी तलवार।

9.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

नोट

1. गोरा-बादल युद्ध खण्ड की कथा संक्षेप में लिखिए।
2. गोरा एवं शाह अलाउद्दीन की सेना के बीच युद्ध का उदाहरण सहित वर्णन कीजिए।

उत्तर-स्वमूल्यांकन (Answer-Self Assessment)

1. गोरा-बादल
2. रत्नसेन
3. लोहार
4. बादल
5. गोरा

9.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



- पुस्तकें
1. पद्मावत-मलिक मुहम्मद जायसी कृत।
 2. जायसी ग्रन्थावली-शुक्ल रामचंद्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
 3. मलिक मुहम्मद जायसी-बी.सी. पाण्डेय, विनोद प्रकाशन।

इकाई 10

नोट

घनानंद की लेखन कुशलता**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

10.1 भावाभिव्यक्ति

10.2 कलापक्ष

10.3 सारांश (Summary)

10.4 शब्दकोश (Keywords)

10.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

10.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- घनानंद कवित्त की काव्यगत विशेषताएं समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

काव्य के लिये अनिवार्य तत्व क्या है, इस पर भारतीय काव्यशास्त्र में दो काल तक विवाद चलता रहा। विवाद में विशेषताओं के उद्घाटन की क्षमता एवं संभावना बहुत अधिक होती है। संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य के शाश्वत एवं सहज मान्य तत्वों के विषयों में जो विवाद चले उससे भी काव्य के स्वरूप का सुन्दर एवं सांगोपांग उद्घाटन हुआ। 'भामह' एवं 'दण्डी' तथा 'रुद्रट' इत्यादि आचार्यों ने अलंकारों को काव्य का मूल सौन्दर्य माना। दूसरी ओर 'आनन्दवर्धन' ने दर्शन को तथा 'विश्वनाथ' इत्यादि ने रस को महत्त्व दिया। समन्वय दृष्टि से सम्पन्न आचार्यों में मम्मट एवं जगन्नाथ ने दोनों रसों के अनिवार्य महत्त्व को स्वीकार किया।

काव्य-व्यापार, रचना एवं मूल्यांकन-व्याख्यान, दोनों दृष्टियों से समन्वय सिद्ध व्यापार हैं। यह समन्वय स्थूल अर्थ में भाव एवं वाणी का है तथा सूक्ष्म अर्थ में भाव एवं अभिव्यक्ति का। अभिव्यंजना के स्तर पर कविता अनेक कलाओं का समन्वय है, प्रेषणीयता के स्तर पर वह कवि के हृदय एवं श्रोता अथवा पाठक-समुदाय के हृदय का समन्वय है। जिस प्रकार रस सारतत्व है, उसी प्रकार काव्य में भी भाव की अमूर्त संज्ञा का शब्द के मूर्तरूप से समन्वय-स्तर घटित होता है। जो कवि इसे जितनी सीमा तक साध सकता है, वह उतना ही महान् है, उसकी रचना उतनी ही स्थायी होती है। भाव की सूक्ष्मता एवं शब्द की स्थूलता को जो जितना अधिक आनुपातिक मिश्रण में संयुक्त कर पाता है, वह उतना ही बड़ा-साधक है।

भावपक्ष का स्वरूप

भाव, जो काव्य में रसरूप है, काव्य का प्राण है। भाव सदा अमूर्त है, निराकार है। क्रोचे इत्यादि दार्शनिकों ने भाव के स्फुरण को ही अभिव्यक्ति माना है। वस्तुतः वह दार्शनिक सैद्धान्तिकता का ही रूप है अन्यथा भाव के बिना शब्द की कोई संज्ञा नहीं। गीत ही सुन्दर है, क्योंकि वह उपभोग्य है, ग्राह्य है। अतः अपरिचय के अनस्तित्व में खो जाता है, उसकी कोई संज्ञा नहीं। भावलोक शब्द-रहित स्पन्दन सरिता के उन प्रवाहों के रूप में है जो सतह के नीचे

नोट

ही नीचे बहते रहते हैं, ऊर्मि का वेग लेकर ऊपर नहीं आ पाते। अमूर्त, नीरव, स्वरहीन भाव को मुखर कर देना, शब्द रूप दे देना, बाह्य आकार दे देना कवि-कर्म का मुख्य साध्य एवं देय है।

कलापक्ष का स्वरूप

शब्द, अभिव्यक्ति, अभिव्यंजना, बाह्य हैं स्थूल हैं। वे भाव का व्यक्तित्व हैं, उनसे ही भाव चलता-फिरता है हँसता-रोता है, मचलता-उछलता है। अभिव्यक्ति जीवन का पर्याय है, मृत्यु अनभिव्यक्ति है, जीवन, जन्म अभिव्यक्ति। शब्द, भाव की अभिव्यक्ति का साधन है, शब्द-काव्य का मुख है अथवा उसका आकृति मूल्य (Face value) है। शब्द में भाव मूर्त होता है, ढल कर रूप-ग्रहण करता है तथा अपनी काव्य-यात्रा पर निकल पड़ता है। शब्द ऐसी लाठी है जिसका प्रयोग समर्थ भाव अपनी क्षमता के रूप में और पंगु भाव अपने सहारे के रूप में करता है। शब्द काव्य का शरीर है।

शब्द और अर्थ अर्थात् भाव का समन्वय ही सुन्दर काव्य है। कालिदास ने 'वागार्थाविव' एवं तुलसी ने 'गिरा अरथ जलबीचि सम' कहकर शब्द अर्थ के अभेद को सूत्रबद्ध किया है। निरर्थक शब्द असंभव है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि अर्थ का निरपेक्ष अस्तित्व असंभव है। अर्थ शब्द-रूप ही हो सकता है और शब्द अनिवार्यतया अर्थ-संपृक्त। दोनों के समन्वय की व्यावहारिक चेष्टा ही काव्य है। यह समन्वय ही काव्य का साध्य है। यही इसके स्वरूप का निर्धारक है।

10.1 भावाभिव्यक्ति

‘प्रेम सदा अति ऊंचो लहै,
सु कहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनिकै सबके मन लालच दौरे,
पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी।
जग की कविताई के धोखे रहै,
ह्यौ प्रवीनन की मति जाति जकी।
समुझै कविता घन आनन्द की
हिय-आँखन नेह की पीर तकी’

घनानन्द की भावाभिव्यक्ति अनुठी थी। भाव एवं अभिव्यंजना का संयोग घनानन्द में अत्यन्त प्रखर एवं मुखर है—साथ ही अभिव्यक्ति में आन्तरिक भाव की टीस उभर आई है। कविता तथ्य का केवल कथन नहीं करती बल्कि सुन्दर कथन करती है—वह उक्ति का शृंगार करती है। घनानन्द में भाव की समृद्धि ही काव्य के कलापक्ष की विधायिका है, उनकी बात ‘प्रेम’ से छकी हुई है। ‘जग की कविताई’ से, रीतिकाल की काव्य पद्धति से वह मूलतया एवं प्रवृत्त्या भिन्न है। रीतिकाल में काव्य एक निश्चित कलात्मक व्यापार मात्र रह गया था, वह कला की स्थूलता तक उतर आया था। विधि-विधानों में काव्य की धारा अवरुद्ध हो गई थी, उसका सरल एवं ऋजु प्रवाह एक स्थल पर बद्ध हो गया था। कुछ निर्धारित उपकरणों को जुटा देने से ही काव्य का रूप पूरा हो जाता था। कवि रीतिकाल के जनजीवन में एक बौद्धिक विकार के प्रतिनिधि बन गये थे— काव्य बौद्धिक हास की प्रतीक परम्परावादिता से ग्रसित हो गया था। ठाकुर ने रीतिकालीन कवियों की काव्य चेष्टा का सुन्दर परिचय इस पद में दिया है—

सीख लीन्हो मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीख लीनो यज औ प्रताप को कहानो है।
सीख लीनो कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामणि
सीख लीन्हो मेरु और कुबेर गिरि आनो है।

नोट

ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहीं भूलि कहूं बाँधियत बानो है।
डेल सों बनाय मेलत सभा के बीच
लोगन कबित कीबौ खेल करि जानो है।

काव्य-व्यापार की इस कृतज्ञता की पृष्ठभूमि पर घनानन्द की रचना कविता का सच्चा, अनलंकृत, शुद्ध रूप है। उनकी भावाभिव्यक्ति में कल्पना के विधान के स्थान पर अनुभूति की समतलता है। उन्होंने भाव की कल्पना नहीं की, वरन् अनुभूति के पश्चात् उसकी पुनर्काव्यानुभूति की है। इस प्रकार जिसे अभिव्यक्ति की ईमानदारी कहा जाता है, वह घनानन्द की रचना में पूरी तरह विद्यमान है। संयोग-पक्ष की कविता रीतिकाल में बड़े उत्साह के साथ तथा बड़ी प्रचुरता से रची गई। रीतिकाल के कवि का सिद्धांत ही नहीं, व्यवहार भी विलासिता का था। अतः शृंगार के नाम पर उन्होंने केवल संयोग का चित्रण किया है, और संयोग के नाम पर अधिकतर रति क्रीड़ाओं का। इन रचनाओं में ऐन्द्रिय-उत्तेजना की प्रबलता है रस-संचार की क्षमता नहीं। किन्तु घनानन्द की रचना में शृंगार का विलास भी ऐन्द्रिय-उत्तेजना के शमन द्वारा मादक अनुभूति का रूप ग्रहण कर गई है। रतिश्रम का यह वर्णन द्रष्टव्य है, जिसमें अनुभावों का वर्णन भी है और नायिका की मनःस्थिति का भी—

“सुख-स्वेद-कनी मुखचंद बनी,
विधुरी अलकावलि भाँति भली।
मद-जोवन, रूप छकीं अंखियाँ,
अवलोकनि आरस-रंग-रली।
घन आनन्द ओपियत ऊँचे उरोजनि,
चोज मनोज के ओज दली।
गति ढीली लजीली रसीली लसीली,
सुजान मनोरथ-बेलि फली।”

नायिका की मनोकामना की पूर्ति के लिए ‘मनोरथ-बेलि-फली’ शब्द कितने व्यंजक हैं। इति श्रांति के परम्परागत उपकरणों के साथ अन्तिम पंक्ति के पहले आये भाग की शब्द-संगति भाव को जैसे स्वर में साकार कर रही हैं।

वियोग घनानन्द का काव्य साधन है— उनकी कविता अपने प्राकृत रूप में वियोगमयी है। संयोग-पक्ष की अभिव्यक्ति सरस है, उसके लिए काव्य क्षमता के अतिरेक की आवश्यकता नहीं किन्तु वियोग, जैसा कि आचार्यों ने संकेत किया है, कवि-हृदय के मार्मिक पक्ष के उद्घाटन की अपेक्षा करता है। घनानन्द के वियोग-वर्णन में जो अनूठापन है, संयोग वर्णन नहीं, इतना निश्चित है। ‘हिय आँखिन नेह की पीर तकी’ वाली विशेषता का वास्तविक स्वरूप वियोग-वर्णन में ही स्पष्ट होता है।

घनानन्द के वियोग-वर्णन का महत्त्व एक और दृष्टि से भी है। रीति काल की रीतिबद्ध कविता ने वियोग-वर्णन में ‘आह’ से काम लिया है। आह एवं अतिशयोक्ति कल्पना के गुण हैं किन्तु एक सीमा तक। कल्पना न तो अति सूक्ष्म हो सकती है और न अति स्थूल। पहली स्थिति में वह जीवन क्षेत्र एवं वास्तविकता के साथ अपने क्षीण सम्पर्क को बिल्कुल तोड़ देती है और दूसरी स्थिति में जगत की स्थूलता उस पर आवश्यकता से अधिक हावी हो जाती है जिससे रोमानी सौन्दर्य के तत्त्व को क्षति पहुँचती है। वियोग-वर्णन की बनावटी प्रवृत्ति कलात्मक संस्कार के अभाव में और अधिक खटकती है। ‘छाती से छुवाय दिया बाती क्यों न बार लै’ जैसे कथनों में भावाभिव्यक्ति अपनी विडम्बना में लजाती, छिपती फिरती है।



टास्क रीतिमुक्त काव्य-धारा के कुछ प्रमुख कवियों के नाम बताइए।

नोट

घनानन्द के वियोग-वर्णन का महत्त्व इस वातावरण-परिपार्श्व में दर्शनीय है। वस्तुतः अन्तर केवल वर्णन का नहीं, अन्तर काव्य के मूल में वर्तमान भाव की सच्चाई का है। उक्ति चुराई जा सकती है, अनुभूति नहीं। अतः घनानन्द की कविता प्रत्यक्षानुभूति का रूप है, कल्पना का आधार नहीं। अतः भावाभिव्यक्ति इतनी मार्मिक है कि वे अपने प्रिय को उसकी उपेक्षा के लिए उपात्म देते हैं—

**“कितकीं ढरिगौ वह ढार अहो जिहि मोतन आँखिन ढोरत हे।
अरसानि गही उहि बानि कछू सरसानि सों आनि निहोरत हे।
घन आनन्द प्यारे सुजान सुनौं तब यों सब भाँतिनि भोरत हे।
मन माँहि जो तोरन ही की हुती विसवासी सनेह क्यों जोरत हे ॥”**

तो हम किसी खंडिता नायिका की विशेषताओं एवं लक्षणों को आंकने में उलझे नहीं रहते वरन् हमारी दृष्टि सीधी घनानन्द के अन्तःकरण के भाव पर जा टिकती है। पाठक एवं कवि के बीच यहाँ कोई व्यवधान नहीं है। इसी प्रकार निम्नोद्धृत पद में वियोग के उपकरण परम्परागत हैं किन्तु ‘सुजान’ शब्द की मार्मिकता को प्रकाशित करके कवि ने भाव-मार्मिकता उत्पन्न कर दी है—

**“घन आनन्द जीवन मूल सुजान की, कौधन हूँ न कहूँ दरसै।
सुन जानिये धौं कित छाय रहै, इत चातिक प्रान तपे बरसै।
दिन पावस तौ इन थ्यावस हो न सु क्यों करि ये अब सो परसै।
बदरा बरसै रितु में धिरि कै नित ही अखियाँ उधरी बरसै ॥”**

भाव को, उसके अभिव्यक्ति रूप में अलंकृत करने के अनेक साधन हैं, जिनमें मुख्यतया अलंकार, छन्द, वक्रकथन इत्यादि हुआ करते हैं। किन्तु भाव की अन्तर्निहित मार्मिकता उसे प्रभावशीलता से सर्वाधिक संयुक्त करती है, इसमें सन्देह नहीं। रीतिकाल के परम्परागत भाव की अभिव्यक्ति में घनानन्द ने कितना सच्चा सौन्दर्य भरा है, इसका उदाहरण यह पद है—

**रावरे रूप की रीति अनूप, नयो नयो लागत ज्यों ज्यों निहारयै।
त्यों इन आँखिन बानि अनौखी, अघानि कहूँ नहीं आनि तिहारियै।
एक ही जीव हुतो सुतो वार्यौ, सुजान सुकोच औ सोच सहारियै।
रोकी रहै न दहै घन आनन्द, बावरी रीझ के हाथिन हारियै ॥**

केवल इतना ही नहीं कि सौन्दर्य में नया, नित्य नया रूप धारण करने की क्षमता है, विपत्ति तो दूसरी ओर भी है— आँखों का व्यसन भी अनोखा है। सौन्दर्य में आकर्षण है तो आँखों में आकर्षित होने की अनुपम क्षमता है—इसी से तो सौन्दर्य का मूल्यांकन संभव है। रीति बावरी है, यह कहना भी कितना सार्थक है। बावरी रीझ सकती है तो केवल प्रिय के रूप पर ही, अन्य किसी स्थल पर नहीं। बावरी रीझ अपने लक्ष्य तक पहुंचने में भूल नहीं करती। घनानन्द की रचना के ऐसे अंश ही उनकी भावाभिव्यक्ति को विशिष्ट एवं वैयक्तिक सिद्ध करते हैं।

यह सत्य है कि घनानन्द की रचना का अभिव्यंजना-पक्ष अधिकतर विरोधाभासी चमत्कार से सज्जित है किन्तु ध्यान देना चाहिए कि वह विरोध भी सचेष्ट लाया हुआ विरोध नहीं, कथन एवं करने वाले की स्वाभाविक अन्तरावृत्ति के परिणामस्वरूप घटित विरोध है। उदाहरणतया भक्तिपरक के इस पद में शब्दों में आभासित होने वाला विरोध भाव ही आवश्यक अंग है, चमत्कार वृत्ति का फल नहीं—

**‘पहचानै हरि कौन, मो से अनपहचान कों
त्यों पुकार मधि-मौन, कृपा-कान मधिनैन ज्यों ।’**

इसका भावार्थ श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में, ‘जिस प्रकार आपके नेत्रों के बीच कृपारूपी कान छिपे पड़े हैं, आप देखकर ही सुन लेते हैं, कृपा करते हैं उसी प्रकार मेरे मौन से ही पुकार छिपी हुई है। मेरी मौन चेष्टा में व्यक्त होने वाली पुकार को आपकी कृपा के कान सुन लेते हैं, जो आपके नेत्रों में ही लगे हैं। आप मेरी दशा (मौन पुकार) नेत्रों से देखकर ही समझ लेते और कृपा करते हैं।’

नोट

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यदि बिहारी में भावाभिव्यक्ति को अत्यधिक अलंकृत करने में, मतिराम सहज, रमणीय रूप देने में और पद्माकर रंग-सज्जित करने में उसकी सफलता मानते हैं तो घनानन्द की भावाभिव्यक्ति अनुभूति की सच्चाई यथा काव्य रूप में कह देने में ही गर्व अनुभव करती है। बनावट और अलंकरण व चटकीले आवरण को हटाकर घनानन्द ने कविता कामिनी के स्वच्छंद परिधान का परिचय दिया है।

10.2 कलापक्ष

अलंकार विधान

आधुनिक युग से पूर्व अलंकार ही काव्य का प्रमुख सौन्दर्य माने जाते रहे हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र में अलंकार को काव्य का साध्य घोषित करने वाले आचार्यों की एक लम्बी परम्परा है। भामह, दंडी जैसे आलंकारिकों के हाथों कविता का लक्षण ही अलंकार हो गया था। जिन आचार्यों ने अलंकार से दूसरे किसी अन्य तत्त्व को काव्य का विषय माना, उन्होंने भी अलंकार को काव्य की एक महत्वपूर्ण विशेषण के रूप में अन्तर्भूत किया। रसवादी आचार्य विश्वनाथ एवं ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन की स्थिति यही है।

रीतिकाल की काव्य-दृष्टि में अलंकार के संबंध का परिचय यहाँ आवश्यक है। इस काल के सामान्य जीव में तड़क-भड़क, चटक-मटक, रंगीनी, जीवन-चित्र की रेखाओं के ऊपरी रंग अत्यन्त चटकीले, आकर्षक हैं। इस काल की कला में भी यही हास्यमयी प्रवृत्ति है। चित्रकला में शृंगार-विषयों की प्रमुखता, रेखाओं की अपेक्षा रंगों की गहराई, प्राकृतिक जीवन के स्थान पर नगर-जीवन के वैभव के दृश्य इत्यादि विशेषताएँ मूल्यों की क्षति का परिचय देती हैं। कला के संस्कार शताब्दियों में ही निर्मित होते हैं अतः रीतिकाल की कला शताब्दियों से संचित शृंगार एवं विलासिता का उन्मुक्त प्रकाशन है। कविता में आडम्बर का रूप अतिशया सजग काव्य-चेतना, काव्य व्यापार की कृत्रिमता एवं काव्य के बाह्य साधनों की प्रबलता ने लिया। बाह्य साधनों में अलंकार ही प्रमुख हैं।

संस्कृत-काव्य-शास्त्र की रचना के आरम्भिक काल में अलंकारियों की प्रबलता थी, रीतिकाल में भी केशव आरम्भिक आचार्य अलंकारवाद का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। रीतिकाल के अधिकांश कवियों का काव्यगत अलंकार के प्रति एक ऐसे मोह का परिचायक है जो इन कवियों के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है।

स्वच्छन्द कवियों की प्रवृत्ति भिन्न एवं स्वस्थ थी। घनानंद ने अपनी रचना-प्रक्रिया का परिचय देते हुए कहा था—

‘लोग हैं लागि कवित्त बनावत

मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।’

लगकर कविता बनाना ही काव्य को अलंकृत करने में अतिरिक्त रुचि रखता है और कविता के द्वारा बना दिया जाना ही ‘स्वान्तः सुखाय’ कविता है।

घनानन्द के काव्य में अलंकारों का सचेष्ट प्रयत्न किसी भी स्थल पर नहीं है, यह मानना सम्मत होगा। विरोध एवं विरोधाभास का आग्रह उपलब्ध होता है, वह मुख्यतया एवं मूलतया भाव का अभिन्न अंग है, इससे पृथक् कोई अन्य तत्व नहीं। अतः वह कला सजगता का बाह्य प्रयास न होकर अभिव्यक्ति की सहज चेष्टा है। घनानन्द ने सिद्धान्ततया काव्य के असंस्कृत, सरल-स्वरूप के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है—

‘अलबेली सरूप की रासि,

सुजान विराजति सादे सुभाइनि।’

आभूषण शृंगार के सहायक न होकर विदूषण से हैं—

‘छोरि छोरि घरे जे जे भूषण विदूषण से,

तहँ तहँ लागि लोमी मन गयो गसि है।’

सौन्दर्य घनानन्द के लिए भोक्ता की दृष्टि में ही है— पारखी दृष्टि सौंदर्य का संधान स्वमेव कर लेती है। ‘ब्रजनाथ’ ने ‘सुन्दरतानि के भेद को जानै’ वाली बात उचित ही कही है। अतः अलंकारों के प्रति किसी प्रकार के अस्वाभाविक मोह से युक्त न होने पर भी घनानन्द की रचना में सुन्दरता के विधायक प्रत्यक्ष अलंकार आ गये हैं। जो सौंदर्य व्यक्तित्व का सहज गुण है जिसका प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार अलंकरण एक निश्चित सीमा के भीतर काव्य का चिरन्तन गुण है, उपर्युक्त उद्धरण में ‘सरूप की रासि’ शब्द इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं।

नोट

(क) शब्दालंकार

शब्दालंकार चमत्कारमूलक अलंकार है, अतः इनका प्रयोग घनानन्द की रचना में, अनुप्रास के अतिरिक्त नाममात्र को हुआ है।

उदाहरणतः

क. यमक—

‘टारे टरै नहीं तारे कहूँ सु
लगे मनमोहन मोह के तारे।
सांझ तें भोर लों तारनि ताकियो
तारनि सों अकतार न टारति।’

ख. श्लेष—

तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला,
मन लेहूँ पै देहु छटाँक नहीं।’

ग. अनुप्रास—अनुप्रास का प्रयोग सार्वसिद्ध हैं कुछ प्रयोग—

‘एरी बोर मौन तेरो सब ओर गौन’
+ + +
कंत रमैं अंतर मैं सु लहै नहिं क्यों सुख रासि निरन्तर
+ + +
‘सूझै नहिं सूरझि उरझ नेह गुरझनि’

(ख) अर्थालंकार

क. उपमा— उपमा का प्रयोग प्रायः सभी स्थलों पर है। जैसे—

‘नेह भीज्यौ जीव तरु गुड़ी लौं उड़ियों रहै।’

‘तब हार पहार से लागत हैं, अब आनि के बीच पहार परे।’

ख. रूपक—

निरंग

‘मति दौरि थकी, न लहै ठिक ठौर,
अमोही के मोह-मिठास ठगी।’

× × ×

‘बिरह-समीर की झकोरनि अधीर।

ख. साँग—साँग रूपक का प्रयोग घनानन्द के छंदों में प्रचुर मात्रा में हुआ है। यह उनका प्रिय अलंकार है। कुछ अत्यन्त भावसिद्ध उदाहरण इस प्रकार हैं—

‘आसा-गुन बांधि कै भरोसो सिल धरि छाती
पूरे पन-सिंधु मे न बूड़त सकाय हैं।’

घन आनन्द जीवन मूल सुजान की,
कौंध न हूँ न कहूँ दरसैं।
सुन जानिये धौं कित छाये रहे,
दृग-चातिक प्राण तपै तरसै।
बिन पावस तो इन थ्यावस हो न,

सु क्यों करि ये अब सौं परसैं !
बदरा बरसैं रितु में धिरि कै,
नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं ।

नोट

साँग रूपक का निर्वाह काव्य-कौशल की पुष्टता की अपेक्षा करता है। घनानन्द ने प्रायः वर्षा, बादल, घटा, जल इत्यादि से सम्बन्धित रूपकों की योजना की है, क्योंकि इन उपकरणों का प्रयोग घनानन्द शब्द की संभावनाओं को पूर्ण रूप से प्रकट करने में समर्थ हैं।

ग. अपह्नुति

जारत अंग अनंग की आँचनि,
जोन्ह नहीं सु नई अगिलाई ।

घ. व्यतिरेक

हीन भये जलमीन अधीन कहा कहु मो अकुलानि समाने ।
नीर सनेही सों लय कलंक निरास है कायर त्यागत प्रानै ।
प्रीति की रीति सु क्यों समझै जड़ मीत के प्रान परे को प्रमाने ।
या मन की जु दसा घन आनंद जीव की जीवनि जान ही जानै ।
अधिक बधिक ते सुजान, रीति रावरी हैं,
कपट-चुगौं दे फिरि निपट करौ बुरी ।
गुननि पकरि लै, निपांख करि छोरि देहु,
मरहि न जियै, महा-विषम दया-छुरी ।
हौं न जानौं, कौन धौं, हो या मैं सिद्ध स्वारथ की,
लखी क्यों परति प्यारे अन्तर कथा बुरी ।
कैसे आसा-द्रुम पै बसेरौ लहै प्रान-खग,
बनक-निकाई घन आनन्द नई जुरी ।'

ड. प्रतीप—प्रतीप अलंकार का प्रयोग रीतिकालीन कवियों को बहुत प्रिय रहा है। कारण कि इस अलंकार में चमत्कार एवं ऊहा के लिए पर्याप्त अवकाश है। घनानन्द ने प्रतीप का प्रयोग बहुत कम किया है—इसका कारण यह है कि प्रतीप की चमत्कार कविता का अन्तर्भाव विरोधाभास में ही हो गया है। प्रतीप के दो उदाहरण दृष्टव्य हैं—

‘विकच नलिन लखै सकुचि मलिन होति,
ऐसी कछु आँखिन अनोखों उरझनि है ।’
‘तेरे आगे चन्द्रमा कलक सो लगत है ।’

च. यथासंख्य

बिछुरे मिले मीन पंतग दसा कह्या ओ जिय की गति को परसै ।

छ. परिवृत्ति

घन आनन्द प्यारे सुजान सुनो,
यहाँ एक तें दूसरो आंक नहीं,
तुम कौन धौं पाटी पढ़ें हो लला,
मनु लेहु पै देहु छटाँक नहीं ।

ज. असंगति

जान प्रवीन के हाथ को बीन है मोचित राग भ्रूयों नित राजै ।

नोट

नैनन में लागै जाय, जागै सु करेजे बीच
या बस है जीव धीर होत लोटपोट है।
रोम रोम पूरि पीर, व्याकुल सरीर महा,
धूमै मति गति-आसै प्यास की न टोट है।
चलत सजोवन-सुजान-दृग-हाथन तैं।
प्यारी अनियारी रुचि रखवारी ओट है।
जब जब आवै तब तब अति मन भावै,
अहा कहा विषम कटाक्ष सर चोट है।

झ. अतिशयोक्ति

रोम रोम रसना है लहै जो गिरा के गुन,
तऊ जान प्यारी निबै न मैन आरतै।

ञ. संदेह

सीमा सुमेरु की संधि तटी,
किधौं मान मवास गढ़ास की घाटी।
कै रसराज प्रवाह को मारग,
बेनी बिहार सों यों दृग दाटी।
काम कलाधर ओपि दई
मनों प्रीतम प्यार पढ़ावन पाटी।
जान की पीठि लखैं घन आनंद
आनन आन तै होति उचाटी।

जानि परै नहिं जान, तुम्हें
लखि ताहि कहा कछु आहि खग्यो है
सोचति ही पचियै घन आनन्द
हेत पग्यौ किधौं प्रेम लग्यो है।

ट. प्रतिवस्तुपमा

मही दूध सम गनै हंस बक भेद न जानै
कोकिल काक न ज्ञान कांचि मनि एक प्रमानै।
चंदन ढाक समान राँग रूपौ सम तोले,
बिन विवेक गुन दोष मूढ़ ब्यौरि न बोलै।
प्रेम नेम हित चतुराई जे न विदारत नेकु मन,
सपनेहु विलंबियैं जिन तिन ढिग आनंदघन।

ठ. विरोधाभास—घनानन्द की रचना में विरोधाभास अलंकार का प्रयोग सर्वाधिक मात्रा में हुआ है। घनानन्द का सर्वप्रिय अलंकार यही है।

घनानन्द का अलंकार प्रयोग रीतिबद्ध कवियों की विचारग्रस्त परम्परा के विरुद्ध स्पष्टतया ही व्यक्तिगत एवं निजी है। उसके विषय में कुछ तथ्य स्पष्ट होते हैं।

1. घनानन्द ने साग्रह अलंकारों का प्रयोग नहीं किया। उनका काव्य सिद्धान्त सरल एवं सहज अभिव्यक्ति के पक्ष में है।

नोट

2. घनानन्द ने जिन अलंकारों का प्रयोग किया है, वे प्रायः काव्य की सामान्य अभिव्यक्तिगत आवश्यकता हैं, चमत्कार-वृत्ति का परिक्रम नहीं। इसलिए माना जा सकता है कि घनानन्द का मुख्य प्रयोजन भाव की अभिव्यक्ति है, उसका अलंकरण नहीं।

3. रीतिकालीन काव्य-वातावरण के प्रभाव से कुछ अलंकार आ गये हैं जो अस्वाभाविक प्रतीत हो सकते हैं किन्तु सामान्य भावाभिव्यक्ति एवं अलंकरण का उनकी रचना में सुष्ठु समन्वय है।

4. चमत्कारी प्रवृत्ति का परिचय देने वाला एक ही अलंकार है— विरोधाभास। घनानन्द ने इस अलंकार का प्रयोग एक काव्य-शैली के रूप में किया है। 'मौन के घूँघट में दुरि बैठी' बात के लिए विरोधाभासाश्रित शैली सफल हो सकती थी, इसमें संदेह नहीं।



क्या आप जानते हैं

घनानंद के काव्य में अन्य रीतिकालीन कवियों की तरह सचेष्ट अलंकार प्रयोजन नहीं है। छंदों में अलंकार अनायास प्रयुक्त हुए हैं, जो काव्य को न केवल बोझिल होने से मुक्त रखते हैं अपितु काव्य के सौंदर्य में योग देते हैं।

उक्ति की वक्रता एवं विरोधाभास

उक्ति की वक्रता कुछ अर्थों में काव्य का प्रमुख तत्त्व है, सामान्य कथन उक्ति है और काव्य वक्र-उक्ति है। कविता जो कहती है, एक अंदा से कहती है, एक बानगी से कहती है। काव्य में वक्र-उक्ति के महत्त्व को स्वीकृति का प्रमाण एक ओर आचार्य कुन्तक का वक्रोक्तिवाद है, जिसके अनुसार काव्य के सभी प्रकार एवं भेद किसी न किसी प्रकार की वक्रता के अन्तर्गत समाविष्ट हैं तथा दूसरी ओर सभी प्रकार के काव्यशास्त्रियों के द्वारा वक्रता के तत्व का प्रतिपादन है।

(1) उक्तिवैचित्र्य

काव्य में वक्रता उक्ति का स्वरूप कई प्रकार का हो सकता है। उसके कई मार्ग एवं साधन हो सकते हैं। अलंकार-प्रयोग अपने आप में एक वक्रता है, इसी प्रकार शैली का पैनापन, भाव का अनोखापन, अभिव्यक्ति की कसावट, कल्पना का रम्य प्रयोग सभी वक्रता के अन्तर्गत आ सकते हैं। किन्तु प्रमुख है तथा वक्रता के दो ही स्वरूप हैं—वाग्वैदग्ध्य एवं उक्तिवैचित्र्य।

वाग्वैदग्ध्य वाणी का चमत्कार विलास है। जहां कथन में देशकाल, स्वभाव प्रकृति इत्यादि के अनुसार किसी विशेष प्रकार का सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है एवं उक्ति मार्मिक हो उठती है, वहाँ वाग्वैदग्ध्य ही समझना चाहिए। वाणी जब अपनी सहजता की परिधि से बाहर उछलकर कुल्लों भरने लगती है तब विदग्धता का जन्म होता है। स्पष्ट है कि विदग्धता के लिये कथन की एक विशेष मनःस्थिति की अपेक्षा है तथा साथ ही तथ्य की प्रेषणीयता के हेतु एक चित्रित परिवेश की। विदग्ध उक्ति ऐसे बाण के समान है जो पाठक के हृदय पर चोट किये बिना मानती ही नहीं, बिहारी के दोहों के लिये 'नाविक के तीर' शब्दों का प्रयोग सर्वथा सार्थक है। स्वभावोक्ति को सुनकर श्रोता 'वाह वाह' करता है तो विदग्ध उक्ति को सुनकर 'हाय' कर उठ है— काव्य के प्रभाव विस्तार में दोनों स्थितियों को उद्बुद्ध करने की क्षमता है।

उक्ति-वैचित्र्य में वक्रता का स्वरूप थोड़े से अन्तर के साथ प्रायः समान ही रहता है, जहाँ एक नये परिवेश में, नई विचित्रता में सम्पन्न होकर आये वहाँ उक्ति-वैचित्र्य समझना चाहिए। वाग्वैदग्ध्य के लिए हृदय की मार्मिकता की आवश्यकता अधिक है किन्तु उक्तिवैचित्र्य के लिए कथन की चातुरी अधिक अपेक्षित है। एक किंचित् भाव सम्मत है, दूसरा कुछ अधिक कला सम्मत। इस प्रकार सूर की गोपियों की ये उक्तियाँ वाग्वैदग्ध्य के अन्तर्गत हैं—

‘ऊधो मन नाहिन दस बीस

एक हुतो सो गयौ स्याम संग को आराधे ईश।’

‘निर्गुन कौन देश को वासी।’

और बिहारी में ये दोहे उक्तिवैचित्र्य के अन्तर्गत माने जायेंगे—

(क) अंग अंग नग जगमगत दीपसिखा सी देह।

दिया बढ़ोयेहू रहैं बड़ी उजारी गेह॥

(ख) झूठे जानि, न संगहे, मन मुंह निकसे बैन

या ही तें मानहु किये बातन कौ विधि नैन।

मोटे तौर पर यह भी जा सकता है कि भाव की मार्मिकता पर आश्रित उक्ति वाग्वैदग्ध्य है और कथन की मार्मिकता पर आश्रित अलंकार इत्यादि के द्वारा संयोजित उक्ति उक्तिवैचित्र्य है।

घनानन्द की रचना में दोनों का स्वरूप उपलब्ध होता है, यद्यपि वाक् वैदग्ध्य की प्रबलता है इसमें संदेह नहीं। घनानन्द में कलात्मक चमत्कार प्रायः सर्वत्र भाव-समन्वित ही है, अतः केवल वाक्चातुर्य पर आश्रित उक्ति-वैचित्र्य का स्वरूप बहुत कम उपलब्ध होगा। वाग्वैदग्ध्य का प्रयोग उन्होंने अधिकतर अपने प्रिय के व्यक्तित्व के वर्णन के लिए तथा उसके स्वभाव की विचित्रता एवं कठोरता के लिये उपालम्भ देने हेतु किया है। इसी के सहारे उन्होंने अपनी मनोदशाओं की अभिव्यक्ति भी की है। विरोधाभास का प्रचुर प्रयोग वाग्वैदग्ध्य के ही कारण है। भाव की नितान्त प्रभावशाली मार्मिकता से युक्त वाग्वैदग्ध्य का एक उदाहरण है—

जाहि जीव चाहै सो तहीं पै ताहि दाहै,

वाहि दूँढत ही मेरी मति गति गई खोय है।

करीं कित दौर, और रहीं तौ लहीं न ठौर,

घर हों उजारी कै बसत बन जोय है।

बनी आनि ऐसी घन आनन्द अनैसी दसा,

जीवौ प्रान प्यारे बिधि जागै गयो सोय है।

जगत हंसत यों जिस मोहि तातैं नैन,

मेरो दुख देखि रोयै फिर कौन रोय है।

घनानन्द ने अधिकतर भाव पर आधृत करके ही विरोधाभास का सौन्दर्य उद्घाटित किया है अतः वाग्वैदग्ध्य का स्वरूप भी उन्हीं स्थलों पर निखरा है। यहां भाव अपनी समग्र रेखाओं में बंक हो उठा है, उसका अंग-अंग अर्थ के प्रकाश से दीप्त हो उठा है। निम्नलिखित पद में विरही के मन की व्याकुलता, अन्तःपीड़ा का कितनी वक्र शैली में वर्णन किया गया है—

आस ही आकास मधि अवधि-गुनै बढ़ाय

चोपनि चढ़ाय दीनो, कीनो खेल सों यहै।

निपट कठोर ये हो ऐचत न आप ओर,

लाड़िले सुजान सों दुहेली दसा को कहै।

अचिर जमई मोहि मोहि घनआनंद यौं,

हाथ साथ लाग्यौ पै समीप न कहूँ लहै।

बिरह-समीर की झकोरनि अधीर, नेह—

नी-भीज्यौ जीब, तऊ गुड़ी लौ उड्यौ रहै।

उक्तिवैचित्र्य की कला में घनानन्द निपुण थे। उन्होंने शब्द पर आश्रित करके अनेक उक्तियां ऐसी कही हैं जो अपने प्रभाव में मार्मिक एवं टीस उपजाने वाली हैं। निम्नलिखित पद में पहली तीन पंक्तियों में जैसे कवि ने अपने

उपालम्भ कथन की भूमिका का निर्माण किया है और अंकित पंक्ति में पूर्ण आवेग एवं वैचित्र्य से संजो करके कथन को कस दिया है—

नोट

अति सूधो सनेह को मारग है ।
जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं ।
तहां सांचे चलै तजि आपुनपौ ।
झिझकै कपटी जे निसांक नहीं ।
घन आनन्द प्यारे सुजान सुनो,
यहाँ एक तेँ दूसरो आंक नहीं ।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला,
मन लेहु पै देहु छटाकं नहीं ।

इस पद में भाव की सहजता का तथा कथन की वक्रता का सुन्दर मेल है। लक्षण के आधार पर इस कथन की वक्रता भी दर्शनीय है—

‘कित को ढरिगौ वह ढार अहै, जिहि मौ तन आँखिन ढोरत है ।

अरसानि गही वह बानि कछु सरसनि सो आनि निहोरत है ।’

कहीं-कहीं वैचित्र्य सामान्य चमत्कार पर भी आश्रित है यथा—

हौ घन आनन्द जीवन मूल,
दर्ई! कित प्यासनि मारत मोही ।

(2) विरोधाभास

दो विरोधी पदार्थों का संयोग एक साथ प्रदर्शित कर देना ही विरोधाभास अलंकार है। भूषण के अनुसार जहाँ जाति, नाम, गुण और क्रिया के द्वारा उनके संयोग से परस्पर विरोधी काम होता है, तब वहाँ ‘विरोध’ अलंकार होता है। विरोध और विरोधाभास को कुछ आचार्यों ने (यहाँ भूषण ने) भिन्न माना है जबकि वस्तुस्थिति यह है कि वे एक ही हैं। उन्हें भिन्न मानने की सबसे बड़ी बाधा यही है कि ‘विरोध’ में वास्तविक विरोध का स्थान नहीं। यदि ऐसा हो तो आलंकारिक चमत्कार कैसा?

विरोधाभास अलंकार अतिशय चमत्काराश्रित है। साथ ही यह काव्य के लिए नितान्त उपयुक्त है। सत्य तो यह है कि विरोधाभास की जड़ें मानव-जीवन में बड़ी गहरी हैं। मानव-जीवन मनोविज्ञान के अनुसार एक सम्मिश्रण है— विरोधों का सम्मिश्रण। मानव का व्यक्तित्व विरोध के अनेक रूपों से भरा है— हममें से हर एक में कई व्यक्तित्व झलकते हैं, हमारे अन्तर एवं बाह्य व्यक्तित्व में स्पष्ट ही भिन्नता लक्षित होती है। हमारा भाव-भंडार विरोधों के अनेक मुधर रहस्यों को छिपाये हुए है। इस मानव-जीवन का आनन, पंत के अनुसार, चिर ‘हास अश्रुमय’ है। विरोधों की आभासित सत्ता आवरण से हटाकर भाव के एवं मानव-व्यक्तित्व के निश्छल रूप के दर्शन करना मानव की निरीक्षण शक्ति का मोक्ष है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि अलंकार का व्याख्याता विरोधाभास अलंकार के ऊपरी आभासित होने वाले जाति, नाम, गुण, क्रिया के विरोध को हटाकर विरोध का परिहार करता और काव्य के सच्चे अर्थ का उद्घाटन करता है। अतः विरोधाभास व्यापक अर्थ में केवल एक अलंकार ही नहीं है, वह उससे ऊपर एक काव्यशैली, उससे भी ऊपर एक काव्य-सत्य एवं जीवन-सत्य है। विरोधाभास की सूक्ष्म रचना के लिए कवि में पैनी निरीक्षण-शक्ति एवं भिन्न पदार्थों में आभासित विरोध को उभारकर रख देने की क्षमता होनी चाहिए। इस प्रकार विरोधाभास उन अलंकारों में से है जिनकी सत्ता कवि के लिए एक चुनौती है। जो औपम्य की सम रेखाओं की अपेक्षा वैषम्य की विरोधी रेखाओं में अधिक सजते हैं तथा जिनके प्रयोग के लिए केवल कलासिद्ध शैली की ही नहीं, काव्यसिद्ध भावों की भी आवश्यकता पड़ती है।

नोट

घनानन्द की रचना में विरोधाभास एकमात्र प्रमुख अलंकार के रूप में आया है। यदि कहा जाये तो घनानन्द का प्रिय एवं प्रमुख अलंकार यही है। उनकी कविता का स्वाभाविक सीधा स्वरूप विरोध में ही मुखर हो पाया है। ब्रजनाथ ने घनानन्द की प्रशस्ति में उनके लिए कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो इस संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं—

(क) भावना-भेद स्वरूप कौन ठानै ।’

(ख) ‘बिछुरे-मिले प्रीतम सांति न माने’,

घनानन्द के इसी विरोधी स्वभाव को उनके काव्यगत विरोधाभास का मूल माना जा सकता है। ‘बिछुरे’ मिले प्रीतम सांति न माने की संगति इन पंक्तियों में देखिये—

अनोखी हिलग दैया! बिछुरै तो मिल्यौ चाहै,
मिलैहूँ मैं मारे जाँरै खरक बिछोह की।
कैसे धरौं धीर बीर अति ही असाधि पीर,
जतन ही रोज याहि नीके करिटोह की।
देखे अनदेखे तहीं अटक्यो अनन्दघन,
ऐसी गति कहौ कहा चुंबक औ लोह की।

भाव के क्षेत्र की यही ‘दुहेली-दसा’ कला के क्षेत्र में कहीं लक्षण, कहीं मुहावरे, कहीं शब्द चातुरी एवं कहीं अलंकार के सहारे विरोधाभास बन बैठी है। घनानन्द ने उक्ति के लिये कहा है कि मौन घूँघट में छुपकर बैठी है—उनके सौंदर्य का उद्घाटन घनानन्द ने कई प्रकार से किया है। विरोध का समावेश कई स्थलों पर भाव की समृद्धि से भरा हुआ है—

अतन-जतन ते अनखि अरसानी बीर,
प्यारी पीर-भीर क्यों हूँ धीर न धरति हैं,
देखियै असाध दसा अखियाँ निपेटनि की,
भसमी विथा पै नित लंघनि करति है।

कहीं उसके लिए कवि ने शब्दों के अतीव कलासिद्ध रूप का प्रयोग किया है—

औसर सम्हारौ न हौ अनआइबे के संग,
दूरि देस जाइबे को प्यारी नियराति है।

कहीं साधारण शब्दों की स्थिति से ही चमत्कार उत्पन्न कर दिया है—

कृपा-कान मधि नैन ज्यों,
त्यौं पुकार-मधि मौन।

और कहीं उपालम्भ के हेतु, शब्दों का प्रयोग एवं उनकी क्रिया में अपनी भाव-समृद्धि में चमक उठी है—

(क) उजरनि बसत है हमारी अंखियान देखौ,

सुबस सुदेस जहां भावते बसत है।

(ख) झूठ की सचाई छाक्यों त्यों हित की कचाई पाक्यों।

ताके गन मन घन आनन्द कहा गनै।

(ग) चलिबे मधि बैठि रहे हो कहा,

डग द्वै मग धारि के रंग रलै।

इस प्रकार घनानन्द की रचना में विरोधाभास या समावेश के अनेक रूप हैं। वह विविध प्रकार के प्रयोग सौंदर्य एवं परिपक्वता से युक्त है। घनानन्द की रचना में भक्ति, शृंगार विरह की जो त्रिवेणी उपलब्ध होती है वह विरोध से सहारे आगे बढ़ती है, साथ ही उनकी भावना की समृद्धि को काव्य भाव का रूप देकर अभिव्यक्त करने में भी यह विरोध सफल हुआ है।



नोट्स

रीतिकाल के ऐसे युग में जबकि चमत्कार ने कविता को सर्वांगीण ग्रस लिया था, एक चमत्कार-सिद्ध अलंकार को ग्रहण करके भी उसे अन्तर की सहज अभिव्यक्ति के माध्यम से घनानंद ने उद्घाटित किया।

नोट

3. चित्रात्मकता एवं लक्षण-बहुलता

चित्रक्षमता प्रत्येक समर्थ कवि के लिए सामर्थ्यगत अनिवार्यताओं में से है। कविता, जैसा कि दिनकर जी ने कहा है, बल्कि कहती नहीं, वह चित्र देती है। कविता वर्णन करती है ऐसा वर्णन जो नेत्रों के सम्मुख एक दृश्य को साकार कर दे—

‘तै बरने निज बैनन सो सखि,
मैं निज नैनन सौं मनु देखे।’

(मतिराम)

घनानन्द की रचना सामर्थ्य का एक परिचय उनके द्वारा भाव को मूर्त, चित्रात्मक रूप देने के प्रयास में रचित पद है, जिनमें कहीं सौंदर्य, कहीं मुद्रा और कहीं केवल मनगत भाव का मूर्तिकरण है। प्रकृति चित्रण की क्षमता का एक उदाहरण देखिए—

लहक लहक आवै ज्यों ज्यों पुरवाई पौन;
दहकि दहकि त्यों त्यों नन तांवरे तचै।
बहकि बहकि जात बदरा विलोके जिय,
गहकि गहकि गहवरनि हिये मचै।
चहकि चहकि डारै चपला चखन चाहै,
कैसे घनआनन्द सुजान बिन ज्यों बचै।
महकि महकि मारै पावसा प्रसून बाग,
आसनि उसास दैया कौं लौरहियै अधै।

वीप्सा के द्वारा शब्दों की आवृत्ति न केवल नाद सौन्दर्य में सहायक है। वरन् ‘पुरवाई पौन’ की गति को जैसे ध्वनित कर रही है।

घनानन्द के द्वारा किये गये रूप वर्णनों में चित्रात्मकता अधिक है। रूप चित्रण रीतिकाल के हर कवि का काव्य-सुलभ कार्य था, घनानन्द ने भी रूप के पर्याप्त चित्र खींचे हैं। रूप की अपेक्षा इन चित्रों को मुद्राओं का चित्र ही माना जा सकता है। रतिश्रान्ता नायिका का यह चित्र ही स्पष्ट हो अपनी रेखाओं में पूर्ण है—

सुख स्वेद कनी मुखजंद बनी,
विथुरी अलकावलि भाँति भली।
मद जोवन रूप छवि अंखिया,
अवलोकति आरस रंग मली।
घन आनन्द ओपित ऊँचे उरोजनि,
चोज मनोज के ओज दली।
गहि ढीली लजीली रसीली लसीली,
सुजान मनोरथ बेलि फली।

इसी प्रकार आंखें मटका कर कृष्ण से बात करती हुई, नायिका का रूप इन पंक्तियों में हँसता है—

छैल नये नित रोकत गैल
सु फैलत कांपै अरैल भये हो।
लै लकुटि हँसि नैन नचावति।
बैन नचावत मै न तए हो।
लाज अंचे बिन काज छागै
तिन ही सों पगो जिन रंग रमे हो।
ऐइ सबै निकसैगी उबै
घनआनन्द आनि कहा उनए हो।

कहीं-कहीं एकाध पंक्तियों में चित्र को पूरा कर देने की सामर्थ्य है—

(क) अंग अंग तरंग उठै दुति की,
परि है मनौ रूप अबै घर ज्वै।

(ख) आवति चली कुंज गहरते,
कुंवरी राधिका रूप मढ़ी।

घनानन्द के अन्तर में सुजान के रूप का जो चित्र था, उसे ही उन्होंने अनेक स्थलों पर शब्दों में उतारा है। उनके चित्रों में परम्परा का पालन नहीं, बल्कि अनुभूति का नयापन है। नेत्रों के विषय में उन्होंने अनेक नई कल्पनाएँ की हैं, जो भाव को येनकेन अभिव्यक्त कर देने का प्रयास कही जा सकती हैं। वे कल्पनाएँ इस तथ्य की ओर भी संकेत करती हैं कि घनानन्द ने रीतिकाल को सामान्य वर्णन-सामग्री को अपूर्ण एवं अक्षम अनुभव किया, अतः उन्हें नये उपमानों की, नई काव्य स्थितियों की योजना करनी पड़ी। घनानन्द ने चित्रात्मकता के समावेश के लिये अभिव्यंजक शब्दों को ग्रहण किया है जो श्लेष एवं अर्थ-सौन्दर्य के आधार पर 'हाव' को उभार कर उसमें रंग भर देते हैं। सुजान के मुड़कर देखने की मुद्रा इस पंक्ति में जैसे खड़ी हुई सुजान का रूप लेकर साकार है—

निस द्यौस खरी उर-माँझ अरी,
छवि रंग भरी मुरि चाहन की।

लक्षणा-बहुलता

शुक्लजी ने घनानन्द के लक्षणा-प्रयोग के विषय में लिखा है—

“लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी कवियों ने इसके भीतर बहुत कम पैर बढ़ाया। एक घनानन्द ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगाई। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग-वैचित्र्य की जो छटा इनमें दिखाई पड़ी, खेद है कि वह पौने दो सौ वर्ष पीछे जाकर आधुनिक काल के उत्तरार्ध में अर्थात् वर्तमान काल की नूतन काव्यधारा में ही अभिव्यंजनावाद के प्रभाव से कुछ विदेशी रंग लिए प्रकट हुई।”

शुक्ल जी का अभिप्राय छायावाद से है। घनानन्द की रचना में भावावेगों का मूर्तिकरण है। उन्होंने भाव के भिन्न रूपों—वियोग के विभिन्न अंगों, आशा, दुख, आवेग, विडम्बना इत्यादि को मूर्तिमान कर दिखाया है। उनका लक्षण-प्रयोग सबल और समर्थ है। उससे भाषा की शक्ति का बहुत गहरा समावेश है। आँखों में उर के लिए यह पद कितनी समर्थ व्यंजना करता है।

‘भोर ते साँझ लौं कानन ओर।
निहारति बावरी नेकु न हारति।
साँझ ते भोर लौं तारनि ताकिबो।
तारनि सो इकतार न टारति।
जो कहूँ भावतो दीठि परै।

नोट

घनआनन्द आंसुनि औसर गारति ।
मोहन-सोहन-जोहन की लगियै ।
रहै आंखिन के उर आरति ॥'

इसी प्रकार मति के लिए वे कहते हैं—

मति दौरि थकी न लहै ठिक ठौर,
अमोही ने मोह-मिठास ठगी ।

चातक, घन और चकोर इत्यादि के द्वारा लाक्षणिक प्रयोग हिन्दी में बहुत हुए, किन्तु घनानन्द ने एक ओर इन तत्वों के प्रयोग में भी नयापन दिखाया है तथा दूसरी ओर नए तत्वों का समावेश किया है। रीझ को 'बावरी' विशेषण देना प्रेम के प्रमाद का कैसा समर्थ कथन है—

रोकि रहै न पहे घनआनन्द,
बावरी रीझ के हाथनि हारियै ।

इसी प्रकार प्रिय के पीछे चलने वाली आंखों के लिए घनानन्द ने कहा है।

जहाँ ते पधारे मेरे नैनन ही पांव धारे,
वारे ये विचारे प्रान ऐंड-पैंड पै मनो ।

इसी प्रकार दर्शन की प्यासी आँखों की दशा को, उनकी व्याकुलता को इद पद में जैसे साकार कर दिया है—

घेर घबरानी उबरानी ही रहति घन
आनन्द आरति-राति साधनि मरति हैं ।
जीवन अधार जान रूप के अधार बिन
व्याकुल विकार-भरी खरि सु जरति हैं ।
अतन जतन तें अनखि अरसानी वीर,
प्यारी पीर-भरी क्यों हूँ धरी न धरति हैं ।
देखियै दसा असाध अंखिया निपेटनि की,
भसमी विधा पै नित लंघनि करति हैं ।

लक्षणा के प्रयोग में कवि ने 'मानवीकरण' का भी विधान किया है। मानवीकरण का जो रूप घनानन्द में उपलब्ध होता है शुक्ल जी के अनुसार 'आधुनिक युग में ही पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप रचित हुआ है।' घनानन्द ने मानवीकरण के लिए रीतिकाल से बिल्कुल भिन्न शैली का प्रयोग किया है—

चलत सजीवन-सुजान-दृग-हाथन ते
प्यारी अनियारी रुचि रखवारी ओट है ।

लक्षणा के अन्तर्गत ही 'विशेषण-विपर्यय' को भी ग्रहण किया जाता है। घनानन्द ने अधिकतर नेत्रों के लिए विशेषण-विपर्यय अपनाया है। नेत्रों के विविध प्रकार के सौन्दर्य को उन्होंने साकार किया है। आँखें कहीं ओलतियों के समान टपकती हैं और कहीं उनमें प्रिय के रूप की दुहाई फिर गई है—

'दीठि को और नहीं कहुं ठौर
फिरी दृग रावरे रूप की दोही ।'

लोचन कहीं सोच से जले जाते हैं और कहीं आँखों के हृदय में कृष्ण के रूप की आरति लगी हुई है। नेत्र पाँव धरे प्रिय के पीछे चलते हैं। कानों में जिस प्रकार नेत्र समाए रहते हैं वैसे ही पुकारने वाले की वाणी मौन से अन्तर्भूत है—

पहचानें हरि कौन सोसे अत पहचान को
त्यों प्रकार मधु-मौन कृपा-कान मधि-नैन ।

लक्षणा का एवं विशेषण-विपर्यय तथा मानवीकरण का यह स्वरूप रीति काल की साधारण कविता से कितना भिन्न और उस काल की बनावटी-काव्य शैली को देखते हुए कितना व्यक्तिगत, कितना प्रतिभा-सिद्ध है।

छन्द—

छन्द कविता का प्राणतत्व है। वह मानव की भावलय है, जो सम्बन्ध हमारे जीवन और भाव में है, हृदय की धड़कन और श्वास-संचार में है वही भावाभिव्यक्ति और छन्द में है। डा. नगेन्द्र का यह विचार है कि भावोच्छ्वास की अवस्था में रस की गति तीव्र हो जाती है और वह तीव्रता शब्द-रूप है। श्वास का आरोह-अवरोह क्रमिक लय के अनुसार चलता है ठीक वैसे-जैसे नृत्य में संगीत की थाप के साथ चरण थिरकते हैं। कविता का जन्म भावोच्छ्वास की अवस्था में हुआ है, अतः छन्द से उसका सम्बन्ध प्राणगत है। वे भाव की अभिव्यक्ति का एक ऐसा वातावरण तैयार करते हैं जिसमें अपनी गुंजार के द्वारा वे भाव को मुखर एवं वर्तित कर देते हैं। पल्लव की भूमिका में **पन्तजी** ने भी छंद की इसी विशेषता की ओर संकेत किया है। उनका कथन है—

“छन्दबद शब्द चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौहचूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण-क्षेत्र तैयार कर लेते हैं। उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एकरूप एकविन्यास आ जाता है। उनमें राग में विद्युतधारा बहने लगती है, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।”

अतः छंद वाणी की विशेषता प्रभावमयी वाणी की अनिवार्य आवश्यकता है। उन्हें कविता का आन्तरिक संगीत कहा जा सकता है। छंद को ओढ़कर ही कविता एक विशेष प्रकार से थिरकती है, एक निर्विकार दिशा में एवं कला के साथ अंग-अंग नचाती है। छंद आवरण भी है और मूलतत्त्व प्राण भी।

भाव और छन्द

हिन्दी भाषा की प्रकृति विश्लेषणात्मक है, अतः इस भाषा के अनुरूप मात्रिक छंद अधिक सुन्दर लगते हैं। छंद और भाव अर्थात् रस अनिवार्यता पारस्परिक अनुकूलता में सम्बद्ध है। ललित कलाओं में छंद का समावेश विभिन्न रूपों में होता है। मूर्ति और चित्रकला में उसका रूप नितान्त स्थूल है किन्तु संगीत और काव्य में अत्यन्त सूक्ष्म। इसी से सिद्ध होता है कि छंद किन्हीं विशेष भावों की अभिव्यक्ति के लिए अधिक उपयुक्त है और कुछ के लिए कम।

वस्तुतः छंद ही कुछ अर्थों में भाव-निर्धारक है। कविता के साथ श्रोता का पहला परिचय पावस-प्रभाव अर्थात् छंद के द्वारा ही होता है। छंद भाषा एवं अभिव्यक्ति के अन्य आवरणों को हटाकर श्रोता तक पहुंचता प्रतीत होता है। छंदों की प्रकृति पर विचार करते हुए **पन्तजी** ने कई छन्दों के स्वभाव का व्याख्यान किया है। उदाहरणतः ‘प्लवंगम’ उनके अनुसार रसमय रस के लिए अधिक उपयुक्त है। ‘चौपाई’ में बच्चों की माँ से है बच्चों का कण्ठरव है, अतः यह बाल साहित्य के लिए विशेष उपयोगी है। निर्झरणी के समान कलकल छल-छल करने वाला छंद ‘अरिल्ल’ है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

सही विकल्प चुनिए—

- घनानंद रीतिकालीन किस काव्यधारा के कवि थे?
(अ) रीतिबद्ध (ब) रीतिसिद्ध (स) रीतिमुक्त
- घनानंद की प्रेयसी का क्या नाम था?
(अ) राधा (ब) सुजान (स) मीराबाई
- घनानंद के काव्य में कौन-सा अलंकार प्रमुखता से प्रयुक्त हुआ है?
(अ) उत्प्रेक्षा (ब) अतिशयोक्ति (स) विरोधाभास
- ‘लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावता।’ किस कवि ने कहा है?
(अ) घनानंद (ब) बिहारी (स) केशवदास

घनानन्द की छन्द-योजना

नोट

हिन्दी काव्य के आदिकाल में छंदों का विपुल प्रयोग हुआ है। 'चन्द' को छंदों का राजा कहा जाता है। दोहा, छप्पय, सवैया और कवित्त का प्रयोग आदिकाल में प्रचुर मात्रा में न हुआ। भक्तिकाल में कवित्त तथा पद की प्रधानता हो गई। प्रबन्धों के लिए दोहा-चौपाई का प्रयोग हुआ। कवित्त और सवैया रीतिकाल में विशेषतया गृहीत हुए। इन दोनों छंदों की प्रकृति रीतिकाल में आकर हिन्दी में ढाल दी गई। अनेक प्रसिद्ध कवियों ने कवित्त और सवैया में रचना की, घनानन्द के काव्य में कवित्त का बड़ा व्यापक प्रयोग है। 'कवित्त' के मुख्यतया दो भेद हैं—

1. मनहर

2. घनाक्षरी—जिनमें क्रमशः 31 और 32 अक्षर होते हैं। आठ-आठ अक्षरों पर यति का विधान है।

कवित्त ऐसा छंद है जिसका प्रयोग विशेषतया मादक भावों के अधिक संगत बैठता है। कवित्त के विषय में 'निराला' का यह मत था कि यह हिन्दी का अपना छंद है। इसे 'चौपाल' आदि बड़ी तालों में और ठुमरी की तीन तालों में सफलता के साथ गाया जा सकता है। कवित्त के लिए कवि की भाव-समृद्धि विशेषतया मादक होनी चाहिए तभी छंद अधिक सफल हो पाता है। घनानन्द के कवित्तों का संग्रह श्री 'विश्वनाथप्रसाद मिश्र' ने 'घनानन्द कवित्त' के नाम से किया है। उसका प्रथम छंद 'मनहर कवित्त' ही है—

‘लाजनि लपेटी चितवन भेद भाव भरी
लसति ललित लोल-चख तिरछानी मैं।
छवि को सदन गोरो बदन, रुचिर भाल,
रस निचुरत मृदु मीठि मुसकानि मैं।
दमक दमक हिय फैलि हिये मोति-माल, होति,
पिय सो लड़कि प्रेम पगी वतरानी मैं।
आनन्द की निधि जगमगति छबीली बाल,
अंगनि अनंग रंग दुरि मुरि जानि मैं॥’

इस शब्द में तीन के बाद 2-2 ध्वनियों वाले अक्षरों का प्रयोग हुआ है, जो संगीत-सृष्टि में सहायक है। शब्द प्रयोग में कवि प्रवाह 'अर्थात् गति पर दृष्टि लगाए हुए हैं। 'छवि को सदन' के साथ 'गोरे बदन' की लयानुरूपता सुन्दर है। 'अंगनि अनंग रंग' में अक्षरों के साथ लय मुड़ती चलती है। अतः छंद में संगीत-सृष्टि क्रमशः होती चलती है। प्रायः आठवें अक्षर पर यति है, जो सफल है।

इसी प्रकार 'घनाक्षरी' कवित्त का सुन्दर उदाहरण है—

‘जहाँ जौ संदेसों ताको बड़ोई अंदेसों आहि,
न्हालै मन वारें की कहैउब को सुनै सुकौन।
निधारखा जो अलचेले निखरक और
दुखिया कहै या कहा तहां की उचित हौन।
पर दुख दल के दलन कौ प्रभंजन हौं,
ढरकौहें देखि कै विवस पकि परी मौन।
इतकी भसम दसा लै दिखय सकत जू,
लालन सुवास मों मिलाय हूँ सकल पौन॥’

इसमें 16-16 शब्द अक्षरों को पंक्ति में आठवें पर मध्य यति है, यद्यपि यह छंद उतना सफल नहीं जितना कि पहला है किन्तु फिर भी गति-यति का विधान नियमित है।

घनानन्द का दूसरा मुख्य छंद 'सवैया' है। सवैया कई प्रकार का हो सकता है। घनानन्द की रचना में उसके सभी मुख्य प्रकार आ गए हैं। उदाहरणतया,

(1) किरिट

‘भोर ते सांझ लौ कानन-ओर
निहारति बावरी नेकु न हारति।
सांझ ते भोर लौं तारनि ताकिबो
तारनि सौं इकतार न टारति।
जो कहुं भावतो दीठि परै घन
आनन्द आंसुनि औसर गारति।
मोहन-सोहन-जोहन की लगियै रहै,
आंखिन के उर आरति ॥’

(2) अरसात

रावरे रूप की रीति अनूप, नयो नयो लागत ज्यों ज्यों निहारियै।
त्यों इन आंखिन बानि अनोखी, अघानि कहुं नहिं वानि तिहारियै।
एक ही जीउ हुतौ सुतौ वार्यौ, सुजान सकोच औ सोच सहारियै।
रोकि रहै न, दहै, घनआनन्द, बावरी रीझ के हाथनि हारियै।

(3) मत्तगर्यंद

‘हीन भए जलमीन अधीन, कहा कछु मो अकुलानि-सयानै,
नीर-सनेही कौ लाय कलंक निरास है कायर त्यागत प्रानै।
प्रीति की रीति सु क्यों समुझैं जड़, मीत के पानि परे कौं, प्रमानै,
या मन की जु दशा घन आनन्द जीव की जीवनि जानि ही जानै।’

सवैये का प्रयोग सामान्यतया कवित्त की अपेक्षा अधिक सफल है। घनानन्द के सवैया-प्रयोग की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने इस छन्द का प्रयोग विरह के लिए अधिक किया है। सवैया की कोमलता उनकी रचना में पूर्णतया उद्घाटित है। शब्द-मैत्री अत्यन्त सफल है। डा. मनोहर लाल गौड़ का यह कथन उचित ही है कि नरोत्तमदास तथा सीताराम की-सी सरलता और कोमलता घनानन्द के सवैया में सहज प्राप्य है।

इन दोनों के अतिरिक्त घनानन्द ने ‘सुमेरु’, ‘ताटक’, ‘निसानी’, ‘अरल्ल’, ‘शोभन’, और ‘त्रिभंगी’, छन्द का भी प्रयोग किया है। सुमेरु का प्रयोग ‘वियोगबेलि’ में है। ताटक का ‘इश्कलता’ में शोभन का ‘गोकुल विनोद’ में। घनानन्द ने प्रबन्ध-रचनाओं में दोहे-चौपाई का प्रयोग किया है किन्तु चौपाई का ब्रज से स्वभावगत विरोध है। पदावली में गेय पद हैं, जो अत्यन्त सांगीतिक हैं।

घनानन्द का छन्द-प्रयोग सामान्यतया सफल है। उनकी रचना में छन्द की वह एकाग्रता नहीं, जो बिहारी में है और न ही वैसा विस्तार है जैसा तुलसी में, किन्तु वे छन्दों की प्रकृति को भली प्रकार समझते थे, यह निश्चित है। सवैया और कवित्त की सांगीतिक सम्भावनाएँ उनकी रचना में निखर उठी हैं। छन्द के आग्रह से उन्होंने भाषा को कहीं भी विकृत नहीं किया। कई स्थानों पर तो छन्द और भाषा का इतना सुन्दर मेल है कि हिन्दी में बहुत कम उपलब्ध होगा। जैसे—

रावरे रूप की रीति अनूप, नयो नयो लागत है ज्यों ज्यों निहारियै।
त्यों इन आंखिन बानि अनोखी, अघानि कहुं नहिं आनि तिहारियै॥
एक ही जीव हुतौ सुतौ दार्यौ, सुजान, सकोच ओ सोच सहारियै।
रोक रहै न, दहै, घनआनन्द, बावरी रीझ के हाथनि हारियै॥

10.3 सारांश (Summary)

विभिन्न आचार्यों ने अलंकारों को काव्य का मूल सौन्दर्य माना। दूसरी ओर ‘आनन्दवर्धन’ ने दर्शन को तथा ‘विश्वनाथ’ इत्यादि ने रस को महत्त्व दिया। समन्वय दृष्टि से सम्पन्न आचार्यों में मम्मट एवं जगन्नाथ ने दोनों रसों के अनिवार्य महत्त्व को स्वीकार किया।

नोट

काव्य-व्यापार, रचना एवं मूल्यांकन-व्याख्यान, दोनों दृष्टियों से समन्वय सिद्ध व्यापार हैं। यह समन्वय स्थूल अर्थ में भाव एवं वाणी का है तथा सूक्ष्म अर्थ में भाव एवं अभिव्यक्ति का, व्यष्टि एवं समष्टि का तथा पिंड एवं ब्रह्मांड का है। अभिव्यंजना के स्तर पर कविता अनेक कलाओं का समन्वय है, प्रेषणीयता के स्तर पर वह कवि के हृदय एवं श्रोता अथवा पाठक-समुदाय के हृदय का समन्वय है। जिस प्रकार रस सारतत्व है, उसी प्रकार काव्य में भी भाव की अमूर्त संज्ञा का शब्द के मूर्तरूप से समन्वय-स्तर घटित होता है।

घनानन्द की भावाभिव्यक्ति अनूठी थी। भाव एवं अभिव्यंजना का संयोग घनानन्द में अत्यन्त प्रखर एवं मुखर है—साथ ही अभिव्यक्ति में आन्तरिक भाव की टीस उभर आई है। कविता तथ्य का केवल कथन नहीं करती बल्कि सुन्दर कथन करती है—वह उक्ति का शृंगार करती है।

वियोग घनानन्द का काव्य साधन है— उनकी कविता अपने प्राकृत रूप में वियोगमयी है। संयोग-पक्ष की अभिव्यक्ति सरस है, उसके लिए काव्य क्षमता के अतिरेक की आवश्यकता नहीं किन्तु वियोग, जैसा कि आचार्यों ने संकेत किया है, कवि-हृदय के मार्मिक पक्ष के उद्घाटन की अपेक्षा करता है। घनानंद के वियोग-वर्णन में जो अनूठापन है, संयोग वर्णन में नहीं।

घनानन्द के काव्य में अलंकारों का सचेष्ट प्रयत्न किसी भी स्थल पर नहीं है, यह मानना सम्मत होगा। विरोध एवं विरोधाभास का आग्रह उपलब्ध होता है वह मुख्यतया एवं मूलतया भाव का अभिन्न अंग है, इससे पृथक् कोई अन्य तत्व नहीं।

10.4 शब्दकोश (Keywords)

1. **उक्तिवैचित्र्य:** अभिव्यक्ति का चमत्कार।
2. **प्रेषणीयता:** किसी भी कृति (रचना) का वह गुण जो उसके भावों को उसके पाठकों तक पहुँचाता है।

10.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. घनानंद की लेखन कुशलता पर विचार कीजिए।
2. घनानंद के काव्य के कलापक्ष पर विचार कीजिए।
3. घनानंद के काव्य में अलंकार एवं छंद विधान पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—स्वमूल्यांकन (Answer-Self Assessment)

1. (स)
2. (ब)
3. (स)
4. (अ)

10.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



- पुस्तकें
1. महाकवि घनानन्द—राज बुद्धिराजा, तक्षशिला प्रकाशन।
 2. रीतिमुक्त कवि घनानन्द—सहगल शशि, अमरसत्य प्रकाशन।
 3. घनानन्द का काव्य शिष्य—पाल लखनसिंह, हिन्दी बुक सेन्टर।

नोट

इकाई 11

घनानंद कवित्त-व्याख्या भाग (प्रथम 50 पदों की व्याख्या)**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

11.1 घनानंद कवित्त: व्याख्या भाग

11.2 सारांश (Summary)

11.3 शब्दकोश (Keywords)

11.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

11.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- घनानंद कवित्त की काव्यात्मक अनुभूतियों को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

घनानंद रीतिकालीन कवियों में रीतिमुक्त काव्य परंपरा के अंतर्गत आते हैं। घनानंद के काव्य के दो रूप हैं। एक प्रेमी का दूसरा भक्त का। अपनी प्रेयसी सुजान के प्रति अगाध प्रेम जीवन की विषमता से विरक्ति के कारण ईश्वरोन्मुख प्रेम में परिणत हो गया। प्रेम की संयोगावस्था में कवि ने यौवना नायिका के रूप सौंदर्य का वर्णन किया है तथा वियोगावस्था ईश्वरोन्मुख की विरहानुभूति अलौकिक प्रेम के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है।

11.1 घनानंद कवित्त: व्याख्या भाग

लाजनि लपेटी चितवनि भेद-भाय-भरी,
लसति ललित लोल-चख-तिरछानि मैं।
छबि को सदन गोरो बदन, रुचिर भाल,
रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि मैं।
दसन-दमक फैलि हियें मोती-माल होति,
पिय सों लड़कि प्रेम-पगी बतरानि मैं।
आनन्द की निधि जगमगति छबीली बाल,
अंगनि अंग-रंग दुरि-मुरि जानि मैं ॥ 1 ॥

शब्दार्थ—लाजनि=लज्जा में। लपेटी=लिपटी हुई। चितवनि=दृष्टि। भेद-भाव-भरी=गूढ़ भावों से भरी। लसति=शोभित होती। लोल=सुन्दर, चंचल। चख=चक्षु। तिरछानी=बंकिम। छबि=सौन्दर्य। सदन=घर। भाल=मस्तक। निचुरत=निचुड़ना। दसन-दमक=दाँतों की चमक। लड़कि=उलझना। अंगानि=अंगों में। दुरि=दुलकना। मुरि जानि मैं=मुड़ जाने में।

प्रसंग—प्रस्तुत कवित्त में कवि ने कामिनी नायिका के बाह्य सौन्दर्य, ताप, भाव, मुद्राओं, चेष्टाओं, अंग-प्रत्यंगों का रूप वर्णन किया है। इस प्रकार से यह नायिका-भेद है लेकिन अन्तर इतना है कि नायिका-भेद की परम्परा में रूप वर्णन का कार्य जहाँ सखी अथवा दूती करती है, यहाँ स्वच्छन्द धारा के कवि यह मधुर कार्य स्वयं अपनी ओर से

सम्पन्न करते हैं। फारसी कवि ऐसा ही करते हैं, अतः नायिका-भेद की दृष्टि से रीतिमुक्त कवि फारसी कवियों की परम्परा में ही आयेंगे।

नोट

व्याख्या—लज्जा में लिपटी हुई, गूढ़ रहस्य से भरे नेत्रों वाली, चंचल नयनों की बांकी अदा से सुशोभित, सौन्दर्य का घर, गौर वर्ण-शरीर तथा सुन्दर आकर्षक मस्तक वाली, जिसकी मनोहर मुस्कान से मधुर रस-सा टपक पड़ता है; जिसके दाँतों की चमक फैलकर हृदय पर मोतियों के हार की तरह दीप्त हो उठी है; प्रेम-भरी बातों में प्रियतम से उलझ कर उस सौन्दर्य ने जगमगाती आनन्द की निधि सुन्दर बाला के प्रियतम से बातें कर मुड़कर जाने से शरीर से कामरस टपकता हुआ प्रतीत होता है।

विशेष—संयोग के समय की मुद्रा का मनोहारी चित्रण किया गया है। मुड़कर जाने की छवि के वर्णन में नायिका की नजाकत का सुन्दर वर्णन है। मुस्कान से रस टपकना तथा दाँतों की कान्ति का हृदय का मोतियों के हार की तरह बिखर जाना सुन्दर प्रयोग हैं।

अलंकार—अनुप्रास और उत्प्रेक्षा

तुलना

‘औरे औप धनीं निधनु, जनी धनी सरताज।
मनो धनी के नेह की बनी धनी कर लाज॥’

—बिहारी

छन्द—यह मनहरण कवित्त है। इसमें 16, 15 पर यति होकर 31 वर्ण होते हैं। अन्तिम वर्ण सदैव गुरु होता है। इसे घनाक्षरी छन्द भी कहते हैं।

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छवै।
हँसि बोलन मैं छवि-फूलन की बरसा, उर ऊपर जाति है हवै।
लट लोल कपोल कलोल करै, कल कंठ बनी जलजावलि द्वै।
अंग-अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अँबै धर चै ॥ 2 ॥

शब्दार्थ—झलकै=झिलमिलाना। छके=मस्त। कानन छवै=कानों को छूते हुए। लोल=सुन्दर। कलोल=क्रीड़ा। जलजावलि=मोतियों की माला। दुति=कांति। परिहै=पड़ना। धर=धरा।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द में नायिका का रूप-वर्णन तथा अंग-दीप्ति का उल्लेख है।

व्याख्या—उसका गौरवर्ण—मुख अत्यन्त सुन्दरता से झिलमिला रहा है। कानों को छूते हुए मद मस्त विशाल नयन सुशोभित हो रहे हैं। उसके हँसने में, बोलने में अनूठी छवि है—मानो देखने-सुनने वाले के हृदय पर फूलों की वर्षा हो रही हो। चंचल तथा सुन्दर लटें गाल पर क्रीड़ा कर रही हैं। सुन्दर कंठ में मोतियों की दो लड़ी की माला है। उसके एक-एक अंग से कान्ति की लहरें उठती हैं, मानो उसका सौन्दर्य अभी धरती पर टपक पड़ेगा।

विशेष—1. बाह्य रूपआकर्षण वर्णन।

2. मुहावरों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है।

3. ‘जलजावलि’ जैसे अप्रसिद्ध ‘योगरूढ़ि’ शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसे ‘निहितार्थ’ दोष कहते हैं।

अलंकार—अनुप्रास, रूपक, उत्प्रेक्षा, यमक, पुनरुक्तिप्रकाश, छेकानुप्रास तथा पदमैत्री।

तुलना

‘वरदंत की पंगति कुंदकली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकें घन बीच जगै छवि मोतिन माल अमोलन की।
घुंघरारि लटा लटकें मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
नेवछावरि प्रान करै ‘तुलसी’ बलि जाउँ लला इन बोलन की ॥’

—तुलसी

छन्द—सुमुखी सवैया है। प्रत्येक चरण में आठ सगण तथा 24 वर्ण होते हैं।

छवि को सदन, मोदमंडित वदन-चंद,
तृषित चखनि लाल, कब धौं दिखायहौ।
चटकीलो भेख करे, मटकीली भाँति सों ही,
मुरली अधर धरे लटकत आयहौ।
लोचन दुराय, कछू मृदु मुसक्याय नेह,
भीनी वतियानि लड़काय बतरायहौ।
बिरह-जरत जिय जानि, आनि प्रानप्यारे,
कृपानिधि, आनन्द को घन बरसायहौ ॥ 3 ॥

शब्दार्थ—मोदमंडित=प्रसन्नतापूर्ण। तृषित=प्यासी। चखनि=आँखों को। लाल=प्रियतम। भेख=वेश। मटकीली=चंचल, चटक, मटक। अधर=ओँठ। लटकत=मस्ती से झूमते हुए। लोचन=आँखें। दुराय=मटकाते हुए। नेह-भीनी=प्रेम से सुगन्धित। लड़काय=ललक के साथ, बच्चों की तरह मधुरता, सरलता से।

प्रसंग—गोपी ने पहले कभी श्रीकृष्ण का दर्शन-लाभ किया है। कृष्ण का रूप उसके मानस में बस गया है। अतः प्रेमानुरक्त गोपी की प्रस्तुत छन्द में यह अभिलाषा लक्षित होती है कि श्रीकृष्ण के पुनः दर्शन हों।

व्याख्या—हे सौन्दर्य के सदन! प्रसन्नता से प्रफुल्लित चन्द्रमुख प्यासी आँखों को कब दर्शन कराओगे? कब अपने चंचल-चपल वेश में मचलते हुए होंठों पर मुरली धरे, मस्ती में झूमते हुए हमारे पास आओगे? आँखों को मटकाते हुए, मृदु मुस्कान के साथ प्रेमरस से सुगन्धित उमंग भरी बातें कब हमसे आकर करेंगे? हे कृपानिधि प्रियतम! हमारे जी को विरह से जलता हुआ जानकर कब आकर आनन्द के बादलों की वर्षा करेंगे?

अलंकार—अनुप्रास, परम्परित रूपक, श्लेष

विशेष—इस छन्द में शब्दों की ध्वन्यात्मकता पर विशेष बल दिया गया है— दुराय, मुसकाय, लड़काय आदि शब्द ऐसे ध्वनित होते हैं जैसे तबले पर ताल दी गई हो। संगीतात्मकता मुखर है।

तुलना

‘सीस मुकुट कटि काछिनी, कर मुरली उर माल।
इहि बानक मो मन सदा, बसौ बिहारीलाल ॥’

—बिहारी

वहै मुसक्यानि, वहै मृदु बतरानि, वहै
लड़कीली बानि आनि उर मैं अरति है।
वहै गति लैन, औ बजावनि ललित बैन,
वहै हेसि दैन, हियरा तें न टरति है।
वहै चतुराई सों चिताई चाहिबे की छवि,
वहै छैलताई न छिनक विसरति है।
आनन्दनिधान प्रानप्रीतम सुजान जू की,
सुधि सब भाँतिन सौं बेसुधि करति है ॥ 4 ॥

शब्दार्थ—बतरानि=बातें। लड़कीली=बच्चों जैसी सरल सुमधुर। बानि=आदत। अरति=खटकती है। गति लैन=चाल। बैन=वेणु, बांसुरी। टरति=टलना, हटना। चिताई=चेताई, चैतन्य की, जागृत की। छवि=सौन्दर्य, ललक। छैलताई=छबीलापन। विसरति=भूलती।

प्रसंग—पूर्व छन्द के अनुरूप।

व्याख्या—वही मुस्कान, वे मीठी मीठी प्रेमभरी बातें, वही उमंगभरी सरल सीधी लड़कनपन की-सी बातें आकर मेरे हृदय में जम जाती हैं। उनकी वह मधुर चाल, उनका वेणु बजाना तथा बात-बात पर हँस देना, हृदय से निकालने पर भी नहीं निकलता। वह चतुराई से उमंग के जागृत करने वाला सौन्दर्य, उनका वह छबीलापन क्षण भर के लिए भी नहीं भूलता। आनन्द के धाम, प्राणों के प्रियतम ‘सुजान’ कृष्ण की याद सब प्रकार से हमें बेहोश कर देती है।

विशेष—प्रेम की अतीत स्मृतियों का सुन्दर भावमय मार्मिक चित्रण है। यह संस्मृति सुजान प्रेमिका की है जो विरह के तप से स्वभावतः ईश्वरोन्मुख हो गई है। घनानन्द जी के सभी पदों में यह विशेषता है।

नोट

अलंकार—अनुप्रास, स्मरण, श्लेष, विरोध, सभंग यमक, पदमैत्री।

तुलना

‘सुधि ब्रजवासिनि दिवैया सुख रासिनिकी,
ऊधो नित हमको बुलावन की आवती।’

—रत्नाकर

+ + +
जासौं प्रीति ताहि निटुराई सों निपट नेह,
कैसें करि जिय की जरनि सो जताइयै।
महा निरदई, दई कैसें जिवाऊं जीव,
बेदन की बढवारि कहाँ लौं दुराइयै।
दुख को बखान करिबे कौं रसना कैं होति,
ऐपै कहूँ वाको मुख देखन न पाइयै।
रैन-दिन चैन को न लेस कहैं पैये, भाग,
आपने ही ऐसे, दोष काहि धौं लगाइयै॥ 5॥

शब्दार्थ—निपट=बहुत। जरनि=जलना। जताइये=बताइये। निरदई=निर्दय। दई=हे देव। कैसें=किस प्रकार। बेदन=वेदना। बढवारि=बढ़ना, आधिक्य। दुराइयै=छुपाना।

प्रसंग—प्रेमी के अभाव में नायिका की आत्यन्तिक विरह पीड़ा के साथ साथ उसकी एकनिष्ठा तथा नायक की अपने प्रति घोर उदासीनता का स्वाभाविक उल्लेख किया गया है।

व्याख्या—जिससे हमने प्रीति की है उसे निर्दयता से गहन आसक्ति है। अब किस प्रकार अपने जी की जलन उन्हें बताई जाए। वह तो महा कठोर है। हे देव! मैं अब अपने जीव की रक्षा कैसे इस विरह की आग से करूँ? अपनी वेदना के दिन-प्रतिदिन अधिक बढ़ने को कहाँ तक छुपाऊँ? दुख का वर्णन करने के लिए जीभ होती तो एक बात भी थी अर्थात् दुख के आधिक्य से जिह्वा कुछ कहने में असमर्थ है। इतने पर भी कहीं उस कठोर प्रियतम के दर्शन नहीं होते। दिन-रात कहीं भी चैन लेशमात्र को भी नहीं मिलता, दोष अपना ही है, किसे दोष दें।

विशेष—विरोध प्रदर्शन की प्रवृत्ति घनानन्द की सबसे प्रबल विशेषता है।

अलंकार—यमक, अनुप्रास।

तुलना

‘इश्क आदम में कुछ नहीं छोड़ता,
हौले हौले कोई खा जाता है जी।’

—मीर

भोर तें साँझ लौ कानन-ओर निहारति बावरी नेकु न हारति।
साँझ ते भोर लौं तारनि ताकिबों तारनि सों इकतार न टारति।
जो कहूँ भावतो डीठि परै घनआनन्द आँसुनि असर गारसि।
मोहन-सोहन-जोहन की लगियै रहै आंखिन के उर आरति॥ 6॥

शब्दार्थ—लौं=तक। कानन=जंगल। नेकु=तनिक भी। तारनि=तारों को। ताकिबों न टारति=देखना नहीं छोड़ती। भावतो=मनमोहन, प्रिय। आँसुनि औसर गारति=आँसुओं में अवसर खो देती हैं, रो रो कर अवसर को बिता देती हैं। सोहन=सामने। जोहन=देखना। उर=भीतर। आरति=लालसा।

नोट

प्रसंग—अनुरागवती नायिका की उक्ति है। वह एकनिष्ठ प्रेम पर विश्वास करती है।

व्याख्या—मेरी ये आँखें बावली होकर सुबह से शाम तक जंगल की ओर देखती रहती हैं, तनिक भी नहीं थकतीं। फिर साँझ होने पर सुबह तक एकटक निरन्तर तारों की ओर टकटकी लगाये रहती हैं, हटती नहीं। घनानन्द कहते हैं कि यदि प्रिय कभी दीख पड़ें तो आँखें आसुओं में ही इस मिलन के अवसर को बिता देती हैं। इस प्रकार मोहन को अपने सम्मुख देखने की लालसा उन्हें सदा लगी रहती है।

विशेष—प्रस्तुत छन्द का आध्यात्मिक अर्थ भी लगाया जा सकता है। जीव जब समय के प्रति असावधान होता है तब उसका भी यही हाल होता है।

इस आध्यात्मिकता का आभास भी मात्र इसीलिए होता है कि इसमें प्रेम की चरमावस्था का सुन्दर निरूपण है।

अलंकार—यमक, उपमा, श्लेष, विरोधाभास और पद मैत्री।

तुलना

‘वस्त्र में रंग उड़ गया मेरा,
जुदाई को क्या मुंह दिखाऊँगा।’

—मीर

+ + +
‘इन दुःखिया अखियान को, सुख सिरज्योई नाहिं।
देखत बने न देखते, बिन देखे अकुलाहिं ॥’

—बिहारी

छंद—अरसात सवैया। इसके प्रत्येक चरण में आठ भगण अर्थात् 24 वर्ण होते हैं।

भए अति निठुर मिटाय पहचानि डारी,
याही दुःख हमैं जक लागी हाय हाय है।
तुम तौ निपट निरदई, गई भूलि सुधि,
हमैं सूल-सेलनि सो वयौं हूँ न भुलाय है।
मीठे-मीठे बोल बोलि, ठनीं पहिलें तौ तब,
अब जिय जारत कहा-धौं मौन न्याय है।
सुनी है कै नाहीं यह प्रगट कहावति जू,
काहू कलपाय है सु कैसें कल पाय है ॥7॥

शब्दार्थ—जक=रट। सूलनि=पीड़ा की कसक। वयौं हूँ=किसी प्रकार भी। धौं=तो। काहू=किसी को। कलपाय है=तड़पाता है। सु=वो। कल=चैन।

प्रसंग—यह प्रेमिका की भक्ति है। प्रस्तुत छन्द में पत्र अथवा सन्देश जैसे किसी माध्यम से प्रिय की उदासीनता की ओर संकेत किया गया है—

व्याख्या—तुम तो बड़े कठोर हो गए। तुमने सारी जान-पहचान मिटा दी। इसी दुःख के कारण हमें सदा हाय-हाय की रट लगी रहती है। तुम तो अत्यन्त निर्दयी हो, हमारी याद भी तुमने भुला दी। लेकिन हमें तो वेदना की कसक किसी तरह भी नहीं भूलती। पहले तो तुमने मीठी-मीठी बातें कर हमें ठग लिया, अब हमारे जी को जलाते हो, भला यह कहां का न्याय है? क्या तुमने इस प्रसिद्ध कहावत को नहीं सुना कि जो दूसरे को तड़पाता है वह खुद कैसे सुख पा सकता है?

अलंकार—यमक से पुष्ट लोकोक्ति अलंकार, वीप्सा, पुनरुक्तिप्रकाश, छेकानुप्रास एवं पदमैत्री।

तुलना

नोट

‘कहि है सब तेरो हियो, मेरे हिय की बात ।’

—बिहारी



नोट्स

रीतिकाल में प्रचलित तीन काव्य धाराएँ-रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध एवं रीतिमुक्त में से घनानंद अंतिम रीतिमुक्त काव्य परंपरा के कवि थे।

हीन भंए मीन अधीन, कहा कछु मो अकुलानि-समानै ।
नीर-सनेही कों लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै ।
प्रीति की रीति सु क्यों समुझै जड़, मीत के पानि परे को प्रमानै ।
या मन की जु दसा घनआनन्द जीय की जीवनि जान की जानै ॥ 8॥

शब्दार्थ—हीन=रहित, अलग। अधीन=विवश, दुखी। अकुलानि समानै=व्याकुलता की समानता कर सकता है। नीर=सनेही, प्रियजन। लाय=लगाकर। पानि=हाथि। प्रमानै=प्रमाणित करता है। जीव की जीवनि=प्राणों की प्राण। जान=सुजान, प्रिय।

प्रसंग—प्रेम के प्रसंग में मछली की उपमा भी जानी पहचानी है। प्रस्तुत छन्द में कवि ने प्रिय के प्रेम को मछली से भी श्रेष्ठतर ठहराया है।

व्याख्या—जल से बिछुड़ी हुई व्याकुल मछली क्या मेरे प्रेम की व्याकुलता की कुछ समानता कर सकती है? वह प्रेमी नीर को कलंक लगाकर, निराश होकर कायरता से अपने प्राण त्याग देती है। प्रेम की रीति को जड़ जल क्या समझ पायेगा जो वह उस प्रिय जल के हाथों अपने जीवन के आधारित होने को प्रमाणित कर उससे प्रेम की अभिलाषा करती है। घनानन्द कहते हैं कि मेरे मन की व्याकुलता को तो मेरे प्राणों के भी प्राण अत्यन्त प्रिय सुजान प्रियतम जानते हैं।

विशेष—यहाँ वक्रोक्ति के माध्यम से सुजानप्रिय को अत्यन्त कठोर भी प्रमाणित कर दिया है और उसके हृदय की कोमलता का भी नाजुक स्पर्श कर यह कह कर दिया है कि मेरा प्रियतम जल की तरह जड़ नहीं है।

सच्चे प्रेम में निराशा के लिए स्थान नहीं होता इस पद में यह दर्शाया गया है। इस सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

“वास्तविक प्रेम जिसके प्रति हो जायगा उसके अनुकूल या प्रतिकूल होने पर भी बना रहेगा। प्रेम सम ही रहे या विषम हो जाय, प्रेमी की ओर से उसमें कमी नहीं होती। चेतन प्रिय से प्रेम का संबंध जोड़ने वाला प्रेमी प्रिय के निरर्थ हो जाने पर जिस कष्ट का अनुभव करता है वह सचमुच बड़ा मार्मिक होता है। ‘रीतिबद्ध चिन्ता में भी संयोग और वियोग का चरम रहा। ‘विधुरनि मीन की और मिलनी पंतंग की’, के द्वारा घोषित की जाती थी। प्रेम में मर मिटो यही इनका मूलमंत्र है। विरह सहने का साहस उनकी शरीरिक सुकुमारता नहीं बटोर सकती। मन का बल उनके पास नहीं होता पर रीतिमुक्त कवि प्रेम में मर जाने की चेतनता को नहीं, जड़ता को लक्ष्य मानते हैं, चेतन तो साहसपूर्वक जीता है।”

प्राणों को जिलाने वाला प्रिय मन की दशा को अनुभव करने वाला भी है; मीन का प्रिय उसके प्रेम का अनुभव करने वाला नहीं है। मछली तुरन्त प्राण त्याग देती है, पर प्रेमी साहसपूर्वक वेदना सहता है। इसीलिए इन दोनों में समता कैसी?

अलंकार—वक्रोक्ति, व्यतिरेक, अनुप्रास, श्लेष और यमक।

मीत सुजान अनीति करौ जिन, हा हा न हूजियै मोहि अमोही ।
दीठि कौं और कहूँ नहिं ठौर, फिरी दृग रावरे रूप की दोही ।

एक बिसास की टेक गहें लगि आस रहे बसि प्रान-बटोही।

हौ घनआनन्द जीवनमूल, दर्ई! कित प्यासनि मारत मोही ॥ 9 ॥

शब्दार्थ—जिन=नहीं, मत। मोहि=मोहित कर। अमोही=नेह तोड़ने वाले, उदासीन। दीठि=दृष्टि। दोही=दुहाई। बिसास=विश्वास। टेक=सहारा। घनआनन्द=आनन्द के घन। जीवन-मूल=जीवनदायक।

प्रसंग—वियोगिनी नायिका का प्रिय के प्रति उपालम्भ है—

व्याख्या—हे प्रिय मित्र सुजान! तुम मेरे प्रति ऐसा अन्याय मत करो। मुझे मोहित कर अब नेह न तोड़िये। मेरी दृष्टि को कहीं स्थान नहीं है। आँखों में आपके ही रूप की दुहाई फिर रही है अर्थात् आँखें आपके रूपरंग में ही रंग गई हैं। एक विश्वास की आशा लगाये मेरे प्राण-पथिक अब तक बसे हुए हैं। तुम तो आनन्द के घन हो, जीवन दाता हो। हे प्रभो! फिर भी मुझे क्यों प्यास से तड़पाये जा रहे हो।

अलंकार—अनुप्रास, यमक और श्लेष।

विशेष—प्रस्तुत पद कवि के हृदय की गहन पीड़ा का परिचायक है, जिसमें किसी प्रकार के सामान्य प्रेम की बू नहीं है। यह प्रेम मीरा की कोटि का है; सूरदास की गोपियों के समकक्ष है।

तुलना

‘मेरो मन अनंत कहाँ सुख पावै,
जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवै।’

—सूरदास

+ + +

पहिले घनानन्द सींचि सुजान कहीं बतियाँ अति प्यार-पगी।

अब लाय वियोग की लाय, बलाय बढ़ाय, बिसास-दगानि दगी।

अखियाँ दुखियानि कुबानि परी, न कहूँ लगै, कौन घरी सु लगी।

मति दौरि थकी, न लहै ठिक ठौर, अमोहि के मोह-मिठास ठगी ॥ 10 ॥

शब्दार्थ—प्यार-पगी=प्यार में भीगी। लाय=लगाकर। लाय=आग। बलाय=विपत्ति, बला। बिसास=विश्वासघात। दगानि=दावागि। दगी=लगा दी, जला दी। कुबानि=बुरी आदत। न कहूँ लगै=कहीं नहीं लगती, ठहरती। कौन घरी सु लगी=किस घड़ी में तुमसे लगी थीं। मति=बुद्धि। लहै=प्राप्त करना। ठिक ठौर=ठीक स्थान। मोह-मिठास=प्रेम माधुर्य।

प्रसंग—प्रस्तुत सवैया में प्रिय की निर्दयता तथा अपनी विवशता पर प्रकाश डाला गया है।

व्याख्या—हे आनन्द के घन, मीत सुजान! पहले तो तुमने प्रेम भरी बातें कह कह कर मेरे हृदय को प्रेम-रस से सींच दिया। अब उसमें वियोग की आग लगाकर विश्वासघात की दावागि भड़काकर अत्यन्त कष्टपूर्ण स्थिति में छोड़ दिया। इन दुखिया आँखों को ऐसी-ऐसी बुरी आदत पड़ गई है कि तुम्हें छोड़कर ये कहीं भी नहीं टिकतीं, न जाने वह कौन-सी कठोर घड़ी थी जिसमें तुमसे आँखें लड़ी थीं। मेरी बुद्धि दौड़-दौड़ कर थक गई, कहीं भी मुझे ठिकाना नहीं मिलता। मैं तुम जैसे निर्दयी प्रेमी के प्रेम माधुर्य के द्वारा ठगी गई।

विशेष—1 प्रेमी की वियोगावस्था के साथ साथ प्रिय का प्रेमी के प्रति विश्वासघात का स्वाभाविक चित्रण है।

2. व्याकरण में ‘मिठास’ शब्द पुल्लिंग है लेकिन प्यास आदि के प्रसंग में इसका प्रयोग स्त्रीलिंग के रूप में किया जाता है। यहाँ भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है।

3. मुहावरों का स्वाभाविक प्रयोग है।

अलंकार—यमक, अनुप्रास, श्लेष

तुलना

कितहूँ गये नेह लगाय।

प्रीति लगाई मेरो मन हर लीनो, रसभरी टेर सुनाई॥

हमसे बैर प्रीति कुब्जा से, हमें न कहूं सुहाई
मेरे तो मन में ऐसी आवै, मरुंगी जहर विष खाई॥
हमकूँ छाँड़ि गये विस्वामी, विरह की नाव चढ़ाई।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी रहे मधुपुरी छाई॥'

नोट

—मीरा

क्यों हैंसि हेरि हर्यौ हियरा, अरु क्यों हित कै चित चाह बढ़ाई
काहे कौं बोलि सुधासने बैननि, चैननि मैन-जिसैन चढ़ाई।
सो सुधि मो हिय मैं घनआनन्द सालति क्यों हूँ कढ़ै न कढ़ाई।
सीत सुजान अनीत की पाटी, इते पै न जानियै कौने पढ़ाई ॥ 11 ॥

शब्दार्थ—हेरि=देखकर। हर्यो हियरा=हृदय चुराया। हित कै=प्रेम करके। चाह=उत्कंठा। सुधासने=अमृत से भीगे। बैननि=बैन,वाणी। चैननि=आनन्दपूर्वक। मैन निसैन=कामदेव की सीढ़ी पर। सुधि=याद। सालति=चुभती। क्यों हूँ=क्यों नहीं। पाटी=पाठ

प्रसंग—नायिका नायक के प्रति उपालम्भ कर रही है। पहले तो हंसकर उसने प्रेमिका के हृदय को चुरा लिया और पश्चात् कठोर होकर न जाने कहाँ छुप गया।

व्याख्या—पहले तुमने हँसकर मेरी ओर देखकर मेरा हृदय क्यों चुराया और प्रेम करके मेरे चित्त में क्यों उत्कंठा उत्पन्न की? किसलिए तुमने अमृतभरी मीठी वाणी बोलकर आनन्दपूर्वक कामदेव की सीढ़ियों पर मुझे चढ़ाया? तुम्हारी वे सभी यादे मेरे हृदय में चुभती है, निकालने पर भी नहीं निकलती। हे मित्र सुजान! न जाने यह अन्याय का, कठोरता का पाठ तुम्हें किसने पढ़ाया था।

विशेष—प्रिय अपने नायक को सच्चा मीत (मित्र) समझता है। मित्र कभी अपने मित्र का अहित नहीं करते लेकिन अतीत का पाठ पढ़ कर मीत सुजान ने पहले तो प्रेमी का संज्ञाहीन कर दिया, फिर नेत्रों के बाण मार कर इस पर चढ़ाई की एवं उसे लूटा और उस पर नाना-विध चोट की। वस्तुतः ये 'मीत' की आचार संहिता के विरुद्ध है किन्तु कवि ने इसका उल्लेख करके प्रेमी को पुष्ट कर दिया है।

मुहावरों का स्वाभाविक प्रयोग है।

अलंकार—विशेषोक्ति, छेकानुप्रास,

तुलना

‘तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला।
मन लेउ पै देउ छटांक नहीं।’

—घनानन्द

प्रीतम सुजान मेरे हित के निधान, कहौ
कैसे रहें प्राण जो अनखि अरसायहौ।
तुम तौ उदार दीन हीन आनि पर्यौ द्वार
सुनियै पुकार याहि कौ लौ तरसाय हौं
चातिक है रावरो अनोखो मोह-आवरो,
सुजान-रूप बावरो, बदन दरसायहौ।
बिरह नसाय दया हिय मैं बसाय, आय,
हाय! कब आनन्द को घन बरसायहौ ॥ 12 ॥

नोट

शब्दार्थ—हित=प्रेम। निधान=खर, आधार। अनखि=रूठकर। अरसाय ही= आलस्य करोगे, उदासीन होगे। कौ लौ=कव तक। चतिक=चातक। रावरो=आपका। मोह आवरो=प्रेम से विह्वल।

प्रसंग—प्रस्तुत कवित्त में प्रेमी तथा प्रिय सुजान के प्रेम में चातक तथा मेघ की प्रेमासक्ति की छाया है। चातक की भांति प्रेमी कृपा का आकांक्षी है।

व्याख्या—हे सुजान प्रियतम! मेरे प्रेमाधार, यदि तुम इस प्रकार रूठकर मुझसे विरक्त होगे तो तुम्हीं बताओ मेरे प्राण कैसे बच पायेंगे। तुम तो अत्यन्त उदार हो, मैं दीन-हीन तुम्हारे द्वार पर आ पड़ा हूँ, मेरी पुकार सुनो। आखिर कब तक इस तरह तरसाते रहोगे। मैं प्रेम-विह्वल, आपका अनोखा चातक हूँ जो तुम्हारे रूप पर पागल हो रहा है—मुझे कब आकर अपना सलोना मुखड़ा दिखलाओगे? मेरे विरह को मिटाकर अपने हृदय में दया लेकर कब आकर आनन्द के बादलों की झड़ी लगाओगे?

अलंकार—परम्परित रूपक और अनुप्रास।

तब तौ छवि पीवत जीवत है, अब सोचन लोकन जात जरे।

हित-पोष के तोष सु प्राण पले, बिललात महादुख दोष-भरे

घनआनन्द मीत सुजान बिना सब ही सुख-साज-समाज टरे।

तब हार पहार से लागत है अब आनि कै बीच पहार परे ॥ 13 ॥

शब्दार्थ—छवि पीवत=सौन्दर्य पीते हुए, रूप निहारते हुए। सोचन=शोक, चिन्ता। लोचन=आँखें। हित-पोष=प्रेम के पोषण से। तोष=संतुष्ट। बिललात=व्याकुल होना। दोष=क्लेश। सुख-साज-समाज=सुखों के साज-समूह। टरे=नष्ट हो गये। आनिकै=आकर।

प्रसंग—संयोग और वियोग में प्रेमी की मनःस्थिति किस प्रकार की होती है, इसका मनोवैज्ञानिक भावात्मक विवेचन प्रस्तुत छन्द में है।

व्याख्या—पहले (संयोगावस्था में) तो हम प्रियतम के सौन्दर्य को पीते हुए जीते थे अब वियोगवस्था में आँखें शोक से जली जा रही हैं। तब प्रेम के पोषण से परितुष्ट होकर प्राण पलते रहे अब वे महादुःख एवं क्लेशों से भरे तड़प रहे हैं। घनानन्द कहते हैं कि प्यारे सुजान के बिना सुख के सभी साधन नष्ट हो गये। तब रतिक्रीड़ा में हार पहाड़ की तरह लगते थे और अब दोनों के बीच में वियोग के पहाड़ आकर खड़े हो गये हैं।

अलंकार—यमक, विषम, छेकानुप्रास और पदमैत्री।

तुलना

‘गजमुख सनमुख होत ही

विघन विमुख है जात।

ज्यों पग परत प्रयाग-मग

पाप-पहार बिलात।’

—केशव

पहिलें अपनाय सुजान सनेह सों, क्यों फिरि तेह कै तौरियै जू।

निरधार अधार दै धार-मझार, दई! गहि बाँह न बोरियै जू।

घनआनन्द आपने चातिक को, गुन-बाँधि लै, मोह न छोरियै जू।

रस प्याय कै ज्याय, बढ़ाय कै आस, बिसास मैं यौ बिस घोरियै जू ॥ 14 ॥

शब्दार्थ—नेह कै=रोष करके। निरधार=निराधार, निरलम्ब। धार-मझार=धार के बीच में। बोरियै=डुबाइये। गुन=गुण, रस्सी। ज्यादा=उमंग। बिसास=विश्वास।

नोट

व्याख्या—हे प्रियतम सुजान पहले प्रेमपूर्वक मुझे अपनाकर फिर रोष में आकर तुम मुझसे नेह क्यों तोड़ते हो। मुझे धारा के बीच में असहाय छोड़कर एक बार बाँह पकड़कर इस प्रकार न डुबाइये। घनानन्द कहते हैं कि अपने चातक को अपने गुणों की डोर में बाँधकर उससे प्रेम न तोड़िये। अमृत तुल्य प्रेम का मधुर रस पिलाकर उमंग एवं आशा बढ़ाकर भला विश्वास में यों कहीं विष घोला जाता है अर्थात् प्रेमियों के विश्वास पर इस प्रकार कठोर आघात करना उचित नहीं है।

अलंकार—श्लेष, यमक, विरोधाभास और अनुप्रास।

रावरे रूप की रीति अनूप, नयो नयो लागत ज्यों ज्यों निहारियै।

त्यों इन आँखिन बानि अनोखी, अघानि कहूँ नहि आनि तिहारियै।

एक ही जीव हुतौ सु तो वार्यो, सुजान, सकोच औ' सोच सहारियै

रोकी रहै न, दहै, घनआनन्द बावरी रीझ के हाथनि हारियै ॥ 15 ॥

शब्दार्थ—रावरे=आपके। अघानि=तृप्त होना। आनि निहारिये=आपको छोड़कर। हुतौ=था। वार्यो=न्यौछावर कर दिया। सकोच=कष्ट, सन्देह, संकोच। सोच=चिन्ता। सहारिये=सम्मान लिये। दहै=जलाती है। रीझ=फिदा होना, उमंग।

प्रसंग—प्रिय के रूप की विलक्षणता पर प्रकाश डाला गया है।

अर्थ—आपके रूप की बड़ी अनोखी रीति है इसे ज्यों-ज्यों देखो नया-नया लगता है। इन आँखों को भी अनोखी आदत पड़ गई है तुम्हें छोड़कर इन्हें कहीं तृप्ति नहीं मिलती। मेरे पास एक ही प्राण था सो मैंने तुम्हारे ऊपर न्यौछावर कर दिया। हे प्यारे सुजान! अब मेरे शोक और चिन्ता को तुम ही सम्भालो, सहारा दो। क्या करें हम इस पगली रीझ के हाथों हार गये हैं। यह मेरे रोकने से भी नहीं रुकती तुम्हारी याद रह-रह कर मुझे जलाती रहती है।

अलंकार—पुनरुक्तिप्रकाश और विशेषोक्ति।

तुलना

‘या अनुरागी चित्त की दसा बरनि नहिं जाय।
त्यों त्यों प्यासो ही रहत, ज्यों ज्यों पियत अघात॥’

—बिहारी

हविसे दीद मिटी है न मिटेगी ‘हसरत’।
देखने के लिये चाहे उन्हें जितना देखो॥

—हसरत

सोई पिरित अनुराग बखानिये,
तिल-तिल नूतन होई।

—विद्यापति

आस ही अकास-मधि अवधि-गुनै बढ़ाय,
चोपनि चढ़ाय दीनौ कीनौ खेल सौ यहै।
निपट कठोर ये हो ऐंचत न आप-ओर,
लाड़िले सुजान सौं दुहेली बसा को कहै।
अचिरजमई मोहिं भई घनआनन्द यौं,
हाथ साथ लाग्यो, पै समीप न कहूँ लहै।
बिरह समीर की झकोरनि अधीर, नेह
नीर भीज्यौ जीव, तऊ गुड़ीली उड़्यौ रहै ॥ 16 ॥

नोट

शब्दार्थ—आस ही अकास-मधि=आशा रूपी आकाश में। अवधि=निर्धारित समय रूपी डोर। चोपनि=उमंग। ऐंचन=खींचना। आप-ओर=अपनी ओर। लाड़िले=प्रिय। दुहेली=दुःखपूर्ण। साथ-साथ-लाग्यौ=साथ में रहने पर भी। लहै=प्राप्त करना, पाना।

प्रसंग—पतंग के समान ही प्रेमी का हृदय भी उड़ा उड़ा रहता है दूर जाने पर जैसे पतंग तुमका देने पर डगमगाती है वैसे ही प्रेमी का हृदय भी भावी आशंकाओं से थर थर कम्पित हो रहा है। इस प्रकार यहाँ पतंग से हृदय के उड़ने में व्यतिरेक दिखाया गया है।

व्याख्या—आशा रूपी आकाश में अवधि रूपी डोर को बढ़ाकर उमंग से ऊपर चढ़ाकर आपने तो यह खेल सा बना दिया है। आप इतने कठोर हैं कि अपनी ओर खींचते ही नहीं। अब आप जैसे लाड़िले-बिगड़े हुए सुजान से इस दुःख पूर्ण दशा को कौन कहे? आप पर कुछ भी असर नहीं होता है। मुझे तो बड़ा अचरज हो रहा है कि आपके हाथ में पड़ा रहने पर भी मैं आपसे दूर हूँ। विरह रूपी वायु के झोंकों से व्याकुल होकर आँसू से भीगे रहने पर भी यह जीव पतंग की भाँति उड़ता रहता है।

विशेष—इस कवित्त में अनेक मुहावरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। जैसे— गुण बढ़ाना, चोप चढ़ाना, खेल करना, हाथ लगा होना, आदि।

पाठान्तर

‘आसति अकास मधि अवधि गुनै बढ़ाय।’

—बिहारी

घनआनन्द जीवनमूल सुजान की कौंधन हूँ न कहूँ दरसैं।
सुन जानियै धौं कित छाय रहे दृग-चातिग-प्राण तपे तरसैं।
बिन पावस तौ, इन ध्यावस हो न, सु क्यों करि ये अब सो परसैं।
बदरा बरसै रितु मैं धिरि कै नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं ॥ 17॥

शब्दार्थ—जीवनमूल=जल धारण करने वाले। कौंधन=बिजली की चमक। दृग-चातक-प्राण=नेत्ररूपी चातक के प्राण। तपे=विरह से तपकर। ध्यावस=धैर्य, चैन। सो परसैं=उसका स्पर्श करें। बदरा=बादल। उघरी=खुली हुई।

प्रसंग—प्रिय परदेश चला गया है। उसका कोई समाचार भी नहीं है इसी कारण वर्षा-ऋतु की भाँति प्रेमी का रोदन है।

व्याख्या—आनन्द के घन जीवनदायक सुजान की कहीं भी झलक नहीं दीख पड़ती। न जाने वे कहाँ जाकर घुमड़ रहे हैं हमारे नेत्र रूपी चातक के प्राण उनके विरह में तरस रहे हैं। बिना कृपादृष्टि के इन नयन चातकों को भला कैसे धैर्य मिल सकता है— न जाने ये किस प्रकार उन्हें प्राप्त कर सकेंगे। बादल तो वर्षाऋतु में ही धिर कर बरसते हैं किन्तु मेरी ये आँखें तो नित-प्रति एकटक प्रियतम के पन्थ में खुली हुई बरसती रहती है।

अलंकार—श्लिष्ट रूपक, व्यतिरेक और विरोधाभास।



टास्क

‘रावरे रूप रीति अनूप, नयो-नयो लागत है ज्यों-ज्यों निहारिए। पंक्ति का भाव स्पष्ट कीजिए।’

जेतो घट सोधौं पै न पाऊँ कहाँ आहि सो धौं
को धौं जीव जार अटपटी गति दाह की।
धूम कौं न धरै, गात सीरो परै ज्यों ज्यों जरै
ढरै नैन-नीर, बीर, हरै मति आह की।
जतन बुझे हैं सब जाकी झर भागें, अब
कबहूँ न दबै भरी भभक उमाह की।

जब तैं निहारे घनआनन्द सुजान प्यारे

नोट

तब तैं अनोखी आगि लागि रही चाह की॥18॥

शब्दार्थ—जेतो=जितना ही। घट=शरीर। सौधों=खोजती हूं। अटपटी=विचित्र। दाह=जलन। धरें=धारण करना। बीर=हे सखी। हरै मति आह की=आह भी नहीं कर सकती। जतन=यत्न। बुझे है=नष्ट हुए है। झर=ज्वाला। दबै=शान्त होती। भभक=लपट। उमाह=उमंग

प्रसंग—प्रेमी की पूर्वरंग से सम्बन्धित उक्ति है। इसमें साधारण अग्नि से प्रेम की अग्नि को अधिक भयंकर तथा विलक्षण बताया गया है।

व्याख्या—हे सखि! जितना ही शरीर में खोजती हूं पता नहीं चलता कि मेरे जीव को कौन जला रहा है— यह आग कहां से जल रही है? इस जलन की गति भी बड़ी विचित्र है सामान्य आग में तो धुआँ होता है— पर इसमें धुआँ भी नहीं उठता। ज्यों-ज्यों आग लगती है, शरीर शीतल पड़ता जाता है। आँखों से पानी टपकता है जो आह भरने की मति को भी नष्ट कर देता है। इस ज्वाला में सभी इसे बुझाने के यत्न बुझ गये हैं कोई उपाय काम नहीं देता। अब तो यह दबती ही नहीं। उमंग की भड़क इसमें भर गई है। जब से उस प्राण-प्यारे आनन्द के घन सुजान-प्रियतम को देखा है तब से प्रेम की अनोखी आग मेरे हृदय में लग रही है।

विशेष—यहां प्रेम की आग को सामान्य आग से विलक्षण बताया गया है।

अलंकार—यमक, पुनरुक्तिप्रकाश, व्यतिरेक, विरोधाभास, विषम, श्लेष, अनुप्रास, छेकानुप्रास और पदमैत्री।

तुलना

‘शायद इसी का नाम मुहब्बत है शेफ़ता,
एक आग सी है दिल में हमारे लगी हुई।’

—गालिब

आँखे जौ न देखैं, तौ कहा हैं, कछु देखति ये
ऐसी दुखहाइनि की दसा आय देखियै।
प्राणन के प्यारे जान रूप-उजियारे, बिना।
मिलन तिहारे इन्हें कौन लेखे लेखियै।
नीर-न्यारे मीन औ चकोर छंदहीन हूँ ते
अति ही अधीन दीन गति मति पेखियै।
हौ जू घनआनन्द ढरारे रसभरे भारे
चातिक बिचारे सों न चूकनि परखियै ॥ 19 ॥

शब्दार्थ—दुःखहाइनि=दुखिया। जान=सुजान। रूप-उजियारे=उज्ज्वल रूप वाले। लेखियै=लिखिए। पेखियै=समझिये। ढरारे=पसीजने वाले, द्रवीभूत होने वाले। चूकनि=भूल कर। परखियै=परीक्षा लेना।

प्रसंग—प्रस्तुत कवित्त में नायिका की विरह-जनित दशा का अत्यन्त दयनीय चित्र है। नायिका चातक के समान निरन्तर जोहने वाली अपनी आँखों का दुख-दर्द सुनाकर प्रियतम को आकर्षित करना चाहती है। अपनी आँखों की तुलना वह मीन से भी देती है जिससे यदि उसने कभी चकोर तथा मीन की दैन्य स्थिति को देखा होगा तो वह तुरन्त कम से कम मेरी आँखों की दयनीय स्थिति देखने अवश्य आएगा।

व्याख्या—यदि आँखें आपको नहीं देखती तो और कहीं फिर क्या देखती हैं? अर्थात् आपको छोड़ कर और देखने योग्य है ही क्या? मुझ दुखिया की अवस्था आप तनिक आकर देखिये तो सही। हे प्राणों के प्यारे सुन्दर सुजान तुमसे मिले बिना इन आँखों को आँखें कहेगा कौन? आँखों की सार्थकता प्रिय तथा सुन्दर पदार्थ को देखने में ही है, जल के बिना तड़पती हुई मछली और चन्द्रमा के विरह में छटपटाते हुए चकोर से भी अधिक मेरी व्याकुलता बढ़ रही है। मेरी हालत अपनी आँखों से आकर देखिये, विचार लीजिये। हे आनन्द के घन! प्राण-प्यारे प्रियतम तुम तो शीघ्र ही द्रवित होने वाले रसिक हो, इस बेचारे चातक की (मेरी) भूलकर भी परीक्षा मत लीजिये अर्थात् शीघ्र आइये। मैं आपके बिना नहीं रह सकूँगी।

‘बावरी वे अखियाँ जरि जायें,
जो साँवरो छौंड़ि निहारति गोरो।’

+ + +

‘दिल को क्या जिसको नहीं तेरी तमन्नाए विसाल,
चश्म को क्या जिसको तेरी दीद की हसरत ही नहीं।’

—ठाकुर

—जौक

जहाँ तें पधारे रे नैननि ही पावं धारे
वारे ये बिचारे प्रान पैँड पड पै मनौ
आतुर न होहु हा हा नेकु फेंट छोरि बैठो
मोहि वा बिसासी को है ब्यौरो बूझिवाँ घनौ।
हाय निरदई कों हमारी सुधि कैसे आई
कौन बिधि दीनी पाती दीन जानि कै भनौ।
झूठ की सचाई छाक्यौ त्यों हित कचाई पाक्यौ
ताके गुनगन घनआनन्द कहा गनौ॥20॥

शब्दार्थ—पैँड-पड=पग-पग पर। नेकु=तनिक। फेंट छोरि=फेंटा खोल कर। बिसासी=विश्वासघाती। ब्यौरो=समाचार।
घनौ=अत्यधिक भनौ=कहो। छाक्यो=छका हुआ। हित कचाई=प्रेम के कच्चेपन में पाक्यौ=पका हुआ। गुनगन=गुण
के समूह। गनौ=गिनाँ।

व्याख्या—प्रिय के यहां से कोई दूत पत्र लेकर आया है, उसी से प्रेमिका कह रही है—वह प्रियतम जहां से भी
गया मेरी आँखों पर पांव रखकर गया अर्थात् मेरे देखते-देखते हर बार मुझे छोड़ कर गया। मेरे ये भोले प्राण पग-पग
पर उस पर न्यौछावर होते रहे। हे दूत! तुम शीघ्रता मत करो, तनिक फेंटा खोल कर आराम से बैठो, मुझे उस
विश्वासघाती के सम्बन्ध में बहुत कुछ पूछना है। उस निष्ठुर को हमारी याद कैसे आ गई? बताओ तो हमारे ऊपर
दया कर उसने यह पाती कैसे भेज दी? वह तो झूठ की सच्चाई में छका हुआ है तथा प्रेम के कच्चेपन में पका हुआ
है। मैं उसके गुणों के (लक्षणा से अवगुणों का) कहां तक बखान करूँ? यदि उसमें किसी बात की सच्चाई है तो झूठ
की। इसी प्रकार यदि वह किसी बात में पक्का है तो केवल प्रेम के कच्चेपन में।

अलंकार—अनुप्रास, पुनरुक्तिप्रकाश, विरोधाभास, काकुवक्रोक्ति और उत्प्रेक्षा।

घनआनन्द रस-ऐन, कहौ कृपानिधि कौन हित।

मरत पपीहा-नैन, दरसौं पै बरसो नहीं ॥ 21 ॥

शब्दार्थ—रस-ऐन=रस का सागर। कौन हित=यह कैसा प्रेम है। पपीहा नैन=नेत्र रूपी चातक।

व्याख्या—हे आनन्द के घन, रस के सागर, कृपानिधि, प्रियतम कहो तो यह कैसा प्रेम है? मेरे नैन रूपी चातक
प्यास से तड़प रहे हैं। तुम देख रहे हो और फिर भी नहीं बरसते।

इसका दूसरा अर्थ भी हो सकता है— ‘हे अत्यन्त आनन्द प्रदान करने वाले, प्रेम के घर, कृपा के सागर! यहाँ
कैसा प्रेम है कि पपीहे रूपी नेत्र तो (प्रेम की पिपासा) मरे जा रहे हैं किन्तु तुम दिखाई देते हुए भी द्रवीभूत नहीं होते।

अलंकार—रूपक, अनुसार और श्लेष

पहचानै हरि कौन, मो से अनपहचान को।

त्यों पुकार मधि-मौन, कृपा-कान मधि-नैन ज्यों ॥ 22 ॥

शब्दार्थ—अनपहचान=अपरिचित।

प्रसंग—भक्त का दैन्य-भाव प्रकट हो रहा है।

नोट

व्याख्या—हे हरि! मुझ जैसे अपरिचित की आपको कैसे पहचान हो सकती है—क्योंकि मेरी पुकार उसी प्रकार मौन में छुपी है जिस प्रकार आप देखकर ही सब कुछ बिना सुने ही समझ जाते हैं। उसी प्रकार मैं भी मौन रह कर अपनी सारी व्यथा तुमसे कह देता हूँ— लेकिन अचरज है, इस विशेषता के होते हुए भी आप मेरी मौन पुकार पर ध्यान नहीं देते।

अलंकार—विरोधाभास।

छन्द—यह अर्धसम मात्रिक छन्द है। इसका पहला-तीसरा तथा दूसरा-चौथा चरण समान होता है। सभी चरण समान होने पर सम; दो-दो चरण समान होने पर अर्धरूप छन्द कहलाते हैं। पहले-तीसरे चरण विषम तथा दूसरे-चौथे चरण सम कहलाते हैं। विषम में 11 तथा सम में 13 मात्राएँ। सौराष्ट्र में अधिक प्रचलित होने के कारण इसका नाम सोरठा पड़ा है।

तुलना

‘आँखिन तैं एक वो सुभाव सुनिवै कौ लियो,
कानन तैं एक देखिबे की टेक धारी है।’

—रत्नाकर

आसा-गुन बाँधि कै भरोसो-सिल धरि छाती।
पूरे पन-सिंधु मै न बूझत सकायहौं।
दुख-दब हिय जारि, अतर उदेग-आँच
रोम रोम त्रासनि निरंतर तचायहौं।
लाख लाख भातिन की दुसह दसानि जानि
साहस सहारि सिर आरे लौं चलायहौं।
ऐसैं धनआनन्द गही है टेक मन माँहि
एरे निरदई तोहि दया उपजायहौं ॥ 23 ॥

शब्दार्थ—आसा-गुन=आशा रूपी डोर। भरोसे-सिल=विश्वासरूपी शिला। पूरे=पूर्ण। पन-सिंधु=प्रेम की प्रतिज्ञा के सागर में। बूझत=डूबते हुए। न सकायहौं=शक्ति न होऊँगी। दुख-दब=दुःखरूपी दावानल। उदेग आँच=उद्वेगरूपी अग्नि। त्रासि=पीड़ाओं से। तचायहौं=तपाऊँगी। सहारि=बटोरकर। अरे=लकड़ी चीरने का एक औजार, आरा।

प्रसंग—यह मनोवैज्ञानिक उपचार है कि जब ऐसा कोई व्यक्ति जिसे हम अपना आत्मीय समझते हैं और वह हमारी इच्छानुकूल कार्य नहीं करता तो वह अपने आत्मीय के नेत्रों के सामने अनन्त यातनाएँ सहन करने का नाटक (वास्तविक) करता है, परिणामतः उसका हृदय द्रवित हो जाता है। प्रस्तुत छन्द में प्रेमिका का प्रिय भी अत्यन्त कठोर है, इसीलिए प्रेमिका विचार करती है कि यदि निष्ठुर प्रेमी के सामने यातनाएँ सहूँ तो हो सकता है यह मुझ पर दया कर दे!

व्याख्या—आशारूपी रस्सी बांध कर, छाती पर विश्वास का पत्थर रख कर अपनी प्रतिज्ञा के गहन सागर में डूबते हुए मैं तनिक भी शक्ति न होऊँगी। दुख के दावानल से हृदय को जलाकर अन्तर में उद्वेग की आग लगाकर शरीर के एक-एक रोम को पीड़ाओं से निरन्तर तपाऊँगी। लाखों पुकार से अपनी असह्य अवस्था को जानबूझकर भी साहस बटोरकर सिर पर आरे की भाँति उन विपत्तियों को चलाऊँगी अर्थात् उन सभी कष्टों को साहसपूर्वक झेलूँगी। हे प्रियतम! मैंने मन में ऐसा प्रण कर लिया है कि तुम्हारे निर्दय हृदय में दया उत्पन्न करके ही मानूँगी।

विशेष—प्रेमी बतलाना चाहता है कि प्रेम के मार्ग में शारीरिक कष्ट बाधा नहीं बन सकते। प्रेम पर सभी सांसारिक सुखों को बलिदान कर देने से प्रेम में निखार आता है।

मान तोड़ने के लिये अपने शरीर को अनेक यातनाएँ देना तथा प्रिय को जहर खाने तथा मरने की धमकी देना काव्य-शास्त्र में ‘रसान्तर’ कहलाता है।

नोट

यह पाँच प्रकार का होता है—

- (1) साम—प्रिय वचन
- (2) दाम—लोभ दिखाना
- (3) दण्ड—उपेक्षा
- (4) भेद—सखियों का सहयोग
- (5) नीति—नतमस्तक होना

अलंकार—सांग रूपक, अनुप्रास, पुनरुक्तिप्रकाश और यमक।

तुलना

‘चिंता ज्वाल सरीर बन, दाहा लगि लागि जाइ।
प्रगट धुंआं नहिं देखिये, उरअंतर धुधुआई
उरअंतर धुधुआई, जरै जस काँच की भट्टी।
हाड़-मांस जरि जाइ, रहै बस केवल ठट्टी।
कहै गिरधर कबिराय, सुनौ रे मेरे मिंता।
वे नर कैसे जियें, जासु उर व्यापी चिंता।

—गिरिधर राय

अंतर-आंच उसास तचै अति, अंग उसीज उदेग की आवस।

ज्यों कहलाय मसोसनि ऊमस क्यों हूं कहुं सु धरै नहिं थ्यावस

नैन उधारि दियें बरसैं घनआनन्द छाई अनोखियै पावस।

जीवनिमूरति जान को आनन है बिन हेरें सदाई अमावस ॥ 24 ॥

शब्दार्थ—अंतर-आंच=भीतर की आग से। उदास=उच्छ्वास, साँस। तचै=तपना। उसीजै=उबलता है। उदेग=उद्वेग, व्याकुलता। आवस=भाप। ज्यों=जीव। कहलाय=शिथिल पड़ जाता है, तिलमिलाता है। मसोसनि ऊमस=मसीसनै की उमस से। क्यों हूं=किसी प्रकार भी। थ्यावस=धैर्य। धारि-दियै=मूसलाधार। हरै=देखे।

प्रसंग—पावस-ऋतु-वर्णन के माध्यम से प्रेमी के वियोग का आत्यन्तिक चित्रण है।

व्याख्या—हृदय के भीतर की आग से उच्छ्वासें अत्यन्त तपी हुई निकलती हैं। व्याकुलता की भाप से शरीर पसीजा जा रहा है। कचोटने की उमस से जी घबरा रहा है। तभी तो उसे धैर्य नहीं मिलता, चैन नहीं पड़ता। नयनों से मूसलाधार आँसू बरस रहे हैं। घनानन्द कहते हैं कि अनोखी वर्षाऋतु छा गई है। जीवन की परम मूर्ति सुजान प्रिय का मुख देखे बिना सदैव मेरे हृदय पर दुखों की अमावस्या ही छाई रहती है।

अलंकार—अनुप्रास

तुलना

निसिदिन बरसत नैन हमारे।

सदा रहत पावस रिनु हमपै, जबतें स्याम सिधारे।

—सूर

जान के रूप लुभाय कै नैननि बेंचि करी अधबीच हो लौडी।

फैलि गई घर बाहर बात सु नीकैं भई इन काज कनौंडी।

क्यों करि थाह लहै घनआनन्द चाह नदी तट ही श्रुति श्रौंड़ी ।

नोट

हाय दर्ई ! न बिसासी सुनै कछु, है जग बाजति नेह की डौंड़ी ॥ 25 ॥

शब्दार्थ—बेचि=बेचकर। अधबीच=मंझधार में। लौंड़ी=बालिका कनौड़ी= बदनाम। थाह=गहराई। चाह=नदी=प्रेम रूपी नदी। औंड़ी=गहरी। बाजति=बजती है। डौंड़ी=डुगडुगी, घोषणा।

प्रसंग—जिस प्रकार लेनदार और देनदार के बीच में ठीक सौदा पटाने के लिए दलाल का महत्त्व अक्षुण्ण है, उसी प्रकार दो प्राणियों में प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए नेत्र दलाल का कार्य करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका महत्त्व असंदिग्ध है।

व्याख्या—उस सुजान प्रियतम के सुन्दर रूप पर रीझ कर इन नयनों ने मंझधार में ही मुझ बालिका को लाकर दूसरे के हाथ बेच दिया है। घर तथा बाहर हर जगह बात फैल गई है। इनके कारण मेरी अच्छी बदनामी हुई। घनानन्द कहते हैं कि भला इस प्रेमी-सरिता की थाह कोई कैसे पाये? यह तो किनारे पर ही अत्यन्त गहरी है अर्थात् प्रेम के आरम्भ में ही अनेक कठिनाइयाँ हैं। मेरे प्रेम की डुगडुगी संसार में बज रही है अर्थात् मैं हर जगह बदनाम हो गई हूँ, लेकिन फिर भी वह विश्वासघाती कुछ सुनता नहीं है।

अलंकार—श्लेष, रूपक, विशेषोक्ति तथा ठेकानुप्रास।

जानराय, जानत सबै, अंतरगत की बात ।

क्यों अजान लौं करत फिरि, मो घायल पर घात ॥ 26 ॥

शब्दार्थ—जानराय=सुजानराय, सज्जनों में श्रेष्ठ। अंतरगत=हृदय। अजान लौं=अपरिचित की तरह। घात=आघात।

व्याख्या—सज्जनों में श्रेष्ठ सुजान प्रियतम, मेरे अन्तर की पीर को तुम भली भाँति जानते हो फिर क्यों अपरिचितों का-सा व्यवहार कर मुझ घायल पर अघात कियो जा रहे हो।

लै ही रहे हौ सदा मन और को देबो न जानत जान दुलारे ।

देख्यौ न हे सपने कहुँ दुख, त्यागे सकोच औ सोच सुखारे ।

कैसो संजोग वियोग धौं आहि! फिरौ घनआनन्द है मतवारे ।

मो गति बूझि परै तब ही जब होहु घरीक हू आप तें न्यारे ॥ 27 ॥

शब्दार्थ—लैं ही रहे हौ=लेते ही रहे हो। और को=दूसरे का। देबौ=देना। जान=सुजान। दुलारें=प्यारे। बूझि परै=जान पड़ता। घरीक=घड़ी भर के लिये।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द में प्रिय के सुख और अपने दुःख की वैषम्यपूर्ण स्थिति का चित्र खींचते हुए प्रिय का अपने दुःख की ओर ध्यान आकर्षित करने का लक्षणा के माध्यम से आग्रह किया है।

व्याख्या—तुम सदा दूसरे का ही मन लेते रहे हो, प्यारे सुजान अपना मन दूसरे को देना नहीं जानते। तुमने सपने में भी कभी दुःख को नहीं देखा है। संकोच और शोक से रहित तुम सदा सुख में रहे हो। तुम नहीं जानते कि संयोग और वियोग में कैसी दिल पर बीतती है, तुम तो सदा मतवाले हुए घूमते रहते हो। मेरी दशा तुम तब ही समझ सकते हो जब पल भर के लिये अपने से अलग हो जाओ अर्थात् अपने को भूल जाओ।

अलंकार—श्लेष तथा ठेकानुप्रास।

तुलना

‘दिखाई दिये यूँ कि बेखुद किया।

हमें आपसे भी जुदा कर चले॥’

× × ×

‘उसे ढूँढते मीर खोये गये।

कोई देखे उस जुस्तजू की तरफ।’

—मीर

—मीर

नोट

खोय दई बुधि, सोय गई सुधि, रोय हंसै उनमाद जग्यौ है।
मौन गहै, चकि चांकि रहै, चलि बात कहै तै न दाह दग्यै है।
जानि परै नहि जान, तुम्है लखि ताहि कहा कधु आहि खग्यौ है।
सोचनि हो पचियै घनआनन्द हेत पग्यौ किधौं प्रेत लग्यौ है ॥ 28 ॥

शब्दार्थ—बुधि=बुद्धि। सुधि=होश। चकि चांकि रहै=चकित हो कर चौंक पड़ती है। न दाह दग्यौ है=आग नहीं लगती। आहि खग्यौ है=क्या हो गया है। सोचनि=सोच-सोच कर। पचियै=थक गई। हेत पग्यौ=प्रेम में पली है।

प्रसंग—किसी व्यक्ति पर भूत चढ़ना और प्रेम करना समान है। दोनों अवस्थाओं में मनःस्थिति में कोई अन्तर नहीं होता।

व्याख्या—यहाँ प्रेमी की उन्मादावस्था का एकीकरण प्रेत लगने की दशा के साथ किया गया है। सुजान प्रियतम से एक सखी उसकी प्रिया का हाल कहती है। उसने तो अपनी समस्त बुद्धि खो दी है अर्थात् वह चेतनाशून्य हो गई है। उसके होश जैसे सुषुप्त हो गये हैं। कभी रोती है, कभी हँसती है। न जाने कैसा उन्माद उसके हृदय में जागृत हो गया है? कभी बिल्कुल चुपचाप पड़ी रहती है, कभी चौंक-चौंक उठती है। बात चलने पर केवल एक ही वाक्य बोलती है— “क्या तूने ये आग नहीं लगाई है?” अथवा तुम्हारी बात चलते ही कहती है कि अब शरीर नहीं जल रहा। हे सुजान समझ नहीं आता कि तुम्हें देखने के पश्चात् न जाने उसे क्या हो गया है। हम तो सोच-सोच कर मर गई, पता नहीं चलता कि वो प्रेम में पगी है कि कोई भूत-प्रेत उसके साथ लगा है।

अलंकार—अनुप्रास और पुनरुक्तिप्रकाश।

तुलना

प्रेम दिवाने जे भये, कहैं बहकते बैन,
‘सहजो’ मुख हांसी छुटै कबहूँ टपकै नैन।

—सहजोबाई

‘भूली सी, भ्रमी सी, चौंकी, जकी सी, थकी सी गोपी,
दुखी सी रहति, कछु नाहीं सुध देह की।
मोही सी, लुभाई, कछु मोदक सी खायें सदा,
बिसरी सी रहै, नैकु खबर न गेह की।
रिस भरी रहै, कबौं फूलि न समाती अंग,
हंसि रहै बात करै अधिक उमेह की।
पूछे ते खिसानी होय, उतर न आवै ताहि,
जानी हम जानी है निसानी या स्नेह की।

—भारतेन्दु

धोर धाबरानी उबरानी ही रहति धन
आनन्द आरति-रातौ साधनि मरति हैं।
जीवन अधार जान-रूप के अधार बिन
व्याकुल बिकार-भरी खरी सु जरति हैं।
अतन जतन ते अनखि अरसानी बीर,
प्यारी पीर-भीर क्यों हूँ धीर न धरति हैं।
देखियै दसा असाध अखियाँ निपेटनि की
भसमी विथा पै नित लंघन करति हैं ॥ 29 ॥

नोट

शब्दार्थ—घेर=रोग। उबरानी=ऊबी। आरति-राती=दुख में रंगी हुई। साध=साधना, इच्छा। खरी=अत्यन्त। अतन=कामदेव। अतन जतन तें=कामजन्य उपचारों से। अनखि=अनखाकर, चिढ़कर। अरसानी=उदास हो गई है। बीर=हे सखि। पीर-भीर=अत्यधिक पीड़ा। असाध=असाध्य। निपेटनि=अधिक खाने वाले। भस्मी बिथा=भस्म कर देने वाली व्याकुलता, भस्मक रोग जिसके होने से आदमी को भोजन शीघ्र ही पचता है तथा हर समय भूख लगी रहती है। लंघन=भोजन करना।

प्रसंग—दूती अथवा सखी के माध्यम से प्रिय के प्रति अपनी आँखों की वेदना का वियोगिनी का निवेदन है।

व्याख्या—रोग से घिरी हुई घबराकर ये सदा ऊबी रहती है। घनआनन्द कहते हैं कि ये विरह में पड़ी साधना में पचती रहती है। जीवन के आधार सुजान प्रियतम के रूप में देखे बिना अनेक विकारों से भरी हुई आँखें व्याकुल होकर सदा जलती रहती हैं। हे सखी! नेत्रोपचार से चिढ़कर उसने उदास हो मुँह फेर लिया है। वेदना के आधिक्य से वह प्रिय सखी किसी प्रकार भी धीरज नहीं धर पाती है। इन पेटू आँखों की असाध्य दशा तो देखिये— एक तो ये स्वभाव से ही अधिक खाने वाली हैं अर्थात् रूप को बार बार देखकर भी तृप्त नहीं होतीं और अब इन्हें भस्मी रोग लगा है जिससे भूख और भी भड़क उठती है तिस पर ये आजकल लंघन कर रही है अर्थात् प्रियतम के दर्शन इन्हें नहीं हो रहे हैं।

विशेष—प्रस्तुत छन्द से कवि का आयुर्वेदिक ज्ञान परिलक्षित होता है। आयुर्वेदिक के अनुसार भस्मक रोग में भोजन तुरन्त पच जाता है। अधिक और सूखा भोजन करने से कफ क्षीण हो जाता है, जठराग्नि तीव्र हो जाती है किन्तु जो कुछ व्यक्ति खाता है वह तुरन्त भस्म हो जाता है, परिणामतः शौच नहीं आता और व्यक्ति शीघ्र ही ससंसार से विदा हो जाता है।

अलंकार—विरोधाभास, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा छेकानुप्रास।



क्या आप जानते हैं घनानंद की कविता उनकी प्रेयसी 'सुजान' को समर्पित है।

बिकच नलिन लखें सकुचि मलिन होति,
ऐसी कछू आखिन अनोखी उरझनि है।
सौरभ समीर आएँ बहकि दहकि जाय,
राग-भरे हिय मैं बिराग-मुरझनि है।
जहाँ जान प्यारी रूप-गुन को न दीप लहै,
तहा मेरे ज्यौ परै विषाद-गुरझनि है।
हाय अटपटी दसा निपट चटपटी सो,
क्यौ हूँ घनआनन्द न सूझै सुरझनि है ॥ 30 ॥

शब्दार्थ—बिकच=विकसित। नलिन=कमल। लखें=देखकर। उरझनि=उलझन। सौरभ=सुगन्धित। समीर=वायु। दहकि=जलना। राग भरे=प्रेम-भरे। मुरझनि=मुरझाना। ज्यौ=जीव। विषाद=गुरझनि=दुख की उलझनें, गाँठें। अटपटी=अनोखी। निपट=अत्यधिक। चटपटी=शीघ्रता। सूझै=दिखाई देना। सुरझनि=सुलझाव।

प्रसंग—‘संयोगावस्था में जो उद्दीपन सुखदायी होते हैं वियोगावस्था में वे ही दुखदायी होते हैं।’

व्याख्या—खिले हुए कमल को देखकर संकुचित होकर कान्तिहीन हो जाती है। आँखों के साथ कुछ ऐसी अजीब उलझन आ लगी कि सुगन्धित वायु के लगने से जलन उत्पन्न होती है तथा प्रेम से भरे हृदय में विराग की मुरझाहट छा जाती है। जहाँ सुजान प्रियतम के रूप तथा गुणों का दीपक नहीं जलता वहाँ मेरे जी में विषाद की गाँठें पड़ जाती हैं। हाय मेरी दशा तो दिन-ब-दिन शीघ्रता से अटपटी होती जा रही है। कोई समाधान भी तो नहीं सूझता।

विशेष—‘संयोगावस्था में जो उद्दीपन सुखदायी होते हैं वियोगावस्था में वे ही दुखदायी होते हैं।’ इसी मूल सत्य का उद्घाटन इस कवित्त का वर्ण्य विषय है। कारण, प्रियतम के संग होने पर जो चाँदनी मन में शीतलता उत्पन्न करती

नोट

धी; पुष्पित कमल आदि हृदय में उद्वेग पैदा करते थे वहीं उनके अभाव में केवल स्मृतियां मात्र रह जाते हैं। प्रेम की ऐसी स्मृतियां निश्चय ही दुखदायी होती हैं, अतः ऐसे उद्दीपनों का दुखदायी होना स्वाभाविक ही होता है।

तब है सहाय हाय कैसे धौं सुहाई ऐसी,
सब सुख संग लै विछोह-दुख दै चले।
सींचे रस-रंग अंग-अंगनि अनंग सौंपि,
अन्तर मैं विषम विषाद-बेलि बै चले।
क्यों धौं ये निगोड़े प्राण जान घनआनन्द के
गौहन न लागे जब वे करि बिजै चले।
मति ही अधीर भई पीर-भीर घेरि लई,
हेली मनभावन अकेली मोहिं कै चले ॥ 31 ॥

शब्दार्थ—है=होकर। सहाय=सहायक। विछोह-दुख=वियोग का दुख। विषाद-बेलि=दुख की बेला। बै=बोकर। निगोड़े=निष्ठुर। मोहन=साथ। विजै=विजय। पीर-भीर=दुख के आधिक्य ने। हेली=हे सखि।

प्रसंग—प्रियतम के अभाव से पीड़ित होकर सखी को प्रेमिका निवेदन कर रही है।

व्याख्या—पहले मेरे सहायक (साथी) कहलाकर न जाने उन्हें कैसे यह बात अच्छी लगी कि मेरे समस्त सुखों को लेकर मुझे वियोग का दुख देकर वे बिछुड़कर चले गये। प्रेम रस के माधुर्य से मेरे हृदय को खींचकर मेरे अंग-प्रत्यंगों को कामदेव को सौंपकर दुख की बेल बोकर न जाने कहाँ चले गये। न जाने मेरे यह निष्ठुर प्राण तब उनके साथ ही क्यों न चल दिए जब वे इन्हें जीत कर जाने लगे थे अर्थात् मेरे प्राण उनके बिछुड़ते ही छूट क्यों न गये। मैं अत्यन्त बेचैन हो रही हूँ। दुख के आधिक्य ने मुझे घेर लिया है। हे सखि मेरे प्रियतम मुझे अकेली छोड़कर चले गये।

अलंकार—रूपक, अनुप्रास, यमक, श्लेष, पदमैत्री।

तुलना

1. “माई म्हारी हरि न बूझी बात।
पिंड मां सँ प्राण पायों, निकसि क्यूँ णा जात।”

—मीरा

2. “नहिं जानि परै कछु या तन को,
केहि मोहते पापी न प्राण तजै।”

—हरिश्चन्द्र

रोम रोम रसना है लहै जो गिरा के गुन,
तऊ जान प्यारी, निबै न मैन-आरत।
ऐसे दिनदीन पै दया न आई दई तोहि।
विष-भोया विषम वियोग-सर मारतै।
दरस-सुरस-प्यास भांवरै भरत रहौं,
फेरियै निरास मोहिं क्यों धौ यौं ब द्वार तैं।
जीवन-अधार घनआनन्द उदार महा,
कैसें अनुसुनी करी चातिक-पुकार तै ॥ 32 ॥

शब्दार्थ—रोग=रोंगटे। रसना=जीभ। गिरा=वाणी। तऊ=तो भी। निबै न=खत्म न हो। मैन-आरत=कामजन्य पीड़ा। दिनदीन=सदैव दीन। विष भोयो=जहर में बुझा हुआ। विषम=तीक्ष्ण, कटु। दरस-सुरस-प्यास=दर्शन रूपी मधु रस की प्यास। भंवर=चक्कर।

व्याख्या—यदि प्रत्येक रोम जीभ का गुण धारण कर बोलने लगे तो भी मेरे हृदय की कामजन्य पीड़ा समाप्त न हो। अर्थात् पीड़ा इतनी अधिक है कि प्रत्येक रोम वाणी धारण कर बखान करे तो भी उसका अन्त न हो। हे निर्दयी

प्रियतम! ऐसे निरन्तर दुखी अपने प्यारे पर तुम्हें तनिक भी दया नहीं आई जो इस प्रकार जहर में बुझा वियोग का तीर हृदय में मार कर चले गये। मैं तुम्हारे दर्शन रूपी मधुर रस की प्यास में सदैव चक्कर काटता रहता हूँ। तुम मुझे अपने द्वार से निराश कर क्यों लौटा रहे हो। हे मेरे जीवन के आधार! आनन्द के महान् उदार घन! चातक की करुण पुकार को तुम यों अनसुनी मत करो।

नोट

अलंकार—अनुप्रास, श्लेष, रूपक, पुनरुक्ति तथा अतिशयोक्ति।

तुलना

1. प्रीति जो लागि घुल गई बैठि गई मन माहि।
रोम रोम पिउ पिउ करै, मुख की सरणा नाहि॥

—कबीर

2. हाड़ भये सब किगरी नसें भई सब तांत।
रोम-रोम सों धुनि उठै, कहौ बिथा केहि भाँति॥

—जायसी

चातिक चुहल चहुँ ओर चाहै स्वाति ही कौं,
सूर पन-पूरे जिन्हें विष सम अमी है।
प्रफुलित होत भान के उदोत कंज-पुंज,
ता बिन बिचारनि ही जोति-जाल तमी है।
चाहौ अनचाहौ जान प्यारे पै आनन्दघन,
प्रीति-रीति विषम सु रोम रोम रमी है।
मोहि तुम एक, तुम्हें मो सम अनेक आहिं,
कहा कछु चन्दहिं चकोरन की कमी है ॥ 33 ॥

शब्दार्थ—चुहल=हंसी-ठिठोली, दिल्लगी। सूर=शूरवीर। पन-पूरे=प्रण को पूरा करने वाले। अमी=अमृत। प्रफुलित=खिलना। भान=भानु, सूर्य। उदोत=उदित होने पर। कंजापुंज=कमलों के समूह। ता बिन=उसके बिना। बिचारनि=विचारना। तमी=रात्रि। अनचाहौ=न चाहौं। आहिं=हैं।

प्रसंग—प्रेमी की एकनिष्ठता द्रष्टव्य है।

व्याख्या—प्रेमी चातक सदैव स्वाति नक्षत्र के जल की ही कामना करता है। जो शूरवीर हैं, अपने प्रण को पूरा करना जानते हैं, उन्हें अपना प्रण पूरा किए बिना अमृत भी विष के समान है। अर्थात् अमृत-पान करने से उनकी मर्यादा भंग होती है तथा वे उसे भी जहर समझते हैं। सूर्य के उदित होने पर ही कमल-कुंज खिलते हैं। सूर्य के बिना प्रकाश का विचार करना भी उनके लिए तमिस्र ही है। अर्थात् सूर्य के प्रकाश को छोड़ अन्य सभी कृत्रिम प्रकाश उनके लिए तम ही हैं। हे प्राणों के प्यारे सुजान-प्रियतम! तुम हमें चाहो अथवा न चाहो लेकिन हमारे तो रोम-रोम में आपकी प्रीति रम चुकी है। मुझे तो तुम्हारा ही सहारा है। भले ही तुम्हें मुझ जैसे अनेक मिल जायें। चन्द्रमा को चकोरी की क्या कमी? लेकिन बेचारे चकोर का तो एक ही चन्द्रमा है।

विशेष—प्रस्तुत कवित्त में प्रेम की अनन्यता का सुन्दर चित्रण है। चातक, कमल और चकोर के उदाहरण द्वारा कवि प्रेम के आदर्श रूप को व्यक्त करना चाहता है।

अलंकार—अनुप्रास

तुलना

1. 'साईं तुम जनि बीसरो लाख लोग मिल जाहिं।
हमसे तुमको बहुत हैं तुमसे हमको नाहिं ॥'

—कबीर

नोट

2. “तुम्ह से तुम्हहिं नाथ मोकों,
मोसे जन तुम्हकों बहुतेरे।”

—तुलसी

जीवन हौ जिय की सब जानत जान कहा कहि बात जतैयै ।
जो कछु है सुख संपति सौंज सु नैसिक ही हँसि दैन में पैयै ।
आनन्द के घन, लागै अचम्भौ पपीहा-पुकार तें क्यो अरसैयै ।
प्रीतिपगी अँखियानि दिखाय कै हाय अनीत सु दीठि छिपैयै ॥ 34 ॥

शब्दार्थ—जीवन=प्राण । जिय=हृदय । कहा कहि=क्या कहकर । जतैये=बताऊँ । सौंज=सामग्री । नैसिक=तनिक सी । पैयै=प्राप्त करना । अरसैयै=आलस्य करना । प्रीति-पगी=प्यार में डूबी । दीठि=दृष्टि ।

व्याख्या—हे प्रियतम सुजान प्यारे । तुम मेरे प्राणों के प्राण हो, मेरे हृदय की सब बातें जानते हो । मैं तुम्हें फिर क्या कहकर अपनी दशा बताऊँ । जो भी कुछ सुख-सौरभ की सामग्री है वह मैं तुम्हारी एक मुस्कान में ही पा लेता हूँ । हे आनन्द के घन मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि पपीहे की भाँति मेरी करुण पुकार सुनकर भी आप मिलने में क्यों इतने अलसा रहे हैं । प्यार में डूबी आँखें दिखा, मुझे मोहित कर अब आँखें बचाकर जा रहे हो—ऐसा अन्याय क्यों करते हो?

अलंकार—अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा ‘जानत-जान’ में संभग पद ।

तुलना

“कागज पर लिखत न बनत कहत संदेस लजात ।
कहि है सब तेरो मेरे हिय की बात॥”

—बिहारी

चोप चाह चावनि चकोर भयौ चाहत ही,
सुषमा-प्रकास मुख सुधाधर पूरे को ।
कहा कहौं कौन कौन विधि की बँधनि बँध्यौ,
सु कस्यौ न उकस्यौ बनाव लखि जूरे को ।
जाही जासी अंग पर्यौ ताही गरि गरि सर्यौ,
हर्यौ बल बापुरे अनंग-दल-चूरे को ।
अब बिन देखैं जान प्यारे यौं अनन्दघन,
मेरो मन भँवै भट्ट, पात है बधूरे को ॥ 35 ॥

शब्दार्थ—चोप=उमंग, लालसा । चाह=प्रेम । चावनि=चाव में । सुषमा-प्रकास=सौन्दर्य रूपी प्रकाश । मुख सुधाधर=मुख रूपी चन्द्रमा । पूरे=पूर्ण । बँधनि=बंधन में । सु कस्यो=भली प्रकार कहा गया । उकस्यो=निकलना, छूटना । अनंग-दल-चूरे=काम की सेना से चूर-चूर हुआ । भवें=भ्रमण करता है । भट्ट=सखि । पात है=पता होकर । बधूरे=बवंडर ।

प्रसंग—यह कवित्त पूर्णानुराग से सम्बन्धित है ।

अर्थ—हे सखे! प्रेम की उमंग के चाव में भर कर मेरा मन प्रियतम के मुख रूपी पूर्ण चन्द्रमा के सौन्दर्य रूपी शीतल प्रकाश को पीने वाला चकोर हुआ चाहता है । क्या बताऊँ यह (मन) न जाने किस तरह के बन्धन में बंध गया है । उसके जूड़े के बनाव को देखकर उसमें भली प्रकार कस गया है, निकल नहीं पाता । प्रियतम के जिस-जिस अंग पर भी यह गया लौटकर नहीं आया, वहीं गिर कर गल-गलकर नष्ट हो गया । अर्थात् वहीं पड़ा तड़पता रहा । कामदेव की सेना द्वारा चूर-चूर किया गया यह अपनी सारी शक्ति गंवा बैठा । अब तो प्राणों के प्यारे आनन्द के घन सुजान को देखे बिना यह मन बवंडर में फंसे पत्ते की तरह भटकता फिर रहा है ।

अलंकार—अनुप्रास, श्लेष, उपमा, रूपक तथा पुनरुक्ति ।

नोट

तुलना

कच समेटि कर भुज उलटि खरी सीस पट डारि ।

काको मन बाँधे न यह, जूरो बांधनि हारि॥

—बिहारी

मोहि मोह जनाय कै, अहे अमोही, जोहि ।

सो ही मोही सों कठिन, क्यों करि सोही तोहि ॥ 36 ॥

शब्दार्थ—मोही=मोहित किया। मोह=प्रेम। जनाय कैं=प्रकट करके। अमोही=निर्मोही। जोहि=देखकर। सो=वह। ही=हृदय। सोही=शोभा देना।

प्रसंग—प्रिय की निष्ठुरता के प्रति उलाहना है।

व्याख्या—हे निर्मोही! मेरी ओर देखकर प्रेम दिखाकर तुमने मेरे हृदय को मोहित कर लिया। वह तुम्हारा हृदय अब मेरे हृदय के प्रति इतना कठोर हो गया। वह तुम्हें कैसे शोभा देता है? कैसे ठीक लगता है?

अलंकार—यमक ।

तुलना

सोई सेंकर तेह सुवा सुवत सदा बसंत ।

तुलसी महिमा मोह की सुनत सराहत संत॥

—तुलसी

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—

1. घनानंद रीतिकाल की श्रेणी के कवि माने जाते हैं।
2. घनानंद की प्रेयसी का नाम था।
3. आचार्य शुक्ल ने घनानंद को संप्रदाय का माना है
4. घनानंद की रचना 'इश्कलता' पर प्रभाव देखने को मिलता है।

विष लै बिसार्यों तन, कै बिसासी आपचार्यौ
जान्यौ हुती मन, तै सनेह कछु खेल सो ।
अब ताकी ज्वाल मैं पजरिवौ रे भली भाँति,
नीक आहि, असह उदेग-दुख सेल सो ।
गए उड़ि तुरत पखेरू लौ सकल सुख,
पर्यो आय औचक वियोग बैरी डेल सो ।
रुचि की के राजा जान प्यारे यौ आनन्दघन,
होत कहा हेरें रक, मानि लीनौ मेल सो ॥ 37 ॥

शब्दार्थ—विष=वियोग का जहर। बिसार्यौ=छोड़ दिया, भूल गया। आपचार्यौ=उपचार किया, अपचार, अन्यथा आचरण। पजरिवौ=जलना। असह=असह्य। उदेग-सुख=प्रेमोद्वेग का दुख। सेल=बरछे-सा। औचक=अचानक। डेल=डला, ढेला। रुचि के ही राजा=सौन्दर्य तथा रस के सम्राट। हेरें रंक=तनिक देखने से। मेल=प्रेम।

नोट

व्याख्या—वियोग का विष घोलकर तुमने मुझे भुला दिया। हे विश्वासघाती तुमने मेरे विरह-विमर्दित शरीर का क्या उपचार किया? तुमने तो प्रेम को अपने मन में केवल मात्र एक खेल समझ लिया है। अब मुझे वियोग की आग में निरन्तर जलना पड़ रहा है। तुमने खूब मेरे हृदय के करीब आकर असह्य उद्वेग-जनित दुख के बरछों से घायल किया। ढेले की तरह अचानक न जाने यह वियोग कहाँ से आ गिरा। जिसने पक्षी की भाँति मेरे समस्त सुखों को उड़ा दिया। हे अपनी इच्छा से व्यवहार करने वाले प्राणप्रिय आनन्द के घन सुजान प्रियतम! एक बार तनिक देख लेने भर से क्या होता है। तुम इसी को प्रेम समझ बैठे? अर्थात् प्रेम में तो क्षण भर के लिए भी प्रेमियों का एक-दूसरे की नजरों से दूर होना असह्य है।

अलंकार—उपमा

तुलना

“हृदय कियारी माँझ सींचौ प्रेम जीवन सौं,
खेल मति जानौ, यह बेल बिरहा की है॥”

—बलबीर

सूझै नहीं सुरझ उरझि नेह गुरझनि,
मुरझि मुरझि निसदिन डौँवाँडोल है।
आह की न थाह दैया कठिन भयौ निबाह
चाह के प्रबाह घोर्यो दारुन कलोल है।
वे तौ जान प्यारे निधारक हैं अनन्दघन,
तिनकी धाँ गूढ़ मति मूढ़मति को लहै।
आगे न बिचार्यो अब पाछें पछिताएँ कहा,
मान मेरे जियरा, बनी को कैसी मोल है ॥ ३४॥

शब्दार्थ—सुरझ=सुलझना। उरझि=उलझना। गुरझनि=उलझने से पड़ी गांठें। मुरझि=बेहोश होकर, मुरझाकर। डौँवाँडोल=चंचल। थाह=पहुँच। दैया=हे भगवान। चाह=प्रेम। दारुन=भयंकर, प्रचंड। कलोल=लहरें। निधारक=निर्भय। लहै=प्राप्त करना। बनी को कैसी मोल है=जिसकी बात बन गई उसके लिये भला दूसरे का क्या मूल्य है।

व्याख्या—मेरा मन प्रेमी प्रेम में उलझ गया है। इसे सुलझाने का कोई उपाय नहीं सूझता। यह दिन प्रतिदिन मुरझा-मुरझा कर अस्थिर होता जा रहा है। प्रभो इसकी आह की भी गहराई का पता नहीं चलता। अब तो इस प्रेम-पीड़ा को निबाहना बड़ा कठिन हो गया है। प्रेम के प्रवाह में पड़कर यह वियोग की उताल तरंगों के प्रचण्ड आघातों में घिर गया है और वे आनन्द के घन सुजान प्रियतम तो निशंक हुए चैन से घूमते हैं। उनके रहस्य भरे आचरण को भला हम मन्दबुद्धि क्या समझ सकते हैं। हे मेरे पागल मन! तूने पहले ही विचार कर कदम क्यों न रखा? अब पछताने से क्या होता है? अब तू धीरज धारण कर जिनकी बात बन गई उन (सुजान) की दृष्टि में अब तेरा कोई मोल नहीं रह गया है। अर्थात् जब तक तू उस पर मुग्ध नहीं हुआ था तभी तक वह तेरी परवाह करती थी, अब नहीं।

अलंकार—अनुप्रास, पुनरुक्ति, व्यतिरेक।

तुलना

2. अद्भूत डोरी प्रेम की जामें बाँधे दोय।
ज्यों-ज्यों दूर सिधारिये त्यों-त्यों लांबी होय॥

—देवीप्रसाद पूर्ण

अन्तर उद्वेग-दाह, आँखिन प्रबाह, आँसू,
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोइबो व जागिबो हो, हंसिबो न रोइबो हो,

खोय-खोय आप ही मैं चेटक-लहनि है ।
जान प्यारे प्राननि बसति पै आनन्दघन,
विरह-विषम-दसा मूक लौं कहनि है ।
जीवन मरन, जीव मीच बिना बन्यौं आय,
हाय कौन विधि रची नेही की रहनि है ॥ 39 ॥

नोट

शब्दार्थ—अन्तर=हृदय । उदेग-दाह=उत्तेजना, उद्विग्नता-जन्य जलन, पीड़ा । अटपटी=अनौखी । चाह-प्रेम । भाजनि=भागना । दाहनि=जलना चेटक-लहनि=चौंक-चौंक पड़ना, चकित होना, भ्रमित होना, इन्द्रजाल में पड़ना । प्राननि=प्राणों में । मीच=मृत्यु । रहनि=जीवन । नेही=प्रेमी ।

व्याख्या—हृदय में विरह-जन्य उद्विग्नता की दाहक पीड़ा है । आँखों से आँसू प्रवाहित हो रहे हैं । यह प्रेम कितना अद्भुत है इसमें एक साथ ही आँसुओं से भीगने और वियोगाग्नि से जलने की क्रिया चलती है । न तो सोया जाता है न ही जागते बनता है । मैं अपने आप में ही खोया हुआ चौंक-चौंक पड़ता हूँ । अथवा इन्द्रजाल के सम्मोहन की तरह भ्रमित होकर भटकता हूँ । प्राणों से प्यारे आनन्द के घन सुजान प्रियतम मेरे प्राणों में बसते हैं किन्तु फिर भी किसी गुँगे व्यक्ति की स्वप्नावस्था की तरह विरह की असह्य पीड़ा से छटपटाता हूँ । इसमें जीवन के बिना जीना और मृत्यु के बिना मरना आ बना है । अर्थात् चेतना-शक्ति कभी लुप्त हो जाती है । कभी लौट आती है । न जाने विधाता ने प्रेमी के जीवन का निर्माण किस घड़ी में या किस प्रकार किया था ।

विशेष—प्रस्तुत पद में विरहजन्य प्रेमोन्माद का मूर्त चित्रण उपस्थित किया गया है ।

अलंकार—यथासंख्य, विरोधाभास, उपमा, पुनरुक्तिप्रकाश, विभावना तथा अनुप्रास ।

तुलना

1. प्रेम मगन जे साधु जन, तिन गति कही न जात ।
रोय-रोय गावत हँसत, दया अटपटी बात॥

—दयाबाई

2. जेहि कै हीय पै मरना जाया ।
कहँ तेहि भूख नींद बिसराया॥

—जायसी

नेहनिधान सुजान समीप तौ सींचति ही हियरा सियराई ।
सोई किधौं अब और भई, दई हेरत ही मति जाति हिराई ।
है विपरीत महा घनआनन्द अबर तें धर कौ घर आई ।
जारति अंग अनंग की आँचनि जोन्ह नहीं सु नई अगिलाई ॥ 40 ॥

शब्दार्थ—नेहनिधान=प्रेमाधार । हियरा=हृदय को । सियराई=शीतल करती थी । मति जाति हिराई=बुद्धि चकित हो जाती है; सुध-बुध भूल जाती है । धर=धारण करने वाला । कौं=की ओर । झर=जल, लपट । अनंग=कामदेव । आँचनि=आग में । जोन्ह=चाँदनी । अगिलाई=आग लग जाना ।

प्रसंग=संयोग और वियोग में प्रकृति का आनन्द भिन्न-भिन्न होता है । संयोग में जो प्रकृति सुखदायिनी लगती है वही वियोग में अग्निदाहक हो जाती है ।

व्याख्या—जब प्रेम के पारावार प्रियतम सुजान मेरे पास थे तो यह चाँदनी हृदय को अमृत से सींचकर शीतलता प्रदान करती थी । अब वही चाँदनी वियोगावस्था में कुछ बदल गई है और देखते ही मेरी सुध-बुध को नष्ट कर देती है । घनानन्द कहते हैं कि बड़ी विचित्र, उल्टी बात है कि इसकी (चाँदनी की) लपट आकाश से पृथ्वी की ओर अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर संचरण करती है जब कि अग्नि-ज्वाला का स्वभाव नीचे से ऊपर को जाना है । अब तो नवीन चाँदनी अद्भुत आग लगाकर मेरे अंगों को काम की आग में जलाती है ।

विशेष—वियोगावस्था में प्रकृति के उद्दीपन रूप का परम्परागत चित्रण है ।

नैनन मैं लागै जाय, जागै सु करेजे बीच,
या बस है जीव धीर होत लोटपोट है।
रोम रोम पूरि पीर, व्याकुल सरीर महा,
चलत सजीवन-सुजान-दृग हाथन तें,
प्यारी अनियारी खचि रखवारी ओट है।
जब जब आवै तब अति मन भावै,
महा कहा विषम कटाक्ष-सर-चोट है ॥ 41 ॥

शब्दार्थ—लागै जाय=जाकर लगते हैं। जागै=कसक उत्पन्न करते। करेजे=कलेजे। गति आसै=गति की आशाएँ। टोट=कामी, टोटा। दृग-हाथन=नेत्र रूपी हाथ। अनियारी=चुभने वाली। ओट=आड़, कवच। कटाछ-सर=कटाक्ष रूपी बान।

व्याख्या—ये कटाक्ष रूपी तीर तो आँखों में जाकर लगते हैं और कसक कलेजे में होती है। इनके प्रहार के वशीभूत हुए धैर्यवान व्यक्ति भी घायल होकर तड़पते हैं। रोम-रोम में पीड़ा भर जाती है; शरीर अत्यन्त दुखित हो उठता है। बुद्धि मार्ग खोजने की आशा में भटकती है। लेकिन बचकर नहीं जाया जा सकता। प्यास अत्यधिक रहती है। जीवन दान देने वाले सुजान के दृग रूपी हाथों से छोड़े जाते हैं। इसकी प्यार भरी हृदय में चुभने वाली उमंग ही इसकी रक्षा की आड़ है। अर्थात् ज्यों-ज्यों ये तीर लगते हैं, चुभते हैं— उमंग बढ़ती जाती है। जब-जब ये कटाक्ष के तीर लगते हैं तब-तब बड़े मन को भाते हैं। इनकी चोट सामान्य तीरों की चोट से वस्तुतः बड़ी विलक्षण है।

विशेष—प्रस्तुत पद में कटाक्ष-पात की बाण-निपात से विलक्षणता दिखाई गई है।

अलंकार—असंगति, पुनरुक्ति, रूपक, व्यतिरेक, छेकानुप्रास।

तुलना

‘लगा लगी लोचन करै मन नाहक बँध जाय,
त्यों त्यों प्यासेई रहत ज्यों ज्यों पियत अघाय।’

—बिहारी

पाती-मधि छाती-छत लिखि न लिखाए जाहिं,
घाती लै बिरह घाती कीने जैसे हाल हैं।
आँगुरी बहकि तहीं पाँगरी किलकि होति,
ताती राती दसनि के जाल ज्वाल-माल हैं।
जान प्यारे जौडब कहूँ दीजियै संदेसो तौडब,
आवा सम कीजियै जु कान तिहि काल है।
नेह-भीजी बातें रसना पै उर-आँच लागै,
जागै घनआनन्द ज्यों पुंजनि-मसाल हैं ॥ 42 ॥

शब्दार्थ—पाती मधि=पत्र में। छाती छत=छाती में लगे हुए घाव। घाती=कटारी। बिरह घाती=विश्वासघाती विरह। अंगुरि=अंगुली। बहकि=काँपना। पाँगुरी=लंगड़ी, पंगु। ताती=तप्त। राती=लाल, अनुरंजित। दसनि=दशा। जौडब=जो अब। तौडब=तो अब। आवा=जिसमें कुम्हार मटके पकाता है, आग की भट्टी। नेह-भीजो=स्नेह-सिक्त। रसना=जिह्वा। उर-आँच=हृदय रूपी अग्नि। पुंजनि-मसाल=मशालों की लपटें।

व्याख्या—इस विश्वासघाती अन्यायी विरह ने कटारी लेकर छाती में घाव कर ऐसा हाल कर दिया है जिसे पत्र में न तो खुद ही लिखा जा सकता है और न ही किसी से लिखाया ही जा सकता है। (भला हृदय के घावों को कागज पर कैसे लिखा या लिखवाया जा सकता है) जब मैं पत्र लिखने बैठती हूँ तो अँगुलियाँ बहक कर छटपटाकर पंगु हो

जाती हैं कुछ लिख सकने में असमर्थ हो जाती हैं। प्रेममयी विरह-विदग्ध परितप्त दशाओं का समूह दहकते ज्वाला पुंज के समान हो गया है। हे प्राण प्यारे प्रियतम सुजान! यदि अब मैं किसी को अपना संदेश लेकर भेजूं तो सन्देशा सुनने के लिए अपने कानों को जलते हुए आवा के समान करना पड़ेगा। घनानन्द कवि कहते हैं कि स्नेह से भीगी बातें जिह्वा पर हृदय के भीतर की विरहाग्नि लगने से मशालों के समूह की भाँति जल उठती हैं।

विशेष—यहाँ विरह के ताप का ऊहात्मक वर्णन है। किन्तु उसमें परम्परागत पिष्टपेषण नहीं है। सन्देशा भेज सकने में भी असमर्थता प्रकट करना मौलिक भाव है।

अलंकार—अतिशयोक्ति, श्लेष, उपमा, उदाहरण, विरोधाभास तथा छेकानुप्रास।

तुलना

1. पतियां मैं कैसे लिखूँ, लिख्यों री न जाय।
कलम धरत मेरो कर कँपत है नैन रहे झड़लाय।
बात कहूँ तो कहत न आवै जीव रह्यो डरराय॥

—मीरा

2. छाती कै छुवाय दीया बाती क्यों न बार लै॥

—आलम

कंत रमे उर-अन्तर मैं सु लहै नहीं क्यों सुख-रासि निरन्तर।
दंत रहैं गहे आंगुरी, ते जु वियोग के तेह तचे परतंतर।
जो दुख देखति हौं घनआनन्द रैन-दिना बिन जान सुतंतर।
जानै वेई दिन-राति, बखाने तें जाय परै दिन-राति को अन्तर ॥ 43 ॥

शब्दार्थ—कन्त=प्रिय। रमै=रमण करना, बसना। गहें=पकड़े दबाने। तेह=आग। तचे=तपे। परतन्तर=परतन्त्र, अधीन। सुतन्तर=स्वतन्त्र। नेई=वे ही।

व्याख्या—मेरे प्रियतम मेरे हृदय में निवास करते हैं लेकिन फिर भी न जाने मैं क्यों निरन्तर सुखों का अनुभव नहीं कर पाती। मेरे वियोग की आग को देखकर वे विरही भी दांतों तले अंगुली दबाते हैं जो प्रेम के वशीभूत हो वियोग की आग में सदा जलते रहे हैं। घनानन्द कवि कहते हैं कि प्राण प्यारे स्वेच्छा-चारी सुजान के बिना दिन-रात जो दुख देखने पड़ते हैं—उन दुखों को वे दिन-रात ही जान सकते हैं। यदि उनका बखान करूँ तो उनकी असलियत में दिन रात का अन्तर पड़ जायेगा अर्थात् वियोग का दुख अनुभव की वस्तु है—वर्णन की नहीं।

अलंकार—यमक, अनुप्रास और लाक्षणिक वक्रता।

चंद चकोर की चाह करै, घनआनन्द स्वाति पपीहा कौं धावै।
त्यों असरैनि के ऐन बसै रवि, मीन पै दीन है सागर आवै।
मोसों तुन्हें सुनौ जान कृपानिधि, नेह निबाहिबो यौ छवि पावै।
ज्यों अपनी रुचि राचि कुबेर सु रंकहि लै निज अंक बसावै ॥ 44 ॥

शब्दार्थ—चाह=प्रेम, इच्छा। कौं धावै=की तरफ आये, दौड़े। असरैनि-असरेणु=छेद में से होकर आती धूप में चमकने वाला एक कण। ऐन=घर। मीन पै=मछली के पास। निबाहिबो=निबाहना, प्रेम में दिए वचन पूरा करना। यौ छवि पावै=ऐसी शोभा पा सकता है। सु=वह, कुबेर। रंक=दरिद्र। अंक बसावै=गोद में बिठा ले।

व्याख्या—जिस प्रकार चन्द्रमा चकोर को चाहने की इच्छा करे, स्वाति नक्षत्र की बूँद स्वयं पपीहे के पास आने को आतुर हो, जिस पर सूर्य स्वयं असरेणु के घर चलकर निवास करे, सागर विनम्रता धारण कर मछली के पास जाये; जिस प्रकार कुबेर अपनी इच्छा से अनुरक्त होकर किसी दरिद्र को प्रेम पूर्वक अपनी गोद में बिठा ले—हे कृपानिधि सुजान प्रियतम! तुम्हारा मुझ से उसी प्रकार प्रेम निबाहना शोभा देता है।

विशेष—सामान्यतः चकोर, मीन, असरेणु, पपीहा, रंक, चाँद, सागर, सूर्य, स्वाति तथा कुबेर की ओर अनुरक्त होते हैं। किन्तु प्रेम की महानता तो इसमें है कि बड़ा पदार्थ छोटे पदार्थ के पास चल कर आए।

ज्यों बुधि सों सुधराई रचै कोऊ, सारदा कों कविताई सिखावै ।
मूरतिवन्त महालछमी-छर पोत-हरा रचि लै पहिरावै ।
रागबधू-चित्त चोरन के हित सोधि सुधारि कै तानहिं गावै ।
त्यों ही सुजान तियै घनआनन्द मो-जिय-बौरई-रीति रिझावै ॥ 45 ॥

शब्दार्थ—बुधि=बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी । सुधराई=चतुरता । रच=आचरण करना । सारदा=शारदा, सरस्वती । मूरतिवन्त=मूर्तिमती । उर=गले में । पोत-हरा=काँच के मोतियों की माला । रागबधू=रागिनी, संगीत की देवी । सोधि=स्वर साध कर । तिय=प्रेमिका । बौरई=पागल होकर । रिझाव=प्रसन्न करे ।

व्याख्या—मेरा मन अपने पागलपन में आकर उसी प्रकार से सुजान-प्रियतम को रिझाने का प्रयत्न कर रहा है, जिस प्रकार बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी को कोई अपना चातुर्य दिखाकर प्रभावित करना चाहे । स्वयं सरस्वती को कविता करना सिखलावे, साक्षात् लक्ष्मी के गले में गुंजा फूलों की माला पहनाकर उसे प्रसन्न करना चाहे तथा रागिनी के चित्त को वश में करने के लिए स्वर साधकर कोई सुधरी हुई तान छेड़े ।

अलंकार—विरोधाभास, दृष्टान्त तथा छेकानुप्रास ।

हिये मैं जु आरति सु आरति उजारति है,
मारति मरोरैं जिय डारति कहा करौं ।
रसना पुकारि कै विचारि पचि हारि रहैं,
कहैं कैसे अकह, उदेग रूँधि कै मरौं ।
हाय कौन बेदनि विरंचि मेरे बाट कीनी,
निघटि हरौं न क्यों हूँ, ऐसी विधि हौं गरौं ।
आनन्द के घन हौ सुजीवन सुजान देखौ,
सीरी परि सोचनि, अचम्भे सों जरीं भरौं ॥ 46 ॥

शब्दार्थ—आरति=लालसा । जारति=जलाती है । उजारति=उजाड़ती है । पचि=परेशान होकर । अकह=अकथ, जो कही न जा सके । उदेग=उद्वेग, बेचैनी । रूँधिकै=घिरकर, घुटकर । वेदनि=वेदना । विरंचि=ब्रह्मा । बाट=बाँटे, हिस्से में । हौं गरौं=मैं गलूँ । सारी=शीतल । जरीं=जल रही हूँ । भरौं=कष्ट भोग रही हूँ ।

व्याख्या—हे आनन्द के घन प्रियतम सुजान, देखिये तो मेरी कैसी विषम अवस्था है । मरने की सभी स्थितियाँ उपस्थित होने पर भी मैं मर नहीं रही हूँ । घोर कष्ट सहन कर रही हूँ । हृदय में जो आपके दर्शन की लालसा है (कष्ट, पीड़ा है) वह मुझे जलाकर हृदय को उजाड़ देना चाहती है । जी को मरोड़ कर मारे डाल रही है क्या करूँ । जीभ बेचारी पुकार-पुकार कर परेशान होकर थक जाती है, यह वेदना अकथनीय है, इसे किस प्रकार कहूँ? उद्वेग मुझे घेरकर, घोटकर मारे डाल रहा है । न जाने विधाता ने मेरे हिस्से में यह कैसी वेदना लिख दी है । इस प्रकार गल-गलकर क्षीण हुई जा रही हूँ—मर क्यों नहीं जाती । मेरी सोचने की शक्ति शिथिल पड़ गई है—मैं आश्चर्य में जली जा रही हूँ । दिन काट रही हूँ ।

अलंकार—विरोधाभास और अनुप्रास ।

पाप के पुंज सकेलि सु कौन धौं आन घरी मैं बरंचि बनाई ।
रूप की लोभनि रिझि भिजायकै हाय इते पै संजान मिलाई ।
क्यौ घनआनन्द धीर बिन पाँख निगोड़ी मरै अकुलाई ।
प्यास-भरी बरसैं तरसै मुख देखन कौं अँखियाँ दुखलाई ॥ 47 ॥

शब्दार्थ—पुंज=समूह । सकेलि=एकत्र करके । धौं=न जाने । आन=दूसरी, अजीब । घरी=घड़ी । लोभनि=लोभ करने वाली । रिझि=उमंग । भिजाय=भिगोकर । इते पै=इतने पर । निगोड़ी=अभागी, बेचारी । अकुलाई=दुख पाकर ।

व्याख्या—न जाने विधाता ने पापों का पुंज एकत्र करके कैसी विचित्र घड़ी में इन आंखों का निर्माण किया था, जो कि इन्हें रूप की लोभनि बनाकर प्रेम की उमंग में भिगोकर, निष्ठुर सुजान-प्रियतम से लाकर मिला दिया । घन

नोट

आनन्द कवि कहते हैं कि ये धैर्य भी धारण नहीं कर सकती और पंख न होने के कारण प्रियतम तक उड़कर भी नहीं जा सकती। अतः ये बेचारी व्याकुलता से मरी जा रही हैं। ये सुजान प्रियतम के रूप की प्यासी दुखियारी आँखें उनका मुख देखने को तरसती हैं, निरन्तर बहती हैं अर्थात् रोती रहती हैं।

अलंकार—विरोधाभास तथा छेकानुप्रास।

साधनि ही मरियै भरियै, अपराधनि बाधनि के गुन छावत।

देखैं कहा? सपनों हूँ न देखत, नैन यौं रैन-दिना झर लावत।

जौ कहूँ जान लखैं घनआनन्द तौ तन नेकु न औसर पावत।

कौन वियोग-भरे आँसुवा, जो संजोग मैं आ गई देखन धावत ॥48॥

शब्दार्थ—साधनि=साध में, इच्छा में। भरियै=दिन काटती हूँ। बाधनि=बाधाओं के। गुन=जाल। छावत=फैलाना, छा जाना। देखैं कहा=प्रत्यक्ष देखने की कौन कहे? झर=झड़ी। लागत=लगते हैं। जान लखैं=सुजान को देखें। नेकु=तनिक। औसर=अवसर।

व्याख्या—इन आँसुओं के कारण मैं तो उनको देखने की साध में ही मरी जा रही हूँ। अपने अपराधों का दण्ड भोग रही हूँ (मैंने सुजान से प्रेम करने का अपराध किया है) नित्यप्रति बाधाओं का जाल फैला रहता है। प्रियतम सुजान को प्रत्यक्ष की तो कौन कहे मैं तो उन्हें सपने में भी नहीं देख पाती क्योंकि दिन-रात ये आँसू झड़ी लगाए रहते हैं। अगर कहीं आनन्द के घन प्रियतम सुजान दिखाई भी पड़े तो बेचारे शरीर को तो भेंटने का अवसर ही नहीं मिलता। न जाने ये आँसू किस विचित्र वियोग से भरे हैं जो संयोग में भी आँखों से भी पहले दौड़ पड़ते हैं— अतः संयोग में भी वियोग बना रहता है।

अलंकार—अनुप्रास।

उठि न सकत, ससकत नैन-बान-बिंधे,

इते हूँ पै विषम-विषाद-जुर लू बरे।

सूरे पन-पूरे हेत-खेत तें हटैं न कहूँ,

प्रीति-बोझ बापुरें भए हैं दवि कूबरे।

संकट-समूह मैं बिचारें धिरे घुटै सदा,

जानी न परत जान, कैसें प्रान ऊबरे।

नेही दुखियानि की यहै गति अनंदघन,

चिन्ता-मुरझानि सहैं न्याय रहें दूबरे ॥49॥

शब्दार्थ—ससकत=सिसकते हैं। नैन-बान-बिंधे=नैन रूपी बाणों से बिंधे। इतेहू=इतने पर भी। विषम-विषाद-जुर=वियोग वेदना का भयंकर ज्वर। बलै=जलता है। सूरे-पन=प्रतिज्ञा करने में शूरवीर। हेत-खेत=प्रेम रूपी क्षेत्र। पटे न=टलते नहीं। कहूँ=कभी। बापुरे=बेचारे। कूबरे=कुबड़े। ऊबरे=बच जाते हैं, उबरना। चिन्ता-मुरझानि=चिन्ता से मुरझाये। न्याय=उचित है।

व्याख्या—वियोग की असह्य वेदना के कारण क्षीण हुए प्रेमियों से उठा तक नहीं जाता, वे प्रेमिका के नयनरूपी बाणों में बिंधकर सदा सिसकते रहते हैं। इतने पर भी ऊपर से भयानक पीड़ा का ज्वर तप्त लू की भाँति जलाता रहता है परन्तु प्रतिज्ञा के पूरे शूरवीर प्रेमीजन प्रेम के क्षेत्र में भी हटते नहीं। बेचारे प्रेम के भार से दबकर कुबड़े हो जाते हैं— कमर झुक जाती है। संकटों के समूहों में धिरे हुए बेचारे सदा घुटते रहते हैं। हे सुजान प्रियतम! जाना नहीं जाता कि प्राणों की रक्षा किस प्रकार हो। घनानन्द कहते हैं कि दुखी प्रेमियों की ऐसी ही दशा रहती है। चिन्ता की मुरझाहट को सहकर वे अत्यन्त दुर्बल हो जाते हैं— लेकिन उनके लिये यही उचित है।

अलंकार—रूपक, यमक, अनुप्रास और छेकानुप्रास।

तुलना

1. कठिन वियोग जोग दुख ठाहू।

जरम जरत होई और निबाहू॥

—जायसी

सुखानं समाज साज सजै तित सेवै सदा,
जित नित नए हित-फंगनि गसत हौ।
दुःख-तम-पुंजनि पठाय है चकोरनि पै,
सुधाधर जान प्यारे, भलें ही लसत हौ।
जीव सोच सूखै गति सुमिरें अनन्दघन,
कित हूँ उघरि कहूँ घुरि कै रसत हौ।
उजरनि बसी हमारी अँखियानि देखौं,
सुबस सुदेस जहाँ भावते बसत हौं ॥ 50 ॥

शब्दार्थ—सुखनि-समाज=सुखों के समूह। तित=वहाँ। हित-फंदन=प्रेम के फंदों में। गसत हौ=फँसाते हो। दुख-तुम-पुंजित=दुखरूपी अंधकार का समूह। पठाय=भोजना। सुधाधर=चन्द्रमा। लसत=शोभित होना। सोच=चिन्ता। सुमिरें=याद करें। कितहूँ=कहीं। उघरि=हटकर, उदासीन। घुरि=घुलमिल कर। रसत=रस बरसाना। उजरति=उजाड़, सूनापन। सुवस=भलीभाँति बसा हुआ। सुदेस=सुन्दर देश, भाग्यशाली। भावते=आप, प्रिय।

व्याख्या—हे सुजान प्रियतम! जहाँ आप जा बसे हैं और नित नये फंदों में प्रेमियों को फँसाते रहते हैं वहाँ तो सुखों के समूह सदा आपकी सेवा में रहते हैं। आप तो खूब उस चाँद की तरह शोभित हो रहे हैं जिसने दुखरूपी अंधकार के जाल को अपने प्रेमी चकोरों के पास भेज दिया है— अर्थात् हमें दुख देकर आप स्वयं सुखों में रमण कर रहे हैं— यह आपको शोभा नहीं देता। हे आनन्द घन प्यारे प्रियतम! तुम्हारी इस प्रकार की गतिविधियों का स्मरण कर जी दुखों के मारे सूखा जा रहा है, कहीं तो तुम दूर होकर रहते हो और कहीं खूब घुल मिलकर स्नेह बरसाते रहते हो। देखो हमारी आँखों में सूनापन बसा हुआ है और जहाँ आप निवास करते हैं वह प्रदेश सुन्दरता से बस रहा है।

अलंकार—रूपक, श्लेष, विरोधाभास, अनुप्रास तथा छेकानुप्रास।

11.2 सारांश (Summary)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास में घनानंद के विषय में लिखा है कि—“प्रेम की पीर’ लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक जब्बदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रज, भाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।” प्रिय से बिछड़ने का दुःख हृदय की दारुण अवस्था घनानंद के काव्य में जिस रूप में दृष्टव्य है उससे मीरा और सूर की गोपियों की तुलना की जा सकती है। कवि सुजान के सुंदर के दर्शन की अभिलाषा लिए तड़पता रहता है। वह वियोग में संयोगावस्था को स्मरण करता है ताकि उसका दुःख कुछ कम हो सके लेकिन प्रिय के कठोर व्यवहार के कारण उसकी वेदना और अधिक बढ़ जाती है।

11.3 शब्दकोश (Keywords)

1. **सुजान:** जनश्रुति के अनुसार घनानंद की प्रेयसी का नाम।
2. **भसमी बिथा:** भस्म कर देने वाली व्याकुलता।
3. **आवा:** जिसमें कुम्हार मिट्टी के बर्तन पकाता है, आग की भट्टी।

11.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. घनानंद के काव्य में विरहजन्य अनुभूति चरमोत्कर्ष को पहुँच गई है। घनानंद के कवित्त के आधार पर सिद्ध कीजिए।
2. घनानंद कवित्त में वर्णित प्रेम की अभिव्यंजना पर प्रकाश डालिए।

उत्तर-स्वमूल्यांकन (Answer-Self Assessment)

नोट

1. रीतिमुक्त
2. सुजान
3. निंबार्क
4. सूफी

11.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. महाकवि घनानन्द-राज बुद्धिराजा, तक्षशिला प्रकाशन।
2. रीतिमुक्त कवि घनानन्द-सहगल शशि, अमरसत्य प्रकाशन।
3. घनानन्द का काव्य शिव्य-पाल लखनसिंह, हिन्दी बुक सेन्टर।

नोट

इकाई 12

घनानंद की भक्ति-भावना**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

12.1 घनानंद की भक्ति-भावना

12.2 सारांश (Summary)

12.3 शब्दकोश (Keywords)

12.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

12.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- घनानंद की भक्ति-भावना को समझने में

प्रस्तावना (Introduction)

घनानन्द के जीवन में भक्ति का प्रवेश यौवन की उत्तरावस्था में हुआ। एक आन्तरिक क्षेत्र ने उन्हें संसार से विरक्त कर भक्त बना दिया। उनके विषय में जनश्रुति यही संकेत देती है कि वे जीवन की विषमता से विरक्त होकर ईश्वर आराधना की ओर उन्मुख हुए। 'रघुनाथसिंह देव' ने इन्हें बहुत बड़ा भक्त स्वीकार किया है और 'कृष्ण-स्नेही' कहा है।

घनानंद का सम्बन्ध किस भक्ति-सम्प्रदाय से था, यह विवादग्रस्त है। विभिन्न विचारकों ने इस विषय में अपने मत दिये हैं।

(1) **भगवान दीन 'दीन'** घनानंद सखी सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे।

(2) **आचार्य शुक्ल**— घनानन्द का संबंध निम्बार्क सम्प्रदाय से था। उन्होंने अपने मत की पुष्टि में यह पद उद्धृत किया है:

‘गुरनि बतायौ, राधा-मोहन हू गायो सदा,
सुखद सुहायों वृन्दावन गाढे गहि रे।
अद्भुत अभूत मही-मंडल परे ते परे,
जीवन को लाहु हा हा क्यों न ताहि लहि रे॥
आनंद को घन छाया रहत निरन्तर ही,
सरस सुदेस सो, पपीहापन बहि रे।
जमुना के तीर केलि-कोलाहल-भीर ऐसी,
पावन पुलिन पै पतित परि रहि रे॥

(3) **वियोगी हरि**—शुक्ल जी के अनुसार आपने घनानंद को वैष्णव तो माना है किन्तु उनका सम्बन्ध किस सम्प्रदाय से था, यह नहीं बताया।

(4) **श्री शम्भुप्रसाद बहुगुना**—घनानंद का काव्य रसखान, सूर, तुलसी-वैष्णव-धारा के कवियों से उतना मेल नहीं खाता जितना प्रेम रहस्योन्मुखी संतों की विरह-वाणियों से। उन्होंने घनानन्द को सगुण रसवादी वैष्णवों की परम्परा में भी स्वीकार किया है।

(5) श्रीमती ज्ञानवती त्रिवेदी—घनानन्द का झुकाव वल्लभ-सम्प्रदाय की ओर था। अपने मत की पुष्टि में वे यह पद देती हैं—

नोट

श्री वल्लभ-गुण-गान
भोर हैं वल्लभ-वल्लभ कहिये।
'आनन्द परमानन्द श्रीकृष्ण मुख सुमरे अष्ट सिद्ध पाइये।
और सुमिरो की विटठल विटठल की गिरधर गोविन्द द्विजब्रर भूप।
श्री बाल-कृष्ण गोकुल पति रघुपति, यदुपति नवधन श्याम स्वरूप।
पढ़ो सुसार श्रीवल्लभ वचनामृत, जपो अष्टाक्षर मंत्र करि नेम।
अन्य कवन कीर्तन तजि निश दिन सुनो सुबोधिनि धरि जिय प्रेम।
और सेवो सदा नंद यशोमति-सुत प्रेम भक्ति सहित जिय जान।
अन्याश्रय असमर्पित लेनो असद् अलाप असद् संग हानि।
नयननि निरखो श्री कालिन्दी और निरखो सुखद ब्रजधाम।
यह सम्पति श्री वल्लभ से पैये हरिजन नहिं काहू सों काम।

इस पद में उनके अनुसार महाप्रभु वल्लभाचार्य का गुणगान है।

(6) श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—घनानन्द प्रेम-मार्ग के भक्त कवि थे। कृष्ण-भक्ति को घनानन्द ने प्रेम-पंथ से प्रभावित होकर ही स्वीकार किया है। अन्त में उन्होंने भक्त-सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली किन्तु प्रेम-मार्ग नहीं छूटा, वर्तमान रहा।

(7) डा. मनोहर लाल गौड़—घनानन्द के काव्य ने वैष्णव-तत्व को स्वीकृति प्रदान की है और उनके अनुसार घनानन्द 'सखी-सम्प्रदाय' के थे।



क्या आप जानते हैं आचार्य शुक्ल ने घनानंद का संबंध निम्बार्क संप्रदाय से माना है।

इन सभी मतों में व्यक्त विचारधाराओं के वैभिन्न्य का आवरण हटाकर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि घनानन्द के भक्तिकाव्य में अनेक भावों का मिश्रण है। सगुण वैष्णव-भावना, निर्गुण-भावना, मधुर-भक्ति और कुछ अर्थों में सूफी सम्प्रदाय के दर्शन का प्रभाव भी घनानन्द में घुल-मिल गया है।

12.1 घनानंद की भक्ति-भावना

वैष्णव भक्ति

घनानन्द के काव्य में वैष्णवभाव की भक्ति की दस विशेषताओं का समावेश है। वैष्णव-भावना भक्ति को दास्य, सख्य, वात्सल्य और शान्त रूप मानती है। घनानन्द के काव्य में सख्य को छोड़कर सभी का रूप मिलता है, उदाहरणतः—

(1) शान्त

‘अन्तर मेँ बैठे कहा दुखा दैन,
निकसि क्यौँ न आवत अंखियान आगे।
ये दुखादाई मुखा देखान को,
जागि जागि अनुरागे।
इनकी दशा बनेँ रात नित,
देखाई गहै पल जल त्यागे।’

(2) दास्य

‘लै राखीं अपसे पायनि तर,
यह मन भटकि आयो जग,
कृस्न कमल लोचन करुनाकर।’

(3) वात्सल्य

‘जसोमति आरती उतारै उमगि आपनौ ज्यौं वारे,
चित चढ़ी रही ललन की वन ते गोचन लै घर आवनि।
अति आरति सौं बदन निहारे।
लै बलाय आँचर मुख पोंछति प्रेम पुचकारति बरसति प्यारे।’

जहां तक ‘भक्ति की दशाओं’ का सम्बन्ध है घनानन्द की रचना में प्रायः सबका समावेश है। राधाकृष्ण को सम्प्रदायिक अवतार मानकर उन्होंने इनके प्रति अपनी भावना को व्यक्त किया है। ‘बन्धन’ का उदाहरण द्रष्टव्य है—

‘ए री रूप अगाधे राधे, राधे राधे राधे राधे।
तेरे मिलिबे को ब्रज मोहन, बहुत जतन हैं साधे॥
उनके निसिदिन लगी रहै जक तू न धरति पल आधे।
आनन्द घन पिय चातक चौंपनि हा राधे हा राधे॥

इसी प्रकार वृन्दावन की शोभा का वर्णन इस पद में है—

‘जमुना देखे ही दुख भाजै।
इन्द्रनील मनि इन्दीवर दलहू की उपमा लाजै॥
सब सुख रासि रसामृत-सींवा वृन्दावन में राजै।
आनंदघन ब्रजमोन पीव के अंग रंग सब साजै।’

सूरदास के समान ही उन्होंने कृष्ण-राधा की रास-लीला आदि का तथा उनके प्रेम के क्रमिक विकास का और यौवन की विलास-चेष्टाओं का विस्तार से वर्णन किया है। वास्तव में उनकी रचना पर वैष्णव प्रभाव को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।



नोट्स

घनानंद का लौकिक प्रेम ही कृष्ण-भक्ति में परिणत हो गया है।

घनानंद के काव्य में निर्गुण भावना

श्री शम्भुप्रसाद बहुगुना ने घनानन्द को कबीर और नानक की परम्परा में अथवा विद्यापति, चैतन्य और चण्डीदास की परम्परा में स्थान देना चाहा है। घनानन्द के कुछेक पदों में निर्गुण तत्व उभर कर आया है, उदाहरणतः

‘आयु जो वायु तौ घूरि सबै सुख,
जीवन मूरि सम्हारत क्यो नही।
ताहि महागति तोहि कहा गति।
बैठे बनेगा विचारत क्यो नही।
नेमिनी संग फिरै भटक्यो पल।
मूँदि सरूप निहारित क्यो नही।
स्याम-सुजान-कृपा-घनआनंद,
प्राण-पपीहनि पारति क्यो नही॥

कहीं-कहीं घनानन्द की रचना में चिन्तन-पद्धति प्रधान हो उठी है। किन्तु समग्रतः घनानन्द को निर्गुण सन्त नहीं माना जा सकता। उनकी रचना में कृष्ण और राधा का वर्णन केवल नाम-ग्रहण के लिए नहीं है। वह निश्चित वैष्णव-भक्ति के साथ उनके वास्तविक सम्बन्ध का परिचय देता है।

नोट



टास्क घनानंद एवं सूर की गोपियों की भक्ति में अंतर बताइए।

घनानन्द के काव्य में राधा और कृष्ण का काम-शृंगार प्रचुरता से वर्णित है। परमेश्वर के आलम्बन से जब लौकिक स्त्री-पुरुष वाली प्रीति विकसित होकर शृंगार को उपलब्ध होती है तभी मधुरा भक्ति मानी जानी चाहिए। घनानन्द की रचना में मधुरा भक्ति एवं मधुर रस के प्रभूत तत्व हैं। उदाहरणतः यह कथन मधुरा भक्ति के अन्तर्गत लिया जाएगा—

‘मन-पारद कूप लौं रूप चहै,
उमहैं सु रहै नहिं जैतौ गहौं।
गुन-गाडनि जाय परै अकुलाय,
मनोज के ओजनि सूल सहौं।
घन आनन्द चेटक धूम में प्रान,
छुटे न छुटे गति कासौं कहौं।
उर आवत यौ छवि छाँह ज्यों हौं,
ब्रज छैल की गैल सदाई रहौं॥

घनानन्द ने मधुर-रस के प्रायः सभी अंगों का वर्णन किया है तथा राधा कृष्ण की विलास-चेष्टाओं का भी अच्छा चित्रण है। विलास-कीड़ा का यह वर्णन द्रष्टव्य है—

हंसि हंसि करे बातें रंगीले दोऊ मदमाते
× × ×
अति सरस परस ललचाते।
नई तरुनई को ओप भई मुख सुख समोह पुलकाते।
रीझि चौप आनंदघन बरसत मिलत हारि करि हाते।’

इसी प्रकार सुरतांत इत्यादि के अच्छे चित्रण सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। ‘सखी-सम्प्रदाय’ के अन्तर्गत अन्य विधि-विधानों का रूप भी घनानंद में मिल जाता है। वस्तुतः वैष्णव-भाव के बाद घनानन्द की रचना में सर्वप्रमुख स्थान सखी-भाव की भक्ति का है और उन्होंने काव्य के उपयुक्त मधुर रस का रूप देखकर वर्णित किया है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य बताएं—

1. घनानंद भक्तिकालीन कवियित्री मीराबाई के समकालीन थे।
2. घनानंद ने अपने काव्य में इष्टदेव के रूप में भगवान राम का वर्णन किया है।
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने घनानंद को निम्बार्क संप्रदाय में दीक्षित माना है।
4. कुछ साहित्यकार घनानंद को ‘सखी संप्रदाय में दीक्षित मानते हैं।

घनानन्द पर सूफी-प्रभाव

सूफियों की प्रेम की पीर भी घनानन्द में कहीं-कहीं उपलब्ध हो जाती है। घनानन्द की ‘इश्कलता’ जैसी रचनाओं में सूफी-प्रभाव काफी गहरा है। सूफियों ने साधक को प्रेमिका और ईश्वर को प्रिय का रूप दिया था।

नोट

घनानन्द ने यह दार्शनिक विपर्यय तो स्वीकार नहीं किया। हाँ, शैली के क्षेत्र में सूफी प्रेम पद्धति की तड़प, अन्तर की टीस व चोट शब्दों में ढल कर दीप्त हो उठी है।

निष्कर्ष

घनानन्द का काव्य-विकास भक्ति के लिए एक अच्छा क्षेत्र उपस्थित कर पाया है। अतः घनानन्द की रचना में इनके जीवन के भक्तिमय उत्तरपक्ष का भी समावेश हो गया। आचार्यों ने प्रेमतत्त्व को भक्ति के लिए अनिवार्य माना है और उधर जिस सूफी-दर्शन से घनानन्द का अध्ययनगत परिचय था, उसमें भी प्रेम की महानता सर्वोपरि थी। इधर घनानन्द के जीवन की परिस्थितियाँ प्रेम के उदात्तीकरण के नितान्त अनुकूल थीं। इन सब कारणों से वे एक निश्चित जीवन-सीमा पर जाकर उत्कट-प्रेमी और व्याकुल विरही से शुद्ध भक्त हो उठे। उन्होंने प्रण करके किसी भक्ति-मार्ग का अवलम्ब नहीं लिया और साथ ही अपने काल के वृन्दावन के वातावरण को पूर्णतया आत्मसात कर लिया। सुजान उन्हें पहले ही प्रिय थी। सुजान के प्रति अपनी जीवन-संचित प्रेमाराधना को उन्होंने कृष्ण के प्रति समर्पित कर दिया और 'सुजान' विशेषण कृपानिधान कृष्ण के लिये भी प्रयुक्त होने लगा—

सदा कृपानिधान हौ रहा कहीं सुजान हो

अमानियान मान हौ समान काहि दीजिए।

कृष्ण की आराधना के साथ राधा की आराधना अनिवार्य थी। घनानन्द ने इस प्रकार अपनी काव्य-रुचि के अनुकूल कृष्ण और राधा के अलौकिक प्रेम को कविता का विषय बनाया किन्तु रीतिकालीन काव्य का वातावरण शृंगार से अत्यधिक प्रभावित था और साथ ही रीतिकाल से पूर्व कृष्ण-काव्य के महान् कवि सूरदास राधा-कृष्ण की शृंगारमयी भक्ति की परम्परा डाल चुके थे। इसलिए घनानन्द ने भी राधा-कृष्ण के शृंगार का विलासमय चित्रण किया।

इस प्रकार घनानन्द की रचना में भक्ति-भावना की पूर्व-परम्परा और अपने काल के वातावरण का समावेश हो गया। भक्ति के पद एवं अन्य रचना किसी एक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुसार विरचित नहीं। ऐसा लगता है कि कवि ने अपनी रुचि के अनुकूल स्वच्छन्द अभिव्यक्ति की है। सम्भव है कि बाद में उनका सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय से हो गया हो। यदि ऐसा है तो उस सम्प्रदाय विशेष की प्रभाव-छाया में रचित उनके काव्य का स्वर उनकी अन्य भक्तिपरक रचनाओं से भिन्न होना चाहिए। इस विषय में पर्याप्त छान-बीन की आवश्यकता है। वैसे भी भक्त कवि के रूप में घनानन्द का मूल्यांकन बहुत आलोचना-श्रम की तथा अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है।

12.2 सारांश (Summary)

रीतिकालीन अधिकांश साहित्य राजाश्रय में लिखा गया साहित्य है और राजाश्रय में पोषित-पल्लवित साहित्य पर तत्कालीन परिस्थितियों का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है। इस काल में विरचित लक्षण ग्रंथों में नायिका भेद एवं शृंगारिक वर्णन ही महत्वपूर्ण रहे। रीतिमुक्त कवि घनानन्द ने भी प्रिया का सौंदर्य वर्णन किया परन्तु घनानन्द का यह सौंदर्य वर्णन भक्ति की ओर उन्मुख है। राधा-कृष्ण उनके इष्ट हैं, भक्ति का आलंबन है।

12.3 शब्दकोश (Keywords)

1. निर्गुण भक्ति: इस प्रकार की भक्ति में भगवान का कोई रूप नहीं होता। ज्ञान-साधना भगवान प्राप्ति का साधन माने जाते हैं।

2. सगुण भक्ति: इसमें भक्ति का आधार भगवान के रूप को माना जाता है। मनुष्य के रूप में भगवान का अवतार लेना भी सगुण भक्ति के अंतर्गत आता है।

12.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. घनानन्द की भक्ति का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
2. 'घनानन्द का लौकिक प्रेम ही अंततः भक्ति में परिणत हुआ है।' स्पष्ट कीजिए।

उत्तर-स्वमूल्यांकन (Answer-Self Assessment)

नोट

1. असत्य 2. असत्य 3. सत्य 4. सत्य

12.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. महाकवि घनानन्द—राज बुद्धिराजा, तक्षशिला प्रकाशन।
2. रीतिमुक्त कवि घनानन्द—सहगल शशि, अमरसत्य प्रकाशन।
3. घनानन्द का काव्य शिष्य—पाल लखनसिंह, हिन्दी बुक सेन्टर।

नोट

इकाई 13

घनानंद कवित्त की भाषा-शैली**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

13.1 घनानंद कवित्त की भाषा-शैली

13.2 सारांश (Summary)

13.3 शब्दकोश (Keywords)

13.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

13.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- घनानंद कवित्त की भाषा-शैली के स्वरूप को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

भाषा भाव की अभिव्यक्ति का सबसे सीधा साधन है। भाषा के रूप में ही भाव ढलता है। भाषा अमूर्त भाव का मूर्त स्वरूप है। यह सूक्ष्म का स्थूल आवरण है। भाषा का परिधान भाव के लिए अनिवार्य है, अपरिहार्य है कवि भाषा में ही चिन्तन करता है। भाव का अन्तःस्फुरण भी भाषा में ही हुआ करता है।

काव्य और भाषा परस्पर अनेक प्रकार के अर्थ-सम्बन्धों से सम्बद्ध होती है। कविता वाणी का ही विलास है और वाणी शब्दरूप है। शब्द भाषा की स्वर-निर्मित इकाई है। इस प्रकार भाषा काव्य-व्यंजना का, काव्य की अभिव्यक्ति का सहज साधन है। कविता जो कुछ कहना चाहती है सुन्दर भाषा में कहती है। उसे भाषा की साधना करनी पड़ती है। इसलिए कविता की भाषा सामान्य जन-भाषा से भिन्न होती है।

कविता की भाषा में कवि को प्रयोग-हेतु शब्दों का चयन करना पड़ता है, अभिव्यंजक शब्द सँजोने पड़ते हैं और उन शब्दों में यदि अर्थ-व्यंजना का अभाव है तो अर्थ-व्यंजना करनी पड़ती है। शब्द-समृद्धि कई प्रकार की विशेषताओं का समाहार है। अर्थ उनमें से एक है। शब्द की ध्वनि दूसरी ओर शब्द का दूसरे शब्द से सामंजस्य तीसरी। काव्यशास्त्र के अन्तर्गत, गुण, शब्द शक्तियाँ और कई अलंकार भाषा की समृद्धि के लिए ही विधायित है। सफल कवि भाषा की समृद्धि के लिए हर प्रकार की कला का, शब्द के हर प्रकार के सौन्दर्य का प्रयोग करता है।

रीतिमुक्त कवियों की स्थिति रीतिबद्ध से भिन्न रही। उनके भाषा प्रयोग में साहित्यिक सामर्थ्य कृत्रिमता से बची रही, यद्यपि उनकी भाषा साहित्यिक अर्थशीलता की दृष्टि से क्षतिग्रस्त नहीं हुई। घनानन्द ने ब्रज भाषा का प्रयोग किया है और उन्हें ब्रज भाषा के संचित सौन्दर्य का वास्तविक प्रतिनिधि माना जा सकता है। स्वच्छंदता भाषा के क्षेत्र में अत्यन्त तीव्र एवं प्रयास भरी है। घनानन्द और अन्य रीतिमुक्त कवियों ने भाषा के स्वरूप को बहुत सहज किन्तु बहुत व्यंजक बनाया है। ‘ब्रजनाथ’ ने अपनी प्रशस्ति में घनानन्द को ‘ब्रजभाषा प्रवीन’ और ‘भाषा प्रवीन सुष्ठु सदा रहे’ कहा है।

13.1 घनानंद कवित्त की भाषा-शैली

नोट

घनानन्द के भाषा प्रयोग को देखते हुए ‘प्रवीन’ विशेषण सर्वथा उपयुक्त है। इनके भाषा प्रयोग की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) शब्द-समूह

घनानन्द की रचना में शब्दों का सर्वाधिक परिणाम तद्भव है। तत्सम शब्दों का ग्रहण भक्तिकाल में पर्याप्त हो चुका था। रीतिकाल में भी काव्य शास्त्रीय आचार्यों ने तत्सम शब्दों का बहुलता से प्रयोग किया है। किन्तु तत्सम शब्द हिन्दी की बोली-विशेष ब्रजभाषा के अधिक उपयुक्त नहीं हैं, यह निश्चित ही कहा जा सकता है, क्योंकि ब्रजभाषा ने अपने ध्वनि-नियमों के अनुरूप तत्सम शब्दों को तद्भव-रूपों में ढाल लिया है। फिर उसका ‘देशज’ शब्द-भण्डार भी काफी समृद्ध है। तत्सम शब्दों के नाम पर घनानन्द ने योग मीन, कंज, खंजन, विधा इत्यादि शब्दों का अथवा समीप, मिलन, प्राण, रस, कृपा जैसे भिन्न कोटि के शब्दों का प्रयोग किया है। ये शब्द हजारों वर्षों से इसी प्रकार प्रयुक्त होते आए हैं। इनका रूप तद्भव नहीं हो पाता। तत्सम शब्दों के कुछ अत्यन्त सुन्दर तद्भव रूप इस प्रकार हैं—अथिर=अस्थिर, नितकाम=निष्काम, सुतंत्र=स्वतंत्र, अकह=अकथ, वेदनि=वेदना, विधा=व्यथा आदि। तीसरा समूह ‘ग्रामीण’ अथवा ‘जनपदीय’ शब्दावली का है। जनपदीय शब्दों में से काव्य अभिव्यंजना का सामर्थ्य निकाल लेना किसी समर्थ कवि का ही काम है। घनानन्द से अनेक अर्थ-द्योतक जनपदीय शब्दों का प्रयोग किया है। जैसे— बरहे (जंगल), संजोखे (संध्या का अंतिम भाग), लथेर (लपेटकर कर), पैछर (पैर की आवाज) और बेड़ी (बन्धन) इत्यादि।



क्या आप जानते हैं तत्सम शब्द हिन्दी की बोली-विशेष ब्रज भाषा के अधिक उपयुक्त नहीं हैं।

(2) शब्द-निर्माण

समर्थ कवि भाव के अनुसार शब्दों का निर्माण कर लेते हैं। भाषा की क्षमता फिर भी सीमित है और कवि को भाव की अभिव्यक्ति के लिए कई प्रकार के साधनों से काम लेना पड़ता है। भाषा को भाव की अभिव्यक्ति में सर्वथा सक्षम करने के लिए कवि शब्द-निर्माण का दायित्व अपने ऊपर लेता है, इसीलिए वह वैयाकरणों का कोप-भाजन है। किन्तु निर्माण-प्रतिभा कभी नियम-अवरुद्ध नहीं होती। घनानंद ने शब्द-निर्माण एक ओर भाव समृद्धि के लिए किया है, दूसरी ओर भाषा को एक सर्वथा नया व्यक्तिगत स्पर्श देने के लिए। ऐसे स्थलों पर जहाँ ध्वन्यर्थ-व्यंजना का प्रयोग है, कवि ने कई शब्द अपनी ओर से दिये हैं। ‘रसमसे’, ‘हहरि’, ‘गुरझनि’, इत्यादि शब्द ऐसे ही हैं। ‘भकमूर’, ‘भूतागति’, ‘दिनदानि’, ‘अलिवोकिबे’, सर्वथा नए शब्द हैं। ‘उजरिन’ ‘अनआईबे’ इत्यादि शब्द कवि की क्षमता के व्यंजक हैं। कहीं-कहीं उसको शब्दों के व्याकरणिक रूप में भी परिवर्तन करना पड़ा है। अपनी ओर से आरम्भ में अथवा अन्त में उपसर्ग-प्रत्यय जोड़ने पड़े हैं। शब्द रूप-परिवर्तन के कुछ उदाहरण हैं— अधिक से अधिकाति, सामुहे से समुहाति, लज्जा से लजाति इत्यादि। क्रियाओं में कहीं-कहीं नई संज्ञाओं का अनूठा निर्माण है, जैसे— देखता से दिखास और चितैना से चिताए।

व्याकरणिक दृष्टि से भी कवि ने कई स्थलों पर अपनी ओर से ‘निपातों’ का प्रयोग किया है जैसे—

ढरिबो से ढरिबोई

अरिबो से अरिबोई

बहिबो से बहिबोई आदि

कहीं शब्द के साथ अपनी ओर से प्रत्यक्ष का बहुत सुन्दर प्रयोग है, जैसे—

आरति से आरतिवन्त



नोट्स

कवि द्वारा शब्द-परिवर्तनों के कारण भाषा विकृत नहीं हुई बल्कि उसकी अर्थ-क्षमता और बढ़ गई है। परिवर्तन सदा नयेपन की सूचना देता है। भाषा जैसे परम्परागत व्यापार में नयापन बहुत शुभ है।

(3) लाक्षणिकता

लक्षणा भाषा की वह शक्ति है जो उसे विशेष अर्थ से, सांकेतिक सौंदर्य से भरती है। शब्द की अभिधा-शक्ति जहाँ हार जाती है वहाँ लक्षणा की सांकेतिकता काम आती है। हमारी साधारण भाषा में भी लक्षणा का व्यापक प्रयोग मिलता है और कविता तो निर्विवाद ही लक्षणा पर आधृत रहती है। काव्यशास्त्रियों ने लक्षणा के अनेक भेद किये हैं। संक्षेप शब्द के अर्थ-सम्मत प्रयोग विशेषकर लक्षणा के अन्तर्गत लिया जा सकता है। इस प्रकार सामान्य उक्ति का चमत्कार भी लक्षणा ही है और विशिष्ट अर्थ-भरे सांकेतिक शब्दों का प्रयोग भी लाक्षणिक सौंदर्य है। घनानन्द में लक्षणा सम्पूर्ण पंक्ति के अर्थ से भी व्यंजित है और शब्दों की खण्ड स्थिति से भी। उदाहरणतया—

(क) भोगति बूझि परै तब ही जब,
होहू घरीक हू आप ते न्यारे।

(ख) 'जानि देइ दिन राति बखानें तैं,
जाय परै दिन-रात कौ अन्तर।'

(ग) 'औसर संभारों न तो अन आइबे के संग,
दूरि देख जाइबे को प्यारी नियराति हैं।'

इन पंक्तियों में अर्थ का चमत्कार लक्षण-सिद्ध है। दूसरी ओर कुछ विशिष्ट शब्द-प्रयोग हैं जिनके साथ क्रियाओं का सम्बन्ध लाक्षणिकता को जन्म देता है। जैसे—

‘झूठ की सचाई छाक्यो’ त्यों,
हित की कचाई पाक्यो।’

+ +
अलबेली सुजान के कौतुक पै,
इत रीझि इकौसी है लाज थकै।

+ +
डीठि हि तू तिन तोरति है।

+ +
अंग अंग श्याम रस रंग की तरंग उठै।

+ +
अरसानि गही वह बानि कछु।

+ +
वेदन की बढ़वारि कहां लों दुराइए।

इन प्रयोगों में अन्तर्दशाएँ नितान्त लाक्षणिक, सतर्कता से व्यंजित हैं। ‘लाजनि लपेटी’ अथवा ‘नयननि बोरति’ जैसे प्रयोग भी भाव को एक निश्चित अर्थ-व्यंजकता प्रदान करते हैं।



टास्क

कुछ शब्दों के उदाहरण दीजिए जिन्हें घनानंद ने तत्सम के स्थान पर उनके तद्भव रूपों का प्रयोग किया है।

(4) शब्द-मैत्री

नोट

घनानन्द की भाषा की एक अन्य विशेषता शब्दों का यथास्थान संगत प्रयोग है। रीतिकाल के कवि शब्द के संगत प्रयोग के विषय में बड़े सतर्क थे। अनुप्रास शब्द-संगत-यथामैत्री का सर्वप्रमुख साधन है, किन्तु अनुप्रास के साथ ही अनुकूल ध्वनि भी शब्दों के स्थान का निर्धारण करती है। घनानन्द ने अधिकतर तोल में, सम एवं ध्वनि में अनुरूप शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरणतया—

‘अंगराति जम्हाति लजाति लखै

अंग-अंग अनंग दिपै झाल कै।’

इस पंक्ति में पहले तीनों शब्द जैसे एक साथ उड़ा बढ़ा रहे हैं और ‘अंग-अंग अनंग’ एक वचन के हैं। अनुप्रास-सम्मत एक अन्य प्रयोग द्रष्टव्य है—

सोए है अगनि अंग समोए सुभोए,

अनंग के अंग निस्यौं करि।

केलि कला रस आरस आसव,

पान छकै घनआनन्द यौं करि।

पै मन्सा सधि रागत पागत,

लागत अंकनि जागत ज्यौं करि।

ऐसे सुजान विलास विधान हौ,

सोएँ जगै कहि त्यौरियै क्यों करि।’

इसी प्रकार स्वर के बार-बार प्रयोग के द्वारा स्वर-संगीत की सृष्टि इस पंक्ति में द्रष्टव्य है—

‘अन्तर आंच उसास तचै अति,

अंग उसीजै उदेग की आवस।’

शब्द-मैत्री के कारण घनानन्द की भाषा में भाव की अभिव्यक्ति बहुत मार्मिक हो उठी है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—

1. भाषा अमूर्त भाव का है।
2. तत्सम शब्द हिंदी की बोली-विशेष के अधिक उपयुक्त नहीं है।
3. ब्रजनाथ ने अपनी प्रशस्ति में घनानंद को कहा है।
4. ब्रजभाषा ने अपने ध्वनित नियमों के अनुरूप को तद्भव रूपों में ढाल लिया है।

(5) मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ

मुहावरे भाषा की लक्षण-शक्ति का रूढ़-रूप हैं। मुहावरों के चिरप्रयोग के कारण अभिधार्थ निःशेष हो जाता है और केवल लक्षणा बच जाती है।

किसी भी जीवित भाषा के लिए मुहावरे अनिवार्य हैं। वे भाषा को चटपटा बनाते हैं। वे उसमें चमत्कार भरते हैं। समर्थ कवि मुहावरों का प्रयोग अपनी भावाभिव्यंजना के साधन रूप में करते हैं। रीतिकाल की सामान्य कविता में मुहावरों का प्रयोग कम हुआ क्योंकि अधिकतर कवि साहित्यिक भाषा का ही व्यवहार करते रहे। किन्तु रीतिमुक्त कवियों का सम्पर्क जनभाषा से था तथा साथ ही वे भाषा की अर्थ-क्षमता को पहचानने में समर्थ थे। रीतिमुक्त कवियों में ठाकुर के मुहावरे और लोकोक्तियाँ सर्वाधिक सफल हैं। घनानन्द ने भी मुहावरों का सुन्दर प्रयोग किया है। आलोचकों का कहना है कि रीतिमुक्त कवियों में सामान्यतया और घनानन्द में विशेषतया मुहावरों का प्रयोग उर्दू तथा फारसी के प्रभावस्वरूप है। घनानन्द द्वारा प्रयुक्त कुछ मुहावरों का रूप देखिये—

(क) हाथ रहना—

‘सु कहा लगि धीरज हाथ रहै।’

नोट

(ख) हाथ पड़ना—

‘प्राण लै साथ पड़ी पर हाथ’।

(ग) मुंह लगाना—

‘ओछी बड़ी इतरानी लगौ मुँह
नैको अघाती न आहि निपेटी।’

(घ) भाग जगना—

‘भाग जागें जो कहूँ दिलौ कै घन आनन्द तौ।’

कहीं-कहीं लोकोक्तियों का प्रयोग भी है, जैसे—

‘रस प्याय कै प्यास बढ़ाय कै आस,
बिसास मैं यों विष घोरियौ जू।’

संक्षेप में घनानन्द ने मुहावरों का यथा सुन्दर प्रयोग किया है।

निष्कर्ष

संपूर्ण विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि घनानन्द बड़े सजग कलाकार थे किन्तु उनकी सजगता रीतिबद्ध कवियों की कलाप्रियता से भिन्न है। कलापक्ष के प्रति अतिशय मोह का प्रदर्शन घनानन्द में नहीं मिलता। विरोधाभास जैसे चमत्कारसिद्ध अलंकार को भी उन्होंने सहज भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। कलापक्ष घनानन्द की रचना में साधन ही है, साध्य नहीं। घनानन्द का प्रमुख लक्ष्य भाव भी अभिव्यक्ति है। उन्होंने अभिव्यक्ति के सारे साधनों का प्रयोग किया है, किन्तु उसके प्रति अनावश्यक लगाव नहीं दिखाया। भाव और कला का अनुपातिक मिश्रण घनानन्द की रचना में विद्यमान है। रीतिकवि की अपेक्षा यह उनके काव्य-दृष्टिकोण की भिन्नता का परिचायक है। घनानन्द काव्य को अन्तःप्रकाशन का साधन मानते थे, कविता ने बरबस उन्हें अपने में ढाल लिया है। उनकी कविता भावाभिव्यक्ति का सहज, स्वाभाविक रूप है, इसीलिए वह कलापक्ष की अतिरिक्त कृत्रिमताओं से मुक्त है यद्यपि उसमें कला पक्ष के सौन्दर्य का कहीं भी अभाव नहीं। ‘घनानन्द कवित्त’ की अभिव्यक्ति घनानन्द के भाव-भण्डार को सहेज लेने में पूर्णतया समर्थ है और उनकी भाव निधि शब्दों में, छन्दों में छलछला पड़ी है।

13.2 सारांश (Summary)

भाषा भाव की अभिव्यक्ति का सबसे सीधा साधन है। भाषा के रूप में ही भाव ढलता है। भाषा अमूर्त भाव का मूर्त स्वरूप है। काव्य और भाषा परस्पर अनेक प्रकार के अर्थ-सम्बन्धों से सम्बद्ध होती है। कविता वाणी का ही विलास है और वाणी शब्दरूप है। शब्द भाषा की स्वर-निर्मित इकाई है। इस प्रकार भाषा काव्य-व्यंजना का, काव्य की अभिव्यक्ति का सहज साधन है। घनानन्द ने ब्रज भाषा का प्रयोग किया है और उन्हें ब्रज भाषा के संचित सौन्दर्य का वास्तविक प्रतिनिधि माना जा सकता है। स्वच्छंदता भाषा के क्षेत्र में अत्यन्त तीव्र एवं प्रयास भरी है। घनानन्द और अन्य रीतिमुक्त कवियों ने भाषा के स्वरूप को बहुत सहज किन्तु व्यंजक बनाया है। भाषा की क्षमता फिर भी सीमित है और कवि को भाव की अभिव्यक्ति के लिए कई प्रकार के साधनों से काम लेना पड़ता है। भाषा को भाव की अभिव्यक्ति में सर्वथा सक्षम करने के लिए कवि शब्द-निर्माण का दायित्व अपने ऊपर लेता है, इसीलिए वह व्याकरणों का कोप-भाजन है। किन्तु निर्माण-प्रतिभा कभी नियम-अवरुद्ध नहीं होती। घनानन्द ने शब्द-निर्माण एक ओर भाव समृद्धि के लिए किया है, दूसरी ओर भाषा को एक सर्वथा नया व्यक्तिगत स्पर्श देने के लिए।

13.3 शब्दकोश (Keywords)

1. लोकोक्तियाँ: समाज में प्रचलित कहावतें।
2. अपहनुति: छिपाव, अलंकार जिसमें उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना की जाए।

13.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

नोट

1. घनानंद की काव्य-भाषा पर प्रकाश डालिए।
2. घनानंद के काव्य में भाषा के नूतन प्रयोगों पर विचार कीजिए।

उत्तर-स्वमूल्यांकन (Answer-Self Assessment)

1. मूर्तरूप
2. ब्रजभाषा
3. 'ब्रजभाषा प्रवीण'
4. तत्सम शब्द।

13.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



- पुस्तकें
1. महाकवि घनानन्द—राज बुद्धिराजा, तक्षशिला प्रकाशन।
 2. रीतिमुक्त कवि घनानन्द—सहगल शशि, अमरसत्य प्रकाशन।
 3. घनानन्द का काव्य शिव्य—पाल लखनसिंह, हिन्दी बुक सेन्टर।

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY

Jalandhar-Delhi G.T. Road (NH-1)
Phagwara, Punjab (India)-144411
For Enquiry: +91-1824-300360
Fax.: +91-1824-506111
Email: odl@lpu.co.in